प्रगतिशील हिन्दी कविता में लोक–जीवन

(पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध–प्रबंध)

शोध–निर्देशक
डॉ. गोबिन्द प्रसाद

शोधार्थी
फ़रमान अली

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067
2007

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, INDIA

Dated: 5/9/ 2007

DECLARATION

I declare, that the work done in this thesis entitled - **"PRAGATISHEEL HINDI KAVITA MEIN LOK-JEEVAN"** by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University / Institution.

FARMAN ALI
(Research Scholar)

5/9/07

DR. GOBIND PRASAD
(Supervisor)
Centre of Indian Languages,
School of Language, Literature and
Cultural Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

PROF. VIR BHARAT TALWAR
(Chairperson)
Centre of Indian Languages.
School of Language, Literature and
Cultural Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

GRAM: JAYENU, TEL.: (91-011) 26107676, 26167557 Extn.: 2217, Fax: (91-011) 26165886, 26106025

समर्पण

स्वर्गीय दादा जी

एवं

दादी जी के लिए

स्वीकार

ज्ञान और संवेदना की साक्षात् मूर्ति गुरुवर डा. गोबिन्द प्रसाद के संपर्क में आने के बाद ही मुझ जैसे रूखे हृदय का छात्र कविता जैसे संवेदनशील विधा पर शोध कार्य पूरा कर सका। विषय चुनने से लेकर शोध कार्य पूरा होने तक कविवर गुरु का ही प्रभाव था, कभी गुरु के रूप में तो कभी अभिभावक के रूप में! ऐसे गुरु के लिए मैं शब्दहीन हूँ।

समय–समय पर प्रो. नामवर सिंह, प्रो. केदारनाथ सिंह, प्रो. मैनेजर पाण्डेय, प्रो. असगर वजाहत, प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल, प्रो. वीर भारत तलवार, डॉ. ओ.पी. सिंह को सुनना मेरी जिज्ञासा और चेतना को बढ़ाता ही रहा, ऐसे गुरुओं के प्रति मैं आजीवन ऋणी रहूँगा।

शोध कार्य के लिए जे.एन.यू.' पुस्तकालय, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली विश्वविद्यालय, साहित्य अकादमी व दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी आदि उन सभी पुस्तकालयों के अधिकारियों के प्रति आभारी हूँ जिन्होंने मेरे शोध कार्य में किंचित् भी सहायता की है।

अपने सीनियर ज्ञानेंद्र कुमार संतोष व धीरेन्द्र बहादुर सिंह का अतुलनीय योगदान रहा एवं दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं और अभिन्न मित्र योगेश कुमार, निहाल अहमद, अर्जुन सिंह, विक्रम सिंह पूरे शोध कार्य के दौरान साथ रहे इनको धन्यवाद देकर मित्रता को कम करना होगा साथ में अपने मित्र डा. अशोक कुमार का हमेशा आभारी रहूँगा।

पिताजी और माँ के बारे में लिखा नहीं जा सकता क्योंकि उनके होने से ही शोध संभव हुआ और बड़े भाई एवं भाभी को भुलाया नहीं जा सकता जिन्होंने विपरीत परिस्थितियों में भी मेरा साथ दिया।

अपनी पत्नी के बारे में लिखना उनके महत्व को कम करना होगा क्योंकि दुःख–सुख में वह हमेशा साथ ही रही है।

फ़रमान अली

अनुक्रमणिका

भूमिका i-vi

पहला अध्याय : 1—49
हिंदी कविता और लोक—जीवन

(क) लोक का अर्थ एवं स्वरूप
(ख) कविता और लोक—जीवन का अंतःसंबंध
(ग) हिंदी कविता में लोक—जीवन की परंपरा

दूसरा अध्याय : 50—78
प्रगतिशील कवियों की काव्यदृष्टि और लोक—जीवन की परंपरा

(क) प्रगतिशीलता और लोक—जीवन
(ख) काव्य संवेदना की प्रकृति और लोक—जीवन
(ग) आधुनिकता बनाम लोक—जीवन
(घ) सौंदर्य अभिरूचि और लोक

तीसरा अध्याय : 79—171
प्रगतिशील कविता में लोक—जीवन की अभिव्यक्ति

(क) रागात्मक संबंध और लोक—जीवन
(ख) शहरी जीवन बनाम लोक—जीवन : संदर्भ मध्यवर्गीय समाज
(ग) बदलता ग्रामीण समाज और लोक—जीवन की अभिव्यक्ति
(घ) आधुनिक युग का यथार्थ और लोक—जीवन
(ड.) काव्य संवेदना के बदलते धरातल और लोक—जीवन की अभिव्यक्ति

चौथा अध्याय : 172—207
प्रगतिशील कविता और प्रकृति सौंदर्य

(क) प्रगतिशील कविता में प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण
(ख) प्रगतिशीलता और प्रकृति—रूपों का संबंध
(ग) प्रगतिशीलता तथा प्रकृति बनाम टैक्नालॉजी
(घ) प्रगतिशील कविता में प्रकृति के विविध धरातल

पाँचवा अध्याय : 208—268
प्रगतिशील कविता का भाषा—शिल्प और लोक—जीवन

(क) काव्य—रूप और लोक
(ख) बिम्ब और प्रतीक सृष्टि में लोक—जीवन का आग्रह
(ग) काव्य—भाषा और लोक—जीवन
(घ) लय और छंदों में लोक—धुनों का आग्रह

उपसंहार 269—272

आधार ग्रंथ 273—274

संदर्भ ग्रंथ 275—286

पत्र—पत्रिकाएं 287

भूमिका

शोध का मुख्य उद्देश्य प्रगतिशील हिन्दी कविता में चित्रित लोक जीवन की परीक्षा करना है। अंतर्वस्तु और रूप विधान दोनों दृष्टियों से प्रगतिशील हिन्दी कविता और लोक जीवन का गहरा संबंध है। लोक जीवन के चित्रण के लिए प्रगतिशील काव्य को इसीलिए चुना गया है कि इस आंदोलन का उद्देश्य साहित्य को जनता के निकटतम संसर्ग में लाना रहा है। प्रगतिशील साहित्यकार चाहते हैं कि लेखक जनता की सेवा के लिए संगठित हों, अपनी रचनाओं द्वारा सुखी और समृद्ध जीवन की प्राप्ति में सहायक बनें। 'प्रगतिशील लेखक संघ' के 'प्रधानमंत्री' तथा संस्थापकों में प्रमुख सैयद सज्जाद जहीर ने संघ के उद्‌देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा था कि "प्रगतिशील बुद्धिजीवी, मजदूरों, किसानों, दरिद्र और पीड़ित जनता से मिलें, उनके राजनैतिक और सामाजिक जीवन का अंग बनें। उनके जलसे और जलूसों में आयें और उन्हें अपने जुलूसों और कान्फ्रेंसों में बुलायें।" अर्थात् साहित्यिक रचना के साथ–साथ जन–जीवन के साथ अधिक से अधिक संपर्क स्थापित करना प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन का लक्ष्य रहा है।

सन् 30 के बाद छायावाद का रचनात्मक विकास अपने चरमोत्कर्ष के बाद रूक–सा गया था। कविता में कल्पना के स्थान पर यथार्थ और वैयक्तिकता के स्थान पर सामाजिकता का आग्रह बढ़ने लगा था। स्पष्टतः प्रगतिवाद का आरंभ साहित्य में आर्थिक और राजनीतिक आंदोलन के रूप में हुआ, ये साहित्यकार देश की आजादी के साथ–साथ किसानों और मजदूरों के अधिकारों और सुख–सुविधाओं के लिये भी चिंतित थे। वस्तुतः छायावाद जहां सांस्कृतिक नवजागरण की अभिव्यक्ति था वहीं प्रगतिवाद राजनीतिक एवं आर्थिक जागरण की उपज था।

प्रगतिवाद के शुरूआत में ही यह सवाल महत्वपूर्ण ढंग से उभरा कि साहित्य किसके लिए लिखा जाना चाहिए, पूर्व के स्वांतः सुखाय के आदर्श को छोड़कर प्रगतिवाद ने साहित्य को न केवल समाज का दर्पण माना बल्कि उसे आलोचना और परिवर्तन का माध्यम भी स्वीकार किया। इसी कारण प्रगतिवाद ने साहित्य को कुलीनता के संकुचित दायरे से निकालने का प्रयास किया और सचेत रूप से निम्न–वर्ग की जनता यथा किसान, मजदूरों के जीवन को साहित्य से जोड़ने का नया प्रयास किया। इस नवीन दृष्टि से परिचालित साहित्य में पहली बार किसानों और मजदूरों को केंद्रीय स्थान मिला। पूर्व में भी इनका यदा–कदा चित्रण दिखाई देता है पर अब यह वर्ग प्रगतिवादी साहित्य के केंद्र में आ गया। इसके साथ ही शहरी निम्न मध्यवर्ग की भी नवीन समस्याओं का यथार्थपरक गैर रोमानी चित्रण प्रगतिवाद में हुआ है। संक्षेप में कहें तो साहित्य में पहली बार निम्न और शोषितों के प्रति इतनी सक्रिय सहानुभूति का प्रवेश दिखाई देता है। प्रगतिवाद में न केवल निम्न श्रेणी की जनता का चित्रण हुआ, बल्कि इस वर्ग से भी नवीन विचारों और भावों वाले कवि और लेखक रचना के क्षेत्र में उभरकर आये। वस्तुतः प्रगतिवाद साहित्य का एक जनवादी आंदोलन रहा है।

नये सामाजिक–राजनैतिक और आर्थिक दृष्टिकोण से परिचालित नवीन सौंदर्य–दृष्टि ने प्रकृति के प्रति एक यथार्थवादी रूख अपनाया। छायावाद की कल्पना–प्रकृति अब आकाश से उतरकर गाँव में पहुँची दिखाई देती है। इस तरह न केवल सौंदर्य की दृष्टि बदली, बल्कि दृष्टि बिन्दु या बिम्ब भी बदलता हुआ दिखाई देता है। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, आदि कवियों में गाँव की प्रकृति का यह नया रूप देखा जा सकता है। गाँव के यथार्थ जीवन से जुड़ते ही प्रगतिशील कवि अपनी वैयक्तिकता से ऊपर उठकर ग्रामीण जीवन का अंग बन जाता है और उसे दर्शक की भांति न देखकर भोक्ता की तरह स्वानुभूतिपूर्ण ढंग से चित्रित करता है। इस नवीन चित्रण से कविता में अहीर की निरक्षर लड़की

चम्पा, मोरई केवट, प्राइमरी स्कूल के मास्टर दुखरन झा, चना चबेना खानेवाला चन्दू आदि जैसे चरित्र दिखाई देते हैं।

सामाजिक जीवन के बाह्य चित्रण के साथ–साथ प्रगतिशील कविता में प्रेम–संबंधी मनोभावों का भी चित्रण हुआ है, परंतु यहां भी हमें एक स्वस्थ सामाजिक–पारिवारिक प्रेम का रूप दिखाई देता है जो अपनी व्यापकता में आम जीवन के यथार्थ प्रश्नों को समेटता है। मतलब यह है कि इनका प्रेम संबंध लोकतांत्रिक न होकर सामाजिक भावना को साथ लेकर चलने वाला है।

प्रगतिशील साहित्य में जनपद का चित्रण भी लोक–जीवन के संदर्भ में ही हुआ है। लोक चेतना के कारण ही प्रगतिशील कविता में बहुत ज्यादा कलाकारी और चमत्कार नहीं है। इसके विपरीत यह आम आदमी की समझ के लिए लिखी गयी है। लोक–संपृक्ति के कारण ही नागार्जुन और निराला में व्यंग्य की साहित्यिक रचनाशीलता दिखाई देती है। इसके साथ ही इन कवियों ने लोक गीतों की अनेक नई धुनों को कविता में पुनर्जीवित किया है।

वस्तुतः अधिकांश प्रगतिशील साहित्यकारों ने पीड़ित, दलित और सताये हुए लोगों का सक्रिय और सचेत पक्ष लिया है और इसी चेतना की अभिव्यक्ति इनके साहित्य में हुई है।

जब समाज में स्वार्थों का संघर्ष हो और उत्पादन तथा वितरण में अन्यायपूर्ण विभाजन हो तब मानवता का पक्ष तटस्थता में नहीं हो सकता। प्रगतिशील साहित्य जनता के पक्ष में एक उद्घोषणा है, अतः इस उद्घोषणा की जाँच पड़ताल जरूरी है।

अपनी मूल संवेदना में हिंदी साहित्य कभी भी सामान्य मानवता का विरोधी नहीं रहा। आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक हम उन अमर कवियों को जानते हैं जो जनता की जुबान पर आज भी जीवित हैं, जैसे – सरहपा, मेरूतुंग,

नरपतिनाल्ह, चन्दबरदाई, कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, मीराबाई आदि। भक्तिकाल के कवियों ने जनता के सामाजिक, सांस्कृतिक उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इससे बड़ा सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति का युग आज तक हिंदी साहित्य में देखने को नहीं मिलता। आधुनिक हिन्दी कविता में लोक–जीवन की शुरुआत भारतेन्दु युग से मानी जाती है जबकि भारतेंदु ने अपनी भाषा, परंपरा से जुड़कर अस्मिता की बात की थी।

इस व्यापक लोक जीवन की अभिव्यक्ति द्विवेदीयुगीन साहित्य और स्वच्छंदतावादी कवियों की रचनाओं में मिलती है।

रामनरेश त्रिपाठी, श्रीधर पाठक की ग्रामीण चेतना अपनी कविताओं में अभिव्यक्त हुई है। ध्यान रखने की बात यह है कि पूर्व स्वच्छंदतावादी कवियों का प्रकृति चित्रण छायावादी कवियों के प्रकृति चित्रण से इस स्तर पर विशिष्ट था कि उसमें प्रकृति की कल्पना जीवन से जोड़कर की गई थी।

प्रगतिशील कवियों ने इस परंपरा को वैचारिक और सैद्धांतिक आधार देते हुए कविता का ढाँचा ही बदल दिया, प्रगतिशील कवियों ने अपनी कविता में उस लोक जीवन का चित्रण किया जो जनता आर्थिक रूप से पिछड़ी थी। दूसरे शब्दों में कहें तो अपने सामान्य अधिकारों से वंचित वर्ग की आवाज प्रगतिशील कविता में ध्वनित हुई है।

जब हम मानव–मूल्यों की बात करते हैं तो सामान्य लोक की चिंता जरूरी हो जाती है, क्योंकि लोक मानवता का निम्नतम श्रेणी है जो अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति से भी वंचित है। इन्हीं सब प्रश्नों को लेकर सामान्य लोक–जीवन की प्रासंगिकता का प्रश्न आज भी हमारे सामने है। हिंदी की प्रगतिशील कविता इन्ही प्रश्नों की यथार्थ अभिव्यक्ति है।

बावजूद इसके प्रगतिशील हिंदी कविता जनता के बीच बहुत अधिक लोकप्रिय नहीं हुई है। जनता की भाषा में जनता की पक्षधरता के बावजूद इस कविता का पाठ्यपुस्तकों और हड़ताली नारों तक सिमट कर रह जाना कई सवालों को जन्म देता है। प्रगतिशील कविता की इस सीमा और प्रासंगिकता की विवेचना आवश्यक है। साथ ही लोक जीवन की चिंता भी अनिवार्य है। इस शोध में इन महत्वपूर्ण पहलुओं पर विचार किया जाएगा। जो आवश्यक और प्रासंगिक है।

बदलते दौर में जब लोक–जीवन के प्रति उपेक्षित भाव रखा जा रहा हो तब फिर से 'लोक' के अर्थ के स्वरूप को समझना जरूरी हो जाता है। यह जानना जरूरी है कि 'लोक' का हिंदी कविता से क्या रिश्ता है। यहां का 'लोक' का अर्थ सामान्य जनता से जोड़कर देखा जाएगा। प्रथम अध्याय में यहीं सब बातें की जायेंगी।

दूसरा अध्याय प्रगतिशील कवियों की काव्य–दृष्टि और लोक–जीवन के स्वरूप पर केंद्रित है। इसमें प्रगतिशील कविता और लोक जीवन के अंतःसंबंध पर चर्चा हुई है। क्योंकि प्रगतिशील कवियों की संवेदना लोक जीवन से व्यापक रूप से जुड़ी हुई है। आधुनिक युग में मनुष्य की जीवन शैली में बदलाव आ रहा है और जीवन भी उससे प्रभावित हो रहा है। इन कवियों ने लोक को अपनी कविता में जगह दी है। अतः इन कवियों की नवीन सौंदर्य अभिरूचि को देखना जरूरी हो जाता है।

तीसरा अध्याय प्रगतिशील कविता पर केंद्रित है, जिस सामान्य लोक की बात हो रही है – उस सामान्य लोक जीवन का यथार्थ चित्रण प्रगतिशील कविता में ही मिलता है। इन कवियों का लोक के साथ पूर्णतः रागात्मक संबंध रहा है। यह कविता बदलते समय में भी लोक के प्रति अटूट संबंधों का निर्वाह करती है। साथ ही साथ शहरी मध्य–वर्ग के लोक पर चर्चा की गई है, क्योंकि मध्य–वर्ग

एक द्वंद्व की स्थिति में फँसा हुआ है। मध्यवर्ग की बात किये बिना बात अधूरी रह जाती है। साथ में भूमंडलीकरण के प्रभाव से बदलते ग्रामीण सामाज व लोक–जीवन के स्वरूप पर इस अध्याय में बात की जायेगी।

चौथा अध्याय प्रगतिशील कविता और प्राकृतिक सौंदर्य से संबंधित है। अनेक रूपों के साथ प्रकृति आदिम अवस्था से ही मानव के साथ है। प्रकृति में जीवन से संबंधित अनेक रहस्य उलझे हुए हैं, अर्थात यूँ कहा जाए कि मानव जीवन प्रकृति के बिना अधूरा है। इसलिए प्रकृति और कविता, प्रकृति बनाम टेक्नॉलोजी और साथ में प्रकृति के विभिन्न स्तरों पर इस अध्याय में शोध किया जायेगा।

कविता भाषा में ही अभिव्यक्त होती है। 'लोक' की बात लोक–भाषा में कही जाये तो अच्छा होता है। जन–साधारण की बात जन–साधारण की भाषा में होनी चाहिए, प्रगतिशील कवियों ने इसका पालन अपनी कविता में किया है। यह अंतिम अध्याय प्रगतिशील कविता की भाषा, शिल्प और लोक से संबंधित है।

पहला अध्याय

हिंदी कविता और लोक–जीवन

1.1 लोक का अर्थ एवं स्वरूप

1.2 कविता और लोक–जीवन का अंतःसंबंध

1.3 हिंदी कविता में लोक–जीवन की परंपरा

हिंदी कविता में लोक–जीवन की प्राचीन परंपरा रही है जबकि साहित्य के केंद्र में मनुष्य है, मनुष्य उसका सृष्टिकर्ता है, तब तो यह जानना जरूरी हो जाता है कि सृष्टिकर्ता द्वारा मानव की क्या तस्वीर खींची गई। चूँकि मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है, इसलिए लोक के भीतर कविता के साथ–साथ किसी भी कला का सृजन एवं विकास संभव है। "सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहचान हो जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के साथ मनुष्य जाति के हृदय को देख सके।"[1]

औद्योगिक विकास के साथ–साथ यह प्रश्न बार–बार उठा कि आज सांस्कृतिक जीवन और कविता जारी रहने की क्या प्रासंगिकता है, कविता ने औद्योगिकरण में अपनी प्रासंगिकता सिद्ध की जिन जटिल स्थितियों और प्रश्नों के उत्तर औद्योगिक समाज के पास नहीं है, वह सभी उत्तर कविता में खोजे जा सकते हैं। चूँकि कविता सांस्कृतिक संपन्नता का रागात्मक मूल्य है, इसलिए कविता और लोक–जीवन एक दूसरे के लिए अपरिहार्य हो जाते हैं।

जिसे आज हम हिन्दी कविता कहते हैं उसकी शुरुआत आदिकाल से होती हैं, भले ही वह शुरुआती दिनों में सपन्न वर्गों को चित्रित करती है। अपनी मूल संवेदना में हिंदी साहित्य मानवता का विरोधी नहीं रहा। आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक हम उन अमर कवियों को जानते हैं जो जनता की जुबान पर आज भी जीवित हैं जैसे सरहपा, मेरूतुंग, नरपतिनाल्ह, चन्दबरदाई, कबीर, जायसी, तुलसीदास, मीराबाई आदि तब ये सारे कवि उस जमाने के हैं जिस समय आम जनता को सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक चेतना का तीव्र एहसास नहीं था, जाने–अनजाने में इन कवियों ने आवाम की इस चेतना को अपने साहित्य में मुखर किया, भक्तिकाल के कवियों ने भी जनता की इस चेतना को अपने साहित्य में मुखर किया, भक्तिकाल के कवियों ने जनता के सामाजिक, सांस्कृतिक उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ये कवि किसी न किसी रूप से अपने समाज से जुड़े

हुए थे, आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक हिंदी साहित्य और लोक–जीवन एक दूसरे का अभिन्न रूप रहा है।

जबकि आधुनिक हिंदी कविता में लोक–जीवन की शुरुआत भारतेन्दु युग से मानी जाती है, परंतु भारतेन्दु ने अपनी भाषा, परंपरा से जुड़कर अस्मिता की बात की थी, उन्होंने घोषणा की थी – "निज भाषा उन्नति अहें, सब उन्नति का मूल।" लेकिन लोक–जीवन की अभिव्यक्ति द्विवेदी युगीन साहित्य में और उसके पूर्व के कवियों की रचनाओं में भी मिलती है; जबकि रामनरेश त्रिपाठी, श्रीधर पाठक की ग्रामीण चेतना उनकी कविताओं में अभिव्यक्त हुई है। लेकिन कविता की परंपरा पुरानी पद्धति पर चली आ रही थी। किंतु शीघ्र ही इसका प्रभाव कम पड़ गया; क्योंकि वह अधिकतर संवेग को ऊपरी स्तर पर छूती थी। इसमें जीवन की कोई अंतर्दृष्टि और चिंतन की कोई गूढ़ संपदा न थी अतः यह काव्य परंपरा छायावाद के प्रारंभ तक निष्प्रभ हो गई। छायावादी कवियों के सामने ज्ञान–विज्ञान की नई चुनौतियाँ सामने थी जो अप्रत्यक्ष रूप से कहीं ना कहीं समाज से जुड़ती थी इन कवियों ने अपनी समकालीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को खुली दृष्टि से देखा था और हरसंभव समस्याओं का समाधान भी खोजा था।

प्रगतिवादी कवियों ने इस परंपरा कों नकार कर एकदम कविता का ढांचा ही बदल दिया, प्रगतिवादी कवियों ने अपनी कविता में उस लोक–जीवन का चित्रण किया है, जो जनता आर्थिक रूप से पिछड़ी थीं, अर्थात यूँ कहा जाए कि आर्थिक पिछड़ापन, भुखमरी, ग्रामीण एवं शहरी जनता की बदहाली, किसानों की गरीबी का चित्रण और जो जनता सामान्य अधिकारों से वंचित थी, उनका चित्रण प्रगतिवादी कवियों के यहाँ हुआ है। इसी रूप में इस काव्य में नई परंपरा की शुरुआत हुई, जो साहित्य लिखा गया वह सामान्य जनता को ध्यान में रखकर लिखा गया। यह प्रगतिवादी कविता पूर्णरूपेण लोक–जीवन को उद्‌घाटित करती है।

लोक का अर्थ एवं स्वरूप :

"लोक शब्द संस्कृत के 'लोक–दर्शन' धातु से 'धन्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है।"[2] इस धातु का अर्थ देखना होता है, जिसका लट्लकार में अन्य पुरुष एक वचन का रूप 'लोकते' है। अतः 'लोक' शब्द का अर्थ हुआ 'देखने वाला' इस प्रकार यह समस्त समुदाय जो इस कार्य को करता है 'लोक' कहलाएगा। लोक शब्द अत्यंत प्राचीन है। साधारण जनता के अर्थ में इसका प्रयोग ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर किया गया है। ऋग्वेद में 'लोक' के लिए 'जन' का प्रयोग उपलब्ध होता है। जिसका अर्थ साधारण जनता से था जो अपने सामान्य जन–जीवन के साथ–साथ राजा का भी चुनाव करती थी। ये जन अपनी लोक परंपराओं पर पूर्ण रूप से आश्रित थे।

ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध पुरुष सूक्त में 'लोक' शब्द का व्यवहार जीव तथा स्थान दोनों रूपों में किया गया है, यथा –

"नाभ्या आसीदंतरिक्षं द्यौः समवर्तत्
पद्भ्याँ भूमिर्दिदशः श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन्।"[3]

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के चौदहवें अध्याय में अनेक नाट्यधर्मी तथा लोकधर्मी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। महर्षि व्यास ने अपनी "शतसाहस्त्री संहिता" की विशेषताओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह ग्रंथ (महाभारत) अज्ञान रूपी अंधकार से अंधे होकर व्यथित लोक (साधारण जनता) की आँखों को ज्ञान रूपी अंजन की श्लाका लगाकर खोल देता है।

"अज्ञानतिमिरान्धस्य लोकस्य तु विचेष्टतः
ज्ञानांजन शलाकाभिनेत्रोन्मीमलनकारम्।।"[4]

इसी प्रकार महाभारत में वर्णित विषयों की चर्चा करते हुए लोकयात्रा का उल्लेख किया गया है। इसी पर्व में एक अन्य स्थान पर पुण्य कर्म करनेवाले का वर्णन उपलब्ध होता है। महर्षि व्यास ने लिखा है :

"प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नव।"[5]

अर्थात् जो व्यक्ति लोक को स्वतः अपने चक्षुओं से देखता है वही उसे सम्यक रूप से जान सकता है।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'लोक' के संबंध में अपने विचार को प्रकट करते हुए लिखा है कि – " 'लोक' शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है, बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत संपन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रूचिवाले लोगों की समूचि विलासिता और सुकुमारिता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं उनको उत्पन्न करते हैं।"[6]

डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने लोक को इस प्रकार स्पष्ट करने का प्रयास किया है – "आधुनिक सभ्यता से दूर अपने प्राकृतिक परिवेश में निवास करने वाली, तथाकथित अशिक्षित जनता एवं असंस्कृत जनता को 'लोक' कहते हैं जिनका आचार–विचार एवं जीवन परंपरायुक्त नियमों से नियंत्रित होता है।"[7] इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो लोग संस्कृत तथा परिष्कृत लोगों से या लोगों के प्रभाव से बाहर रहते हैं या रहते हुए अपनी पुरातन स्थिति में वर्तमान हैं, उन्हें 'लोक' की संज्ञा प्राप्त है। इन्हीं लोगों के साहित्य को लोक–साहित्य कहा जाता है। यह साहित्य प्रायः मौखिक और लिखित दोनों रूपों में मिलता है, परंतु अधिकांश लोक–साहित्य मौखिक ही होता है, तभी इसमें ताजगी एवं जीवंतता पायी जाती है,. लिपि की कारा में कैद करते ही इसकी संजीवनी नष्ट हो जाती है अर्थात 'लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य, संस्कार शस्त्रीयता से रहित हो जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है। इस 'लोक' को मानवता की निम्नतम श्रेणी का दर्जा प्राप्त है जिसको मानवता की अधिकतम जरूरत है। ये मानवीयता के निम्न स्तर पर पहुँचे हुए लोग हैं, कारण – शिक्षा का अभाव,

स्वास्थ्य का अभाव, संचार साधन का अभाव अर्थात् यूँ कहा जाय जो लोग आधारभूत मानवीय सेवाओं से वंचित हैं।

'लोक' की सामूहिक पहचान होती है। इसमें पर्सनल कुछ नहीं होता है, होता है तो सामूहिक, इसकी समूहगत पहचान होती है। 'लोक' का मिथक एवं निजन्धरी कथाओं में विश्वास होता है। तर्क से ज्यादा आस्था और विश्वास का महत्व होता है। जो वर्तमान में होते हुए भी प्राचीनता में निवास कर रहा है।

'लोक' साहित्य अंग्रेजी के 'फोक' लिटरेचर के पर्याय रूप में ग्रहण किया गया है। 'फोक' के लिए लोक और लिटरेचर के लिए साहित्य। "फोक' एँग्लो सैक्सन का विकसित रूप है और प्रयोग की दृष्टि से असंस्कृत और मूढ़ समाज का द्योतक है।"[8] यूँ तो आदिम जाति में वे सभी सदस्य 'फोक' होते हैं जिनसे वह जाति बनी होती है, परंतु लोक शब्द को इतने ही संकुचित दायरे में कैद नहीं किया जा सकता। लोक का बहुत ही व्यापक क्षेत्र है, क्योंकि आधुनिक युग में पाई जाने वाली सभ्य से सभ्य जाति एवं परिनिष्ठ जाति का भी लोक–साहित्य होता है, और किसी न किसी रूप में आज भी विद्यमान है। जो लोग अपने को वर्तमान में आधुनिक समझते हैं वह उसी प्राचीन समाज का अंग है। जो असभ्य समझा जाता था, परंतु समय परिवर्तनशील है और उन्होंने अपने आपको समय के साथ–साथ प्रवाहित कर एक शिक्षित एवं सभ्य जाति में परिवर्तित कर लिया और उनके रहन–सहन, खान–पान के तौर–तरीके बदल गये। परंतु अपनी पुरातन स्थिति से आज भी किसी न किसी रूप में जुड़े हुए हैं, चाहे वह गौत्र की मान्यता हो या फिर धार्मिक रूप से। आज भी ऐसे उच्च वर्ग हैं जिसको क्लासिक कल्चर कहा जाता है। अपनी उसी देवी–देवता के प्रति आस्थावान है जो लोक विशेष पर आधारित है। इसलिए लोक का अर्थ सामान्यतः ग्रामीण जन–जीवन से नहीं लिया जाना चाहिए, बल्कि वे सभी लोग हैं जो शहरी या ग्रामीण अपनी पुरातन स्थिति से किसी न किसी रूप से जुड़ा हुआ है। मजदूर या आम जन शहर में भी है और

ग्राम में भी, इसलिए 'लोक' को व्यापक अर्थ में ही देखना तर्क–संगत होगा। हमें लोक का अर्थ समझने में यह नहीं भूलना चाहिए कि इस विशिष्ट क्षेत्र में 'लोक' शब्द की अपनी सीमाएँ हैं। अतः एक सीमा तक यह मूल रूप से स्वतंत्र अर्थ दे सकता है। यह बात अवश्य है कि 'फोक' के नितांत संकुचित अर्थ को व्यापकता में देखा जाना चाहिए 'लोक' पाश्चात्य 'फोक' से कुछ भिन्नता रखता है और इसका अर्थ ग्राम्य नहीं है वरन् नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है।"[9]

यह लोकशास्त्र का परामुखापेक्षी न होकर परंपरा से प्राप्त अपने गीतों, कहानियों, कहावतों, व लोकोक्तियों से प्रेरणा लेकर जीवन क्षेत्र में अग्रसर होता है और यही पारिभाषिक शब्द 'लोक–साहित्य' में विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है और यहीं 'लोक–साहित्य' जो पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक परंपरा से चलता रहता है, लोक–साहित्य कहलाता है। एक समय था जब संसार के समस्त देशों में मनुष्य प्रकृति देवी का उपासक था तथा प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता था, उस समय उसका रहन–सहन, आचार–विचार, सहज तथा स्वाभाविक था। वह आडम्बर एवं कृत्रिमता के बनावटीपन से कोसों दूर था, वह स्वाभाविकता की गोद में पला जीव था, उसका साधारण जीवन, रहन–सहन, खान–पान उसके सभी क्रिया–कलाप उठना–बैठना, हंसना–बोलना, रोना–धोना, नाचना–गाना उसकी स्वाभाविक जीवन शैली को प्रकट करते थे। उसका जीवन आईने की तरह था; परंतु वर्तमान में यह सभी क्रिया–कलाप व्यक्ति की स्वाभाविकता को प्रकट नहीं करते हैं। उसका सभी कुछ बनावटी हो गया है, लोगों में उठना–बैठना कहीं ना कहीं उसके अपने स्वार्थ से जुड़ा है। प्राचीनता और नवीनता में यह मुख्य अंतर आ गए हैं।

लोक–साहित्य का प्रधान गुण है– स्वाभाविकता, स्वच्छंदता तथा सरलता लोक–साहित्य उतना ही स्वाभाविक है, जितना जंगल में खिलने वाला फूल स्वच्छंद है, लोक–साहित्य उतना ही स्वतंत्र है जितना आकाश में उड़ने वाला पक्षी

स्वतंत्र होता है। उतना ही सरल तथा पवित्र है जितनी गंगा की धारा। जीवन के विविध पक्षों के साथ–साथ सामाजिक–सांस्कृतिक और राष्ट्रीय जीवन में लोक–साहित्य का अत्यधिक महत्व है, इस लोक–साहित्य में धार्मिक, सदाचार तथा समाज संबंधी अमूल्य सामग्री भरी पड़ी हैं, इसी के साथ–साथ स्थान (भूगोल) संबंधी जानकारी भी उपलब्ध होती है। भाषाशास्त्री के लिए तो यह साहित्येतर रत्नाकर के समान है जिसमें गोता लगाने पर उसे अनेक अनमोल मोती प्राप्त होते हैं, जिस देश का लोक–साहित्य नहीं होता, वह अपने मौखिक साहित्य पर ही गर्व करते हैं। भारतीय संस्कृति का सच्चा तथा स्वाभाविक चित्र लोक–साहित्य में ही देखा जा सकता है। लोक–साहित्य में लोगों के जीवन के विविध पक्षों के साथ–साथ अर्थात् जन–जीवन के सभी पहलुओं का चित्रण होता है। लोक–साहित्य संपूर्ण परिवेश का सात्विक तथा संपूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति है। यहाँ (भारतीय) लोगों का रहन–सहन, तीज–त्यौहार, मेले–ढेले, बोली–बानी, भाई–चारा, और आपस में सहअस्तित्व व एक–दूसरे के सम्मान की भावना लोक–साहित्य में ही विद्यमान हैं, भारतीय संस्कृति का जितना सच्चा तथा सात्विक रूप लोक–साहित्य में मिलता है, उतना अन्य कहीं नहीं मिलता।

लोक–साहित्य संस्कृति की अभिव्यक्ति भी है और उसकी आत्मा भी। संस्कृति के केवल क्लासिक रूप का दर्शन करके हम उसके अर्थात् मानव जीवन का रागात्मक साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं। सही अर्थों में तो मानव जीवन के स्वाभाविक और उसके शुरु के तत्वों को तो लोक–साहित्य में ही देखा जा सकता है। जब साहित्य को सांस्कृतिक प्रक्रिया माना जाता है तो इस प्रक्रिया के अध्ययन में 'लोक' साहित्य को ओझल नहीं किया जा सकता, साहित्य की दुनिया में केवल लिखित ग्रंथ ही नहीं हैं, समूहगत आकांक्षाओं और भावनाओं ने मिलकर भी साहित्य का सृजन किया। मानवता की इसी साझी विरासत का नाम लोक–साहित्य है। जिसकी रचना की कोई तिथि नहीं है पर वह लोक के साथ

ऐतिहासिक तिथिक्रम से ज्यादा ऐतिहासिक है, ज्यादा विश्वसनीय है और ज्यादा रागात्मक भी। सदियों बीत जाने पर भी आज भी मौखिक परंपरा के सहारे जीवित हैं, यह इनकी अद्‌भुत प्राणशक्ति का सूचक है। जो बदलावों के बीच विश्व–संस्कृति एवं सभ्यता से जुड़कर भी भारतीय संस्कृति विद्यमान हैं। भारतीय संस्कृति में देशी–विदेशी संस्कृतियों का समन्वय हुआ है। इस संस्कृति की अद्‌भुत समृद्धि और गहराई का यही कारण है। भारतीय लोगों के सामाजिक जीवन के पक्षों को जितना लोक–साहित्य ने नजदीक से छुआ है उतना साहित्य ने नहीं, संपूर्ण परिवार के वास्तविक रूप का सच्चा चित्रण अगर हमें देखना है तो लोक–साहित्य की लोक भूमि में उतरना ही होगा।

भारतीय समाज में अनेक लोक, रंग एवं आस्थाएँ दिखाई पड़ती हैं लोक रंग से तात्पर्य है पर्व–उत्सव, तीज–त्यौहार और मेले–ढेले से निर्मित हर्षोल्लास का आनंदमय वातावरण जो जीवन को गति देते हैं तथा सामाजिकता के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। डॉ. सत्येन्द्र ने 'लोक' शब्द की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार एवं शास्त्रीयता की चेतना एवं पाण्डित्य प्रदर्शन के अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है।"[10] इसलिए कहा जा सकता है कि लोक–साहित्य उतना ही स्वच्छंद है जितना आकाश में उड़ता हुआ पक्षी, जिसके सामने ना कोई दीवार होती है और ना कोई सीमा। इसी प्रकार इसी स्वतंत्रता में आम जन के भारत में पर्व–उत्सव और तीज–त्यौहार ऋतुओं और विशेष तिथियों से संबंधित होते हैं जो हर्ष–उल्लास और उन्मुक्तता का पर्याय हैं। इनके अलावा कुछ जातियों के अपने–अपने और धार्मिक त्यौहार भी होते हैं, जिनका जीवन में महत्वपूर्ण स्थान होता है।

भारतीय लोक–साहित्य में लोक रंग एवं विभिन्न संस्कारों की सुंदर ढंग से अभिव्यक्ति हुई है। समाज में जितनी जातियाँ हैं, सभी के अपने–अपने सांस्कृतिक

उत्सव होते हैं और इन जातियों की अलग–अलग आस्थाएँ होती हैं। जाति एवं धर्म के अपने–अपने लोक रंग होते हैं परंतु ये सभी लोक रंग एवं आस्थाएँ कहीं–ना–कहीं आपस में जुड़े हुए होते हैं। "लोक–साहित्य जनता जनार्दन की संपत्ति है। यह भगवान के विराट स्वरूप की भांति विराट और अनंत हैं।"[11] विराट इस रूप में है कि इसमें भारतीय जीवन की समग्रता के साथ अभिव्यक्ति होती है शायद ही ऐसा कोई अंग भारतीय संस्कृति का हो जिसकी उद्‌भावना लोक साहित्य में नहीं होती, आम जन का जहाँ यह मनोरंजन का साधन है तो दूसरी ओर उनकी निर्मलता और स्पष्टवादिता का द्योतक है, उनकी तो यह अमूल्य निधि है। आम लोगों के सुख–दुःख की कहानी है। लोक–साहित्य अर्थात् इसके माध्यम से इनके जीवन की अभिव्यक्ति होती है। लोक–साहित्य भारतीय जीवन की अमूल्य धरोहर है जो विभिन्नता में एकता का प्रतीक है।

लोक–साहित्य भारतीय समाज की अभिव्यक्ति है भारतीय समाज में धार्मिक बिंबों एवं प्रतीकों के प्रति लोगों की आस्थाएँ जुड़ी हुई हैं। यहाँ लंबे अरसे से मानव प्रकृति का पुजारी रहा है चाहे वह आदिवासी समाज हो या फिर जिसे आज हम सभ्य समाज कहते हैं। वर्तमान में भी प्रकृति की पूजा होती है और होती रहेगी। कहीं–न–कहीं लोग अपने प्राचीन मांन्यताओं और विश्वासों से जुड़े हुए हैं। जैसे अग्नि के प्रति लोगों की आस्थाएँ आज भी यथावत् हैं, सूर्य देवता की पूजा आज भी होती है, भारतीय समाज में पेड़–पौधों, पशु–पक्षियों, देवी–देवताओं आदि के प्रति लोगों की घनिष्ठ आस्थाएँ हैं। विभिन्न जातियों के धार्मिक विश्वासों एवं सांस्कृतिक उत्सव आज भी भारतीय लोगों को एक सूत्र में बांधे हुए हैं। अर्थात् यही परंपरा भारतीयों को एक सूत्र में बांधती है। भारतीय जीवन की यह महत्वपूर्ण विशेषता है। भारतवासियों का जीवन धर्ममय है, धर्म ही हमारे जीवन का प्राण है यदि कहा जाए कि हमारी संस्कृति धार्मिक ताने–बाने से बुनी गई है तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। हमारी संस्कृति, समाज और साहित्य में धर्म का स्वर

सबसे ऊँचा है। सच तो यह है कि धर्म की आधारशिला पर ही लोक–साहित्य की प्रतिष्ठा हुई है।

लोक–साहित्य अनाम होता है, किसी लोक गीत या कथा का रचयिता कौन है यह बहुत कम ज्ञात होता है। यह संभव हो सकता है कि किसी लोक गीत या कथा की रचना किसी एक व्यक्ति ने की हो और आगे चलकर अनेक पीढ़ियों के लोगों द्वारा उसमें परिवर्तन होता रहा हो।

जनता के इस लोकप्रिय साहित्य में वर्णित विधि–विधानों, रीति–रिवाजों, विश्वास एवं परंपराओं का अनुशीलन किया जाए तो इससे ज्ञात होता है कि उनको धर्म से कितनी प्रेरणा एवं बल मिला है। यदि लोक–साहित्य के निर्माण में धर्म का आधार न प्राप्त होता तो इसका इतना संजीव तथा सबल होना असंभव होता।

वस्तुतः लोक–साहित्य अपने आप में व्यापकता लिए हुए है। इस लोक–साहित्य में अधिकतर आम लोगों के जन–जीवन की जानकारी मिलती है। लोक–साहित्य, लोक–जीवन की सहज भावाभिव्यक्ति है। अतः इसमें लोक–हर्षोल्लास, हास–परिहास, सुख–दुःख जय–पराजय, ज्ञान–विज्ञान, चिंतन सभी कुछ अभिव्यक्त हुआ है। इन सभी स्थितियों और मनोदशाओं को वाणी देने के लिए जिन विधाओं को अपनाया गया है उन्हें लोक–साहित्य के भेद या प्रकार कहा जा सकता है। जिनमें लोकगीत, प्रबंध गीत, लोककथा, लोकनाट्य, कहावतें, पहेलियाँ ये सभी रूप लोक–साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट या प्रकट करते हैं।

लोक गीत लोक–साहित्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है। लोक के पास जीवन को अधिकाधिक प्रेरणा प्रदान करने वाला साधन लोक गीत है। हमारे यहाँ विभिन्न प्रकार के धार्मिक तथा संस्कार से संबंधित गीत जुड़े हुए हैं जो हमें नैतिकता से जोड़े रखने के साथ–साथ हमें संस्कारों के प्रति जुड़े रहने के लिए बाध्य करते हैं। मनुष्य का संपूर्ण जीवन संस्कारमय है जन्म से लेकर मृत्यु तक

हमारे जीवन में कोई ना कोई संस्कार होते रहते हैं। इन अवसरों पर स्त्रियाँ कोकिल कण्ठ से गीतों को गा–गाकर अपने हार्दिक उल्लास और आनंद को प्रकट करती हैं। जो हमें हमारे समाज से जोड़े रखते हैं। लोक गीत वह गीत है जिससे जन–मन का अनुरंजन सदा होता रहता है। इन गीतों को स्त्री–पुरुष समान रूप से गाते हैं। इन गीतों में कुछ ऐसे गीत भी होते हैं जो केवल स्त्रियों द्वारा गाये जाते हैं – जैसे संस्कार विषयक गीत। इसके ठीक विपरीत कुछ ऐसे गीत भी होते हैं जो केवल पुरुषों की ही संपत्ति है। जैसे होली के गीत। लोक गाथाएँ तो केवल पुरुष वर्ग के द्वारा ही गाई जाती हैं, वैसे ये लोक गीत दो भागों में विभक्त किए जाते हैं – एकल और सामूहिक। एकल वह गीत होते हैं जिसे केवल एक ही व्यक्ति गाता है जैसे – शीतला माता के गीत। इस गीत को शीतला देवी को प्रसन्न करने के लिए उस बालक की माता गाती है जिसका पुत्र चेचक के रोग से पीड़ित रहता है। इसी प्रकार से आल्हा, लोरकी और विजयमल की लोकगाथाओं को केवल एक ही लोक गायक गाता है। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी गीत हैं जो सामूहिक रूप से गाये जाते हैं जैसे – झूमर। इस गीत को अनेक स्त्रियाँ गोलाकार रूप में एकत्रित होकर बड़े प्रेम से गाती हैं। इसी प्रकार होली के गीतों को पुरुष एक साथ मिलकर गाते हैं। इस तरह एकल और सामूहिक रूप से लोक गीतों के गाने की प्रथा प्रचलित हैं।

भारतीय जनता का अधिकतम अंश ग्रामों में निवास करता है। ग्रामीण समाज जिन शब्दों में अपने निजी लक्षणों का उद्‌गार करता है अर्थात् साधारण जनता जिन शब्दों में गाती है अपना मनोरंजन करती है इन सभी विशेषताओं को लोक–साहित्य कहा जाता है। लोक–साहित्य की अपनी ऐसी अनेक विशेषताएँ हैं जो उसे परिनिष्ठित या लिखित साहित्य से अलग करती है। लोक–साहित्य प्रायः मौखिक होता है, उसका श्रवण किया जाता है, पठन–पाठन नहीं। मौखिक आदान–प्रदान की निरंतर गतिशील प्रक्रिया को समर्पित हुए बिना साहित्य का

कोई अंश लोक–साहित्य नहीं कहला सकता। मौखिक आदान–प्रदान, लोक–साहित्य के संरक्षण का आधार ही नहीं है, प्रत्युत् वह उसके निर्माण और विकास का द्योतक है। मौखिक आदान–प्रदान के द्वारा लोक गीतकार तथा कथाकार उनमें निरंतर समय के अनुसार परिवर्तन करते हुए उन्हें सुरक्षित एवं उसमें जीवंतता बनाए रखते हैं। यही कारण है कि गीत एवं कथा के हमें अनेक रूप मिलते हैं।

लोकोक्ति और मुहावरों के लिए भी यही बात कहीं जा सकती है। इन विभिन्न परिवर्तित रूपों में किसी एक रूप को ही मौलिक स्वीकार करना उचित नहीं है। "लोक–साहित्य में यह परिवर्तन कभी विस्मृति के कारण और कभी जानबूझ कर भी होता है।"[12] विस्मृति के कारण कभी–कभी शब्द या पंक्ति तथा कभी–कभी गीतांश ही लुप्त हो जाता है। इसी प्रकार कथाओं में भी घटनाएँ छूट जाती हैं। इन रिक्त स्थानों को अन्य कथाकार या लोक गीतकार कभी तो अन्य लोक–गीतों की पंक्तियों या अन्य कथाओं की घटना को जोड़कर पूर्ण कर देते हैं। और कभी प्रस्तुतकर्ता अपनी कल्पना शक्ति के द्वारा नए गीत या कथा को जन्म देकर उसे पूरा कर देते हैं गायक तथा कथाकार जानबूझकर भी परिवर्तन करते रहते हैं मौखिक आदान–प्रदान से प्राप्त वस्तु–विषय को ग्रहण करने की उन्हें छूट रहती है। सीएम चोरा का मत है कि – "आदान–प्रदान की वास्तविक प्रक्रिया कभी भी संपूर्ण गीत को न तो ज्यों का त्यों स्मरण रखती है और न उसे ज्यों का त्यों प्रस्तुत करती हैं वरन् उसका सार और टेकनीक ही इस आदान–प्रदान की प्रक्रिया में अपनाया जाता है।"[13] यह कथन छोटे–छोटे गीतों, कहावतों, लोकोक्तियों आदि पर लागू नहीं होता जितना कि पँवारों, प्रबंध गीतों एवं कथाओं पर लागू होता है।

लोक–साहित्य अनाम होता है, किसी लोक गीत या कथा का रचयिता कौन है यह बहुत कम ज्ञात होता है। यह संभव हो सकता है कि किसी लोक गीत या

कथा की रचना किसी एक व्यक्ति ने की हो और आगे चलकर अनेक पीढ़ियों के लोगों द्वारा उसमें परिवर्तन होता रहा हो।

लोक कलाकार और श्रोता में अधिक अंतर नहीं होता। समूह–गानों में तो प्रस्तुतकर्ता और श्रोता का भेद पूरी तरह मिट जाता है, यदि कभी कोई व्यक्ति अपनी निजी विशेषता के साथ किसी गीत को गाता भी है तो दल के लोग चुप रहने के बजाय उसके साथ ही गाने लगते हैं। सामान्य स्त्री–पुरुष, बालक जो लोक–जीवन से संबंधित हैं, लोक–जीवन में मनोरंजन और प्रदर्शन के लिए अनेक अवसर प्राप्त कर लेते हैं। सभी ग्रामवासी कुछ गीतों, कहानियों, लोकोक्तियों, मुहावरों आदि से परिचित होते हैं।

लोक–साहित्य के विभिन्न रूपों से मालूम होता है कि उसके पीछे अनेक महत्वपूर्ण सामाजिक कारण होते हैं, क्योंकि लोक–साहित्य समाज की अभिव्यक्ति है विभिन्न प्रकार के लोकगीत, कथा तथा कहावतें यहाँ के समाज के विभिन्न वर्गों में विभक्त हैं। सामाजिक विवरण की दृष्टि से लोक–साहित्य का वास्तविक मूल्य उस समाज के कुछ विशेष व्यक्तियों या घटनाओं पर आधारित न होकर उसकी निजी अनोखी परिस्थितियों के चित्रों, संबंधों और स्वभावों पर आधारित है। लोक–साहित्य हमें पारिवारिक जीवन के कुछ महत्वपूर्ण चित्र प्रदान करता है। जैसे – माता–पिता, भाई–बहन, पति–पत्नी, सास–बहू, भाभी–देवर के संबंधों के चित्र लोक–साहित्य अपने विभिन्न रूपों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। जैसे – विभिन्न प्रकार की कथाएँ, कहावतें एवं संस्कारों द्वारा जातियों की जानकारी देती है। लोक–साहित्य की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है– इसमें राष्ट्रीयता की भावना का होना "लोक–साहित्य का बहुत बड़ा भाग जितना प्रादेशिक है उससे अधिक वह राष्ट्रीय है। वह समस्त मानव जाति की समान विरासतों में है और उसकी भावगत एकता का महत्वपूर्ण सूत्र भी एक है।"[14]

लोक गीतों तथा लोकगाथाओं में स्थानीय इतिहास का पुट बड़ा गहरा है, जिनके उद्‌घाटन से हमारे विलुप्त तथा विस्मृत इतिहास पर पूर्ण प्रकाश पड़ सकता है तथा बिखरी हुई इतिहास की अनेक कड़ियाँ जोड़ी जा सकती हैं। चाहे वह उत्तर प्रदेश का लोक–साहित्य हो या फिर राजस्थानी या किसी भी प्रदेश का लोक–साहित्य। इस लोक–साहित्य में ऐतिहासिक बोध के साथ–साथ राष्ट्रीयता की भावना व्याप्त होती है और साथ ही यह लोगों की मानसिकता को उजागर करता है। लोक–साहित्य में जो राष्ट्रीयता की भावना उभर कर आती है वह बहुत व्यापक रूप लिए हुए है, पेड़–पौधों, पशु–पक्षी सभी को लोक–साहित्य में स्थान दिया गया है। "सच्चे देश–प्रेम के लिए आवश्यक है अपने देश के पेड़–पौधे, पशु–पक्षी, नदी–नाले, पहाड़–झरने, ग्राम–प्रांतर तथा यहाँ के रहने वाले लोगों से घनिष्ठ परिचय तथा सहज स्नेह।"[15] अर्थात् लोक–साहित्य में अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम के साथ–साथ राष्ट्र की प्रत्येक वस्तु से प्रेम रहता है। लोक–साहित्य में स्वाधीनता संग्राम की भी अभिव्यक्ति है जैसे महात्मा गाँधी के नेतृत्व में जो राष्ट्रीय आंदोलन हुए उनका वर्णन भी लोक गीतों में मिलता है। गाँधी जी ने जो दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों को समान अधिकार दिलाने के लिए जो अहिंसात्मक युद्ध शुरु किया था उसकी प्रतिध्वनि निम्न पंक्तियों में सुनी जा सकती है –

"ऐ देश के दुलारे प्यारे परम् पिता के
प्रह्लाद नव समाज के गौरव विधान गाँधी
होकर अचल हिमालय ए वीर! तू खड़ा था,
जब अफ्रीका में बहती थी आपदा की आँधी
गोरों गरूर चालों का गर्व खर्व करके
ऐ देश भक्त! तूने मर्यादा मेढ़ बांधी।।"[16]

सन् 1930 के नमक सत्याग्रह के अनेक लोकगीत उपलब्ध हैं जिनमें नमक कर हटाने के लिए कांग्रेस के संघर्ष का वर्णन है।

वस्तुतः लोक से हमारा तात्पर्य शास्त्र से नहीं है, बल्कि आम जनता से है, पहले लोक शब्द से सभ्यता से दूर रहने वाली किसी जाति का बोध होता था, परंतु प्रचलन के कारण इसका आशय व्यापक हो गया है। आज भी ग्रामीण जनता या वे शहरी जन जो ग्राम से चलकर अपनी रोजी–रोटी की तलाश में शहर की ओर पलायन कर गये, परंतु उनका रहन–सहन का ढंग आज भी आदिम मान्यताओं पर आधारित है। वास्तव में गरीब लोग चाहें वे शहर में रहते हों या गाँव में रहते हों अपनी पुरातन स्थिति में वर्तमान हैं। वे क्लासिक सभ्यता से दूर अपनी आदिम अर्थात् अपनी पुरातन मान्यताओं के आधार पर अपने जीवन को आधारित रखते हैं। इनका (लोगों) ना कोई लिखित साहित्य होता है ना कोई ऐसी बाध्यता होती है जिसके अंतर्गत ये आम जन बंधे हुए होते हैं। जो लोग संस्कृत तथा परिष्कृत लोगों से बाहर रहते हुए अपनी पुरातन स्थिति में वर्तमान हैं उन्हें लोक की संज्ञा प्राप्त है।

इस प्रकार लोक–जीवन में पूँजीवादी समाज के निर्मित मूल्यों का कोई स्थान नहीं होता बल्कि लोक–जीवन अत्यंत स्वतःस्फूर्त होता है, यह स्वतःस्फूर्त सहजता उस समाज के रीति–रिवाजों, गीतों और सामाजिक मानसिकता में निहित है।

कविता और लोक–जीवन का अंतःसंबंध

औद्योगिक विकास के साथ–साथ यह प्रश्न बार–बार उठा कि आज सांस्कृतिक जीवन और कविता जारी रहने की क्या प्रासंगिकता है, कविता ने औद्योगिकरण में अपनी क्या प्रासंगिकता सिद्ध की है, वास्तव में जिन जटिल स्थितियों और प्रश्नों के उत्तर औद्योगिक समाज के पास नहीं हैं वे सभी उत्तर कविता में खोजे जा सकते हैं। चूँकि कविता सांस्कृतिक संपन्नता रागात्मक मूल्य है, इसलिए कविता और लोक–जीवन एक दूसरे के लिए अपरिहार्य हो जाते हैं। किसी भी लोक संस्कृति में रीति–रिवाज, विश्वास, परंपराओं का दर्पण उस लोक

संस्कृति का लोक–साहित्य होता है। जिन विश्वासों की अभिव्यक्ति भाषा के साहित्य में होती हैं। वस्तुतः कोई भी ग्रामीण समाज अपने विकास क्रम में उसके रीति–रिवाज, परंपराओं के साथ किसी भी जनपद का सांस्कृतिक जीवन मूल्य संपन्न होता है। कविता एक रागात्मक प्रक्रिया है, वह इस सांस्कृतिक संपन्नता को आत्मसात करते हुए संपन्न होती हैं।

'कविता क्या है' निबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी ने लिखा है – "कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ–संबंधों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक–सामान्य भाव–भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुरु अनुभूतियों का संचार होता है।"

कविता मानव की समष्टिगत चेतना की शब्दगत अभिव्यक्ति है। मानव जीवन के कार्य, भाव–विचार, आशा–आकांक्षा सब कविता में प्रतिबिम्बित होते हैं। अंग्रेजी के प्रसिद्ध विद्वान मैथ्यू आर्नल्ड की उक्ति Poetry is the criticism of life में भी समाज और कविता का घनिष्ठ संबंध बताया गया है। कविता का सामाजिक उद्‌देश्य और सामाजिक उपयोगिता होती है। अतः कविता कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियों, रूचि, विचार और भावना की अभिव्यक्ति मात्र नहीं होती। कविता का माध्यम भाषा होती है और भाषा एक सामाजिक संस्था है। अतः प्रत्येक दृष्टि से कविता और समाज का गहरा संबंध है। साहित्य का इतिहास भी बताता है, कि प्रत्येक युग के साहित्य को तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों ने प्रभावित किया है। आदिम युग की कविता उस समय के धार्मिक कर्मकांड, मंत्र–तंत्र, जादू–टोने, खेत–खलिहान के परिश्रमपूर्ण कार्यों तथा उत्सव–समारोहों के मनोरंजन से अभिन्न रूप से जुड़ी हैं। परवर्ती युगों का साहित्य भी चतुर्दिक वातावरण और परिस्थितियों की छाप लिए हुए हैं।

लोक–साहित्य का सृष्टा अपने श्रोताओं की अभिरूचि को देखकर ही लोक–कथाओं और लोकगीतों की सृष्टि करता था। प्राचीन ग्रीस और हिंदी के

आदिकाल के चारणों की कविता अपने श्रोताओं को ध्यान में रखकर लिखी गई। शेक्सपीयर जैसे महान नाटककार तक ने अपने नाटकों में अपने दर्शकों के कारण समय–समय पर परिवर्तन किये।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा था कि भारतीय हृदय का सामान्य रूप पहचानने के लिए पुराने परिचित ग्रामगीतों पर ध्यान देने की आवश्यकता है। पिछले कुछ वर्षों में हिंदी विद्वानों का ध्यान उन लोकतत्वों की ओर मुख्य रूप से आकर्षित हुआ है जो साहित्य की विशिष्ट कृतियों में झाँकते हैं। यह आकर्षण मुख्यतः आदि–काल के हिंदी साहित्य पर विचार करते उत्पन्न हुआ है। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने सर्वप्रथम इसकी कथानक रूढ़ियों पर जोर दिया जिनके आधार पर वे रासों के मूल रूप की कल्पना करते थे। द्विवेदी जी ने भक्ति साहित्य के संबंध में स्वयं कहा कि भक्ति साहित्य की प्रवृतियाँ जिन सामाजिक अवस्थाओं में आरंभ हुई उन्हें जानने का महत्वपूर्ण साधन लोकगीत, लोककथाएँ, लोकोक्तियाँ ही हैं।

लोक कथाओं को आधार बनाकर ही आदिकाल में कविता लिखी गई, आदिकालीन कविता में लोककथाओं की भरमार है इनमें 'ढोला मारु रा दूहा' और खुसरो की पहेलियाँ, बसंत विलास, जयचंद्र प्रकाश एवं जयसचंद्रिका का भी केन्द्रीय विषय यही है इन लौकिक काव्यों में प्रेम की प्रधानता है। हालांकि शुक्ल जी ने आदिकाल का मूल्यांकन करते हुए "सिद्धों और योगियों की साधना को लोकविरोधी कहा है।"[17] परंतु संपूर्ण आदिकालीन कवियों को लोक विरोधी नहीं माना जा सकता। इस समय समाज कविता में उपेक्षित नहीं था, हालांकि कवि का कविकर्म आश्रयदाता को लोकनायक बनाना होता था। सिद्धों और योगियों की रचनाओं को शुक्लजी ने लोकविरोधी इसलिए माना क्योंकि उनकी रचनाएँ "तांत्रिक विधान, योगसाधना, आत्मविग्रह, श्वास–निरोध, भीतरी–चक्रों और नाड़ियों की स्थिति अंतर्मुख साधना के महत्व इत्यादि की सांप्रदायिक मात्र है।"[18] परंतु

लोक–साहित्य और लोक–जीवन में ये सभी आडम्बर पूर्ण रूप से विद्यमान हैं क्योंकि लोक–जीवन अंधविश्वासों, टोना–टोटका आदि से भरा हुआ होता है फिर ये जो शुक्ल जी का तंत्र–मंत्र है ये लोक के काफी करीब आ जाता है, क्योंकि व्यक्ति के जीवन में इन सिद्धि साधनाओं का कहीं ना कहीं स्थान होता है और जिनको भारतीय समाज में नकारा नहीं जा सकता था परंतु लोक को इस काल की कविता ने आत्मसात किया। कविता समाज के प्रत्यक्ष रूप से भले ही ना जुड़ी हो परंतु अप्रत्यक्ष रूप से उसका समाज पर अवश्य प्रभाव पड़ा और आदिकालीन काव्य ने आम जन का तिरस्कार भी नहीं किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी ने लिखा है कि "काव्य मानव जीवन से अलग भाव की शाश्वत सत्ता नहीं है।"[19]

हिंदी कविता अपने जन्म से ही व्यवस्था विरोधी और लोकवादी रही है। जो लोग हिंदी साहित्य के इस पक्ष की उपेक्षा करके हिंदी साहित्य का इतिहास जानना या समझना चाहते हैं वे लोग हिंदी की प्रमुख प्रवृत्ति की अपेक्षा करते हैं। मध्यकाल में धर्म सारी सांस्कृतिक चेष्टाओं का आधार था। इसलिए इन साधक कवियों ने मनुष्य की सारी चेष्टाओं को धर्म में समेट लिया। अवश्य ही आदिकाल में सामंती प्रवृत्ति काव्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है वह सामंती प्रवृत्ति का साहित्य है जो उस समय की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है जिसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'जंबरी' कहा है। परंतु इस आदिकालीन काव्य में भी मानवता का अभाव नहीं है। प्रधानतः सामंतों की रूचि को ध्यान में रखकर लिखे गये इस साहित्य में भी लोकोन्मुखता और मानववाद के दर्शन होते हैं जो कि उच्च साहित्य का प्रधान लक्षण होता है, इस समय कुछ काव्य स्वच्छंद काव्य के रूप में लिखा गया। 'ढोला–मारू रा दूहा' ग्यारहवीं शताब्दी में रचित एक लोकभाषा काव्य है जो आज भी जनता की जुबान पर विराजमान है। इसे राजस्थान में आज भी आम जन के बीच मनोरंजन के रूप में बड़े उत्साह से सुना जा सकता है। यह राजस्थान की प्रसिद्ध गेय–लोक–कथा है जिसका मुख्य विषय श्रृंगार है, इसमें

ढोला नाम के राजकुमार और मारवाणी नाम की राजकुमारी की प्रेमकथा वर्णित है। यह लोक प्रसिद्ध प्रेमगाथा आदिकालीन श्रृंगार काव्य परंपरा की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस काव्य के भाव–गाम्भीर्य को परिष्कृत लोक–रूचि का प्रतीक माना है।

आरंभिक हिंदी कविता में 'ढोला मारु रा दूहा' तथा 'बीसलदेव रासो' प्रेमाख्यान ऐसी ही रचनाएँ हैं जो लोक धरातल पर निर्मित होती रहीं हैं। अनेक डिंगल नामधारी रचनाएँ इसी श्रेणी की है जो मौखिक परंपरा में बहुत दिनों तक पाई जाती रहीं है। फिर लोगों ने उन्हें लिपिबद्ध कर लिया और फिर कभी किसी प्रतिभा संपन्न कवि ने उन्हें अपना परिष्कृत रूप दे दिया। साहित्य और समाज के संबंधों को समझने के लिए कवि या लेखक का परिवेश और समय को जानना जरूरी है, और उसकी सामाजिक मान्यताएँ, साहित्यिक रचनाओं का विषय, सामाजिक उद्देश्य तथा पाठक वर्ग एवं साहित्य का समाज पर प्रभाव को भी जानना आवश्यक है। जिस कुल और वर्ग में कवि या लेखक का जन्म होता है, जिस परिवेश और वातावरण में उसका पालन–पोषण होता है, उसके विचारों, धारणाओं एवं मान्यताओं पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। साहित्यिक प्रकाशन के आर्थिक आधार का भी लेखक पर प्रभाव पड़ता है। यदि लेखक आभिजात्य वर्ग का होता तो उसके विचार एक प्रकार के होंगे और यदि सर्वहारा वर्ग का हुआ तो उसकी विचारधारा दूसरे प्रकार की होगी। आधुनिक यूरोप में अधिकांश लेखक मध्यवर्ग के रहे हैं क्योंकि उच्च वर्ग के लोगों को भोगविलास से फुर्सत नहीं थी और निम्नवर्ग अशिक्षित था। अतः वर्तमान युग के यूरोपीय साहित्य में मध्यवर्ग की विचारधारा मिलेगी इसी प्रकार कमोबेस भारतीय साहित्य पर भी लेखक के वर्ग, समय एवं वातावरण का प्रभाव प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में देखा जा सकता है। परंतु यह सिद्धांत सार्वकालिक एवं सर्वमान्य नहीं क्योंकि रूस का अधिकांश जनवादी साहित्य अभिजात्य वर्ग के लेखकों द्वारा रचा गया है। वस्तुतः कहा जा

सकता है कवि या लेखक पर समाज एवं परिस्थितियों का दबाव अवश्य पड़ता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी हिंदी साहित्य के इतिहास में लिखा है – "प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।"[20] इसलिए कविता और लोक–जीवन का गहन संबंध होता है। आदिकालीन कवियों ने अपने समाज और परिवेश को केंद्र में रखकर काव्य का सृजन किया और भक्तिकालीन कवियों ने अपने समय की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर काव्य लिखा। कविता अपने समय की मांग होती है।

भक्तिकालीन काव्य में लोक–जीवन का चित्रण, लोकमानस, लोक हृदय या लोकचित्त कहाँ जाए उसकी परख और उसे पूरी जीवंतता के साथ भक्तिकालीन कवियों ने उद्‌घाटित किया है जो उनकी एक बहुत बड़ी उपलब्धि है, हम जिस लोक संस्कृति की बात करते हैं भक्तियुगीन कवियों ने उसे हमारी आँखों के सामने मूर्त कर दिया है। उनकी कविता लोक–जीवन से सराबोर है। हम जिस काव्य को लोकजीवन के यथार्थ, लोक के कष्ट, पीड़ा या दुःख–दर्द, हर्ष–उल्लास की अभिव्यक्ति में सच्चे मानवीय साहित्य की कसौटी पर कसते हैं, उसी साहित्य की भक्तिकालीन कविता हमें बानगी देती है। मुक्तिबोध ने लिखा है कि समूचे भक्ति–आंदोलन के मूल में जनता के दुःख–दर्द ही है और उन दुःख–दर्दों की बड़ी जीवंत मानवीयता के साथ उभारने, उनसे एकमेक होकर सामने आने में ही भक्ति आंदोलन की शक्ति को देखा या पहचाना जा सकता। धर्म के बारे में मार्क्स ने लिखा है कि वह कुचले हुए मानव की आह और हृदयहीन संसार का हृदय है। भक्तिकालीन कविता मानवीयता की पुकार है, कबीरदास ने भी कहा है –

"साँई इतना दीजिए जामे कुटुम्ब समाए
मैं भी भुखा न रहूँ, साधु भी भूखा न जाए।"[21]

इस समय कविता का एक मात्र लक्ष्य मानवता की रक्षा करना था, कवियों ने एक–दूसरे के दु:ख–दर्द को समझा। वे समूचे समाज की मंगल कामना के लिए जनपदीय भाषा में खूब काव्य सृजन किया गया क्योंकि लोक–साहित्य की रचना जनपदीय भाषाओं, लोकभाषाओं अथवा आंचलिक बोलियों में होती है इसी विशेषता को भक्तिकालीन कवियों ने अपनाया, इस समय विभिन्न जाति के कवियों ने चाहे वह उच्च वर्ग के हो या निम्न वर्ग के सभी की दृष्टि लोकोन्मुखी थी शास्त्रोन्मुखी नहीं। उनका उद्देश्य दार्शनिक विचारों का खण्डन–मंडन होकर लोक का कल्याण करना था और उन्होंने इस दृष्टि से अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम लोकभाषाओं को ही चुना। निर्गुण धारा के प्रमुख कवि कबीर में तो यह विलक्षण क्षमता थी कि "कबीर में जैसा बोलियों का सम्मिश्रण है वैसा ही मनोदशाओं का भी यह निश्चय ही उनकी कला–क्षमता का प्रमाण है, पूरब में भोजपुरी से लेकर पश्चिम में राजस्थानी तक उनका भाषिक संवेदनात्मक विस्तार है।"[22] कबीर ने तो शास्त्रीय भाषा की राह को त्याग कर लोक–भाषा एवं लोक में ही पैर पसारकर अपने काव्य की रचना की अतः ये मूलतः लोकवादी कवि थे।

TH-14769

"भाषा, संवेदना, विचार–प्रणाली – सभी दृष्टियों से कबीर शास्त्रीयता के समक्ष खाँटी देसीपन को महत्व देते हैं। संस्कृत के कूपजल को छोड़कर वे भाषा के बहते नीर तक स्वयं पहुँचते हैं और सबको पहुँचाते हैं, संस्कृत से मुक्त लोक संस्कृति को बनाने में उनका योगदान अप्रतिम है।"[23]

लोकजीवन की जांच–पड़ताल करने के लिए हम भक्तिकाल के प्रमुख कवियों – कबीर, जायसी, सूरदास, तुलसीदास, रहीम, मीरा और रसखान आदि की काव्य कृतियों का हमें लोक दृष्टि से ही विचार करना होगा।

भक्तिकालीन काव्य के अंतर्गत लोक–जीवन की एक लंबी परंपरा देखने को मिलती है। भक्तिकाल में तुलसीदास, नन्ददास जैसे एक–दो कवियों ने शास्त्रीयता के तत्वों को अवश्य ग्रहण किया किंतु गहनता से जांच–पड़ताल की जाए तो ये

Jawaharlal Nehru University Library

विचार सीधे शास्त्रीय ग्रंथों से लिए गए नहीं प्रतीत होते। ऐसे विचार लोक समाज में पहले से ही प्रचलित हो चुके थे उनकी लोकप्रियता ने कवियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया, ये कवि एक प्रकार से किसी मध्यस्थ व्यक्ति की भूमिका का निर्वाह करते हुए संस्कृत की शास्त्रीय परंपरा को जन–सामान्य तक पहुँचाने का कार्य कर रहे थे। जन–सामान्य तक तक इन कवियों की पूरी पहुँच थी, लोगों में आपसी भाई–चारा, सहअस्तित्व की भावना जगाना ही इन कवियों का धर्म बन गया था। इन कवियों ने अपनी कविता में प्रधानता लोक–परंपरा को ही दी। अधिकांश रचनाओं में जैसे 'रामचरितमानस' में अथवा 'पद्मावत' में कुछ प्रक्षिप्त अंश भी मिलते हैं ये अंश लोक–काव्य की श्रेणी के ही हैं। कुल मिलाकर भक्तिकालीन काव्य लोकोन्मुखी शैली का ही प्रतिनिधित्व करता है। लोकगीतों, लोकाख्यानों, कहावतों, पहेलियों तथा रासलीलाओं की सामग्री किस प्रकार हिंदी कवियों द्वारा ग्रहण की गई, इसको उनके काव्य में ही देखा जा सकता है। कबीर ने तो अपनी भीनी–भीनी चादर बिनते हुए अनेक लोक प्रचलित गीतों को अपना रहस्यवादी रूप देकर ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। सूरदास कृत 'सूरसागर' में ब्रज प्रदेश की लोक–वार्ताओं के स्थान–स्थान पर उल्लेख भरे पड़े हैं। हिंदू पर्वों, तीज–त्यौहारों, प्रथाओं आदि का उल्लेख उसके लोक–सांस्कृतिक धरातल को उजागर करता है। सूरदास ने कहावतों और मुहावरों के प्रयोग को तो जैसे बोलचाल की भाषा से ज्यों–के–त्यों उठा लिए हैं। नन्द यशोदा कृष्ण–गोपियों के संवादों में वही सहजता एवं सपाटबयानी है जो लोक–संवादों में मिलती है। सूर के दृष्टिकूट पद एक प्रकार से पहेलियों के ही परिष्कृत रूप माने जा सकते हैं। पद्यों की शैली लोकगीतों पर आधारित हैं। जायसी द्वारा कृत 'पद्मावत' में तो लोक–जीवन के चित्र भरे पड़े हैं, जायसी ने जगह–जगह कथानक रूढ़ियों का प्रयोग और जगह–जगह लोक शब्दों व लोक कथानकों का प्रयोग जैसे – "सिंहलद्वीप वर्णन खण्ड में फूलों, फलों और घोड़ों के नाम, रत्नसेन के विवाह और

बादशाह की दावत पकवानों और व्यंजनों की बड़ी लंबी चित्रावली है जिसका संबंध लोक परंपरा के आग्रह से है।"[24]

भक्तिकालीन कविता में लोक–जीवन को समझने के लिए तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को भी जानना आवश्यक है, समाज में प्रारंभ से ही ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियों का प्रभुत्व था, जहाँ वेदशास्त्रों की वर्णव्यवस्था के अनुसार अनुशासन के पालन पर अधिक ध्यान दिया जाता था। तत्कालीन समाज में दूसरी ओर वैश्य तथा शूद्र जातियाँ थी जो वैष्णव–शैव तथा जैन धर्म को प्रश्रय देती थी। ये जातियाँ राम–सीता तथा राधा–कृष्ण के कथानकों द्वारा ज्ञान के ऊपर भक्ति को प्रधानता देती रही। एक प्रकार से देखा जाए तो भक्ति आंदोलन इन्हीं जातियों का धार्मिक आंदोलन था जिसे कबीर जैसे संतों ने सातों द्वीपों और नौखण्डों में फैला दिया, इनके आंदोलन की जड़ें लोकधरातल से जुड़ी हुई थी और ये शास्त्रज्ञान के विरोधी थे। भक्ति का यह आंदोलन बहुत पहले से जनपदीय समाज के साथ जुड़ा चला आ रहा था जो गीतों, वार्ताओं, कथाओं तथा लोक छन्दों के रूप में लोक–मानस की अभिव्यक्ति करता था। भक्तिमार्ग ने जनपदीय बोलियों और संस्कारों में नवजागरण का बोध कराया जिससे आगे चलकर भक्ति साहित्य संस्कृतनिष्ठ हो गया और समाज के आम आदमी के प्रति कवियों की दृष्टि न जाकर राजदरबारों की ओर दौड़ लगाने लगी जब कविता ने अपना क्षेत्र राजदरबार की चार दीवारी को बना लिया तो सामान्य जन कविता से कट गया जिससे कविता की समाजोन्मुखता और प्रगतिशीलता दोनों पर प्रश्नचिह्न लग जाता है।

लोकोन्मुखी दृष्टि का स्थान अलंकार प्रदर्शन ने लिया है और हिंदी कविता में भी संस्कृत साहित्य की भांति टीका, भाष्यों के रूप में लक्षण ग्रंथों की आवृत्ति होने लगी। कविता का प्रयोजन सामान्य हित से हटकर कुछ विशेष वर्गों तक सीमित हो गया और लोकभाषा को भी बड़ी हीन दृष्टि से देखा जाने लगा। इसके

विपरीत भक्तिकालीन कविता की मूल चेतना मानवतावादी थी। कबीर की कविता शास्त्रीयता के ऊपर लोकजीवन के अनुभव की प्रतिष्ठा की कविता है, कबीर के 'राम' और प्रेम के उद्‌गम और लीला की भूमि लोकजीवन ही हैं, कहीं और नहीं इश्क मिजाजी से इश्क'हकीकी' का जो सफर जायसी ने तय किया है, उस सफर में अर्थात् उस मार्ग में संपूर्ण लोकजीवन का भावसौंदर्य है। प्रेममार्गी कवि भी आँख मूँदकर सफर तय नहीं करता वह जीवन जगत से आँख बंद करके आगे नहीं बढ़ता। भक्तिकाल के कवि लोक–जीवन की चिंता करने वाले कवि थे। तुलसीदास ने तो जिन लोगों को 'जगत्‌गति' नहीं व्याप्ती ऐसे आत्मलीन लोगों को 'मूढ़' कहा है। डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है – "भारतीय ग्रामीण समाज के सांस्कृतिक जीवन का सौंदर्य सूर की कविता में सर्वत्र दिखाई देता है। श्रीकृष्ण की बाललीलाओं के चित्रण में ही नहीं 'भ्रमरगीत' में भारतीय ग्रामीण जीवन के अनेक रूप और पक्ष मूर्तिमान हो उठे हैं। गोपियों में शास्त्रीयता नहीं ग्रामीण जन की निश्छल आस्था की दृढ़ता है। सूर और तुलसी की कविता में लोकोक्तियों और मुहावरों का जो अपूर्व भण्डार है उसमें लोक–जीवन के अनुभव की झाँकी देखी जा सकती है।"[25]

भाक्तिकालीन कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह देखी गई है कि सामंती समाज में जन्म लेकर भी लोक–जीवन में विचरण करने वाली कविता है, भक्तिकाल की कविता लोक भाषा में लोक–जीवन की कविता है, भक्तिकालीन कविता को समाज से अलग हटाकर नहीं देखा जा सकता, इस काव्य में अर्थात् कविता और लोक–जीवन का अभिन्न रूप है और यहीं परंपरा आगे चलकर और गहन होती गई।

छायावादी कवियों ने तो लोकगीतों की शैलियों का प्रयोग किया। छायावाद के शुरुआती दौर में भले ही कविता कल्पना लोक में विचरण कर रही हों, परंतु छायावाद के उत्तरार्द्ध में इन कवियों की दृष्टि पूर्णतः लोकव्यापी हो गयी थी,

दूसरी ओर आगे चलकर प्रगतिवादी कविता में तो संपूर्ण ग्रामीण जीवन की झाँकी मिलती है, इस दौर में कविता की वस्तु और रूप दोनों में परिवर्तन हो गया। हिंदी की प्रगतिवादी कविता में सामाजिक चेतना के प्रबल हो जाने पर मध्यवर्ग के कवियों ने लोक–साहित्य से पर्याप्त प्रेरणा ली। धरती, मिट्टी, फसल जैसे शब्द लोक–जीवन के प्रतीक बन गये। कविता की यह लोकोन्मुखी प्रवृत्ति अपने आप उत्पन्न नहीं हुई। जब कवियों ने देखा कि समाज के मध्य वर्ग में नई शक्ति का उदय हो रहा है जिसके हाथों में उनका भविष्य है तो उन्होंने साधारण चेतना को प्रश्रय देने वाली कविताएँ लिखी। सन् 1936 के दौरान गाँव–गाँव में स्वाधीनता के नारे लगाए जा रहे थे, दूसरी ओर कांग्रेस ने भी फैजपुर के अपने अधिवेशन में पहली बार किसान–मजदूरों की ओर ध्यान दिया। सन् 1936 के कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए पहली बार नेहरु ने कृषकों की समस्याओं को उठाया और उनसे संबंधित प्रस्ताव पारित किया। साहित्य पर सामाजिक परिवेश और तात्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ता है, प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से और इन सभी परिस्थितियों ने प्रगतिवादी काव्य को लोकजीवन से जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। प्रगतिवादी कवि मात्र कोरी भावनाओं के कवि नहीं थे वे तो लोक से जुड़े हुए कवि थे, उनके भाव अपनी प्रेमिका तक ही सीमित नहीं थे, अपनी प्रेमिका के माध्यम से भी वे संपूर्ण समाज के प्रति अपने भाव प्रकट करते थे। त्रिलोचन ने लिखा है – "मुझे जगत–जीवन का प्रेमी / बना रहा है प्यारा तुम्हारा। इनके भाव और यथार्थ दृष्टि दोनों लोक से जुड़े हुए थे। प्रगतिवादी कवियों ने अपनी लोक दृष्टि से शहरी व ग्रामीण सामान्य जनता की गरीबी, भुखमरी, बदहाली व उनके जीवन संघर्ष दोनों को अपनी कविता के माध्यम से देखा।

प्रगतिवादी कविता में लोकदृष्टि के वृत में समूचा लोकजीवन अपनी पूरी वास्तविकता और गुण–दोषों के साथ समा गया है। प्रगतिवादी कविता हमारे

सामने केवल भावनाओं के संसार में ही नहीं बहती, बल्कि उन हकीकतों का भी सामना करती है जो लोक में समस्याएँ विद्यमान हैं। उनकी कविता में ग्रामीण और नगरीय जीवन दोनों ही यथार्थ दृष्टि में विद्यमान हैं।

वस्तुतः हिंदी कविता अपने लक्षित अर्थ में लोक संवेदना के धरातल पर खरी उतरती हैं। भारतीय चिंतन और काव्य चेतना में खोजने से विदित होता है कि विभिन्न युगों के सामाजिक–राजनीतिक ढांचों के बावजूद हमारे लोकहितैषी कवियों और मनीषियों को आमजन के उत्पीड़न, सामाजिक विषमता आदि ने बराबर ध्यान आकर्षित किया है, इनके पक्ष में वे अपना असंतोष, सृजन के भीतर, किसी ना किसी तरह व्यक्त करते हैं और यही लोक–संवेदना हिंदी काव्य की जीवन शक्ति रही है। साहित्यिक रचना एक सामाजिक कर्म है और कृति सामाजिक उत्पादन। इसका अनुकरण भारतीय कवियों ने किया। हिंदी कविता में लोक–जीवन की अभिव्यक्ति हर स्तर पर होती हैं अर्थात् उसकी अंतर्वस्तु, संरचना एवं शिल्प के माध्यम से। सच्चा कवि वही है जो समाज का यथार्थ चित्रण करे। "लोकप्रिय कविता वह है जो यथार्थवादी होती है ऐसी कविता दृष्टिकोण और शिल्प दोनों स्तरों पर यथार्थवादी होती है।"[26] कविता जब यथार्थ का चित्रण करती है तो कविता समाज से सीधा साक्षात्कार करती नजर आती हैं और कविता का मुख्य धर्म लोकजीवन की अभिव्यक्ति हो जाता है। इसलिए कविता और लोक–जीवन एक–दूसरे के पर्याय हैं। लोक–जीवन की अभिव्यक्ति के बिना उच्चतम, काव्य सृजन की संभावना कम ही है। जब कविता में लोक–जीवन की अभिव्यक्ति होगी तब ही वह जन सामान्य का साहित्य बन पायेगा और लोकमंगल की पूरी की पूरी संभावना होगी। कविता और लोकजीवन का अभिन्न रूप नहीं बल्कि एक दूसरे के अभाव में दोनों के अस्तित्व का संकट भी बन जायेगा।

हम जानते हैं कि जिसे आज हम हिंदी कविता कहते हैं उसकी शुरुआत आदिकाल से होती है, भले ही वह शुरुआती दिनों में संपन्न वर्गों को चित्रित करती हो किन्तु अपनी मूल संवेदना में हिंदी साहित्य सामान्य मानवता का विरोधी नहीं रहा। आदिकाल से लेकर आधुनिकाल तक हम उन अमर कवियों को जानते हैं जो जनता की जुबान पर आज भी जीवित हैं।

भारतीय चिंतन और साहित्य का स्रोत वैदिक साहित्य है इसलिए अपनी बात को मजबूरन वहीं से शुरु करना पड़ रहा है। यह साहित्य अनेक युगों में तैयार हुआ और अनेक विरोधी विचारों से भरा पड़ा है, इनमें व्यक्ति की समस्याओं का समाधान भी है और जीवन जीने की कला का माध्यम भी जो वर्तमान में भी विवाद का विषय बने हुए हैं। प्रगति भी वहाँ है और अवरोध भी। प्रतिक्रियावादियों ने भी वहीं से निर्देश प्राप्त किए और प्रगतिशील शक्तियाँ भी इसी साहित्य में से आगे बढ़ी। वेद–उपनिषद की हर पंक्ति से सहमत होना न तो आवश्यक है और न संभव। हम इस वैदिक–औपनिषदिक साहित्य को अपनी समग्रता में समझते तो कुल मिलाकर वह समतापोषक, अग्रगामी और उदारचरित साहित्य सिद्ध होगा।

स्वस्थ सामाजिक संघटन का आधार अन्न की समान हिस्सेदारी है। जो लोग दुनिया भर को अपना कुटुम्ब कहते थे, सामाजिक और आध्यात्मिक स्तर पर साथ बैठकर खाने की कम्यून भावना से सबकी बुद्धि–तेजस्वी होने की कामना करते थे, सबके सुख के लिए सारी दुनिया का क्लेश ओढ़ने को बेताब रहते थे, जो पतिगृह जाती हुई सूर्या से कहती थी कि गृहस्थी को ही अपनी सीमा न मान लेना, दुनिया बहुत बड़ी है, चराचर सभी तुम्हारे रास्ते में हैं– "दिविपन्थाचराचर।"[27] और यही विराट भावना भारतीय साहित्य का आधार बनी। वो दूसरी बात है कि अपने आपको सवर्ण मानने वाले लोगों ने साहित्य को अपनी खातिर कूड़ा कर दिया। ऋग्वेदिक काल में जो सामाजिकता की विराट भावना थी वही भावना

उत्तरवैदिक काल में क्षीण होती चली गई। व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंधों को लेकर भारतीय दृष्टि यह मानती है कि समाज के उत्कर्ष के लिए व्यक्ति का उसमें विलयन अनावश्यक नहीं है। वह समाज के उन्नयन के साथ ही व्यक्ति की सत्ता को अक्षुण्ण रखना उचित मानती हैं। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में लिखा है कि वह पुरुष है जो न सिर्फ दो आँखों से देखता है, न दो पैरों से चलता है और न दो हाथों से काम करता है। वह सहस्र आँखों से देखता है, सहस्र पाद से चलता है और सहस्र बाहुओं से कर्मरत है उसके हजार मस्तक हैं, लेकिन वह एक है। यह सामूहिक जीवन की अवधारणा है और यही सामूहिक जीवन की अवधारणा जो पूर्ण रूप से प्रगतिवादी काव्य में पनपती है, लेकिन गौर करने की बात यह है कि साहित्य के केंद्र में व्यक्ति प्रतिष्ठित है। भारतीय साहित्य और हिंदी साहित्य की यह परंपरा रही कि उसके केंद्र में मनुष्य ही रहा है चाहे वह किसी भी काल का साहित्य रहा हो यही परंपरा साहित्य में लोक–जीवन के रूप में जन्म लेती है।

चूँकि मानव विकास अनुभवों की धरती पर होता आ रहा है इस मानव विकास में मनुष्य के अच्छे–बुरे दोनों प्रकार के अनुभवों का समायोजन रहा है और इन अनुभवों की धरती पर ही कला का जन्म होता है अर्थात् अनुभवों की सरजमीं ही कला–सृजन का माध्यम बनती है चाहें वह अनुभव किसी भी क्षेत्र के हों उससे मूलतः कला का ही जन्म होता है और यह अनुभव परंपरा के रूप में चले आते हैं। पीढ़ी–दर–पीढ़ी समयान्तराल का प्रभाव इनमें साफ–साफ नजर आता है। कला का क्षेत्र चाहे चित्रकला, राजनीति विज्ञान, दर्शन या फिर साहित्य हो इनमें निरंतर विकास में ही यह अनुभव सहायक होते हैं। जब हम काव्य की बात करते हैं तो कविता अनुभव के क्षेत्र में उस नदी के समान है, जो आगे बढ़ती रहती जिसमें कोई ठहराव नहीं है जो अपना रास्ता बनाती चली जाती है। कोई भी बाधा उसको रोक नहीं पाती वह निरंतर अपने मार्ग पर आगे की ओर अग्रसर होती जाती है।

इसी प्रकार कविता के विकास की भांति मानव अनुभवों का भी क्रमिक विकास होता जाता है और हमें हिंदी कविता का इतिहास बताता है। वह निरंतर प्रगति के मार्ग पर अग्रसर रही है और यह कविता मानव के अनुभवों पर आधारित है जो अपने समय के यथार्थ को अभिव्यक्त करती है।

कविता कवि की चेतना, बुद्धि, कल्पना उसके बोध और परिवेशगत काल की अभिव्यक्ति है, कविता का सृजनकर्ता जो कवि होता है उसके भीतर उस कवि और कविता के भीतर काल व समाज का चित्रण ही होता है। व्यक्तिवादी चेतना उसमें कहीं नहीं होती और जिस कविता में व्यक्तिवादी चेतना होती है वह भी समाज सापेक्ष होती है।

चूँकि साहित्य समाज की अभिव्यक्ति है, जिसके माध्यम से कवि के हृदय में जो भावों का ज्वर उमड़ रहा होता है साहित्य उसके परिस्कार और उन्नयन का माध्यम बनता है। साहित्य के माध्यम से मानव सत्ता का अध्ययन किया जाता है। मानव संवेदना समाज के विकास के साथ–साथ परिवर्तित होती रहती है चूँकि मानव सामाजिक प्राणी है, इसलिए उसके सामाजिक, सांस्कृतिक राजनीतिक व आर्थिक हित एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। जब समाज का विकास की प्रक्रिया में परिवर्तन होता है तो मानवीय चेतना के अनुसार काव्य के स्वरूप में भी बदलाव आता है। कवि हमें जिस युग से परिचित कराना चाहता है उसके भाव–विचार, संवेदना, कल्पना, बिम्ब, प्रतीक, किंवदंति उस काल से संबंधित होती है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मानना है कि– "प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।"[28] और इसी परिवर्तन के साथ–साथ कविता प्रगतिशीलता की ओर अग्रसर होती है। आदिकालीन काव्य की लोक–संवेदना की परख करने से पहले उसकी पृष्ठभूमि को देखना अनिवार्य सा बन गया है, क्योंकि कविता की शुरुआत

इसी भाषा में काव्य–सृजन कर रहे थे। और इनके काव्य में लोक–शब्दावली के साथ–साथ जनपदीय लोक–जीवन का ही वर्णन है। परवर्ती अपभ्रंश को तो अवहट्ठ या देश भाषा मिश्रित अपभ्रंश भी कहा जाता है परवर्ती अपभ्रंश काव्य के अंतर्गत, उक्ति–व्यक्ति प्रकरण, वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता, कीर्तिपताका व पदावली जैसी प्रसिद्ध रचनाओं का सृजन हुआ है जिनके माध्यम से इन कृतिकारों की लोक–संवेदना का पता चलता है। क्योंकि इन कवियों ने लोक–भाषा (जन–भाषा) और कथारूप में प्रबंध काव्यों की रचना की इनमें खूब उक्तियों व लोक में प्रचलित रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है। इस समय सामाजिक संक्रमण काल में सभी रचनाएँ सामाजिक जन–जीवन से प्रेरणा ले रही थी, क्योंकि कोई भी कला हो उस पर सामाजिक मानसिकता का प्रभाव जरूर होता है। लेखक या कवि की मानसिकता समाज की परछाइयों से निर्मित होती है, क्योंकि – "साहित्यिक रचनाएँ और कलाकृत्तियाँ मनुष्य के मस्तिष्क में पड़नेवाले, जन–जीवन के प्रतिबिम्बों की उपज है। जनता का वास्तव में साहित्य और कला के लिए कच्चे माल की खान जैसा होता है, ऐसा कच्चा माल जो अपने स्वाभाविक रूप में होता है, जो अनगढ़ होते हुए भी बेहद सजीव, समृद्ध और मौलिक होता है।"[31] इसलिए यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि आदिकालीन कवियों की लोक–संवेदना सामाजिक जन–जीवन की ही उपज है, इस जन–जीवन की उपज उनके सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक व आर्थिक जीवन से मिलती है। हालांकि यह सत्य है कि कवियों का आम जनता से कम संपर्क था परंतु समाज में जो अंधविश्वास, रूढ़ियाँ व किंवदंतियाँ प्रचलित थी उनका बहुत ही सजीव वर्णन इस काव्य में मिलता है क्योंकि – "अपभ्रंश भाषा जन–साधारण की भाषा थी फिर भी उसमें कविता होती रही।"[32] क्योंकि विद्यापति ने भी लोक–भाषा व अपभ्रंश दोनों ही भाषाओं में काव्य लिखा था और विद्यापति के काव्य में लोक–चेतना का चित्रण मिलता है। पंडितों ने तो आम जन को धोखे में रखा हुआ था उनका भी इन्होंने

विरोध किया, सरहपा ने पंडितों की बाह्याचारों–मिथ्याचारों का विरोध करते हुए उनको फटकार लगायी –

"पंडिअ सअल सत बखाणाई। देहहि रूद्ध वसंत न जाणइ
अमणागमणण तेन विखंडिआ तोपि णिलज्जइ भणइ हऊँ पंडिअ।"[33]

स्वयंभू मानवीय जीवन से संवेदनात्मक स्तर पर जुड़े है क्योंकि –"पउम चरिउ सामान्य जन को संबोधित करता है; पंडित जन को नहीं।"[34] सोमप्रभसूरी ने जो 'कुमारपाल प्रतिबोध' काव्य लिखा यह प्राकृत भाषा में है अर्थात् शुक्लजी के शब्दों में गद्य–पद्य–मय संस्कृत–प्राकृत काव्य लिखा जिसमें लोकोक्तियों व कहावतों का खूब प्रयोग हुआ है –

"बेस बिसिट्ठह बारियइ जइवि मणोहरगत
गंगाजल पक्खलियदि सुणिहि कि होई पक्ति।"[35]

आदिकाल की कविता का जब हम अध्ययन करते हैं तो उसमें हमें मुख्य रूप से दो प्रकार के कवि मुख्यतः दिखाई देते हैं, एक तो वह कवि जो सिद्धनाथ जैन थे, जो संप्रदायी थे, दूसरे प्रकार के वे कवि थे जो किसी धार्मिक मताचार के आग्रही नहीं थे वे राजदरबार के आश्रित चारण कवि थे। इस काल के कवियों में सरहपा, स्वयंभू लुइपा, मुनि हेमचंद्र, अब्दुर्र रहमान, शालिभद्रसूरी, सोमप्रभसूरी, चन्दबरदाई आदि कवि थे। इन सभी कवियों ने अपने समय की परिस्थितियों को अपने काव्य में चित्रित किया, अपने समाज की रूढ़िवादिता, जातिभेद की अस्वाभाविकता और बाह्यचारों की निंदा की और मानवीय स्वाभाविक जीवन की उपयुक्तता प्रतिपादित की। इन कवियों ने कविता में राग–रागनियों के माध्यम से कविता में लय की प्रतिष्ठा चढ़ाई। ये राग–रागनियाँ लोक–जीवन पर आधारित होती थी, शास्त्रीय दृष्टि से इनकी कविताओं में रस की निष्पति नहीं होती है। क्योंकि इनका उद्देश्य 'कवित्त रस' की निर्झरिणी बहाना नहीं था, उनका उद्देश्य तो जनता को पाखण्डियों के पाखण्ड से मुक्त कर नैसर्गिक जीवन व्यतीत करने

की प्रेरणा देना था, समाज की विषमता को मिटाना था, वे जनता के कवि थे इसलिए जनता की भाषा में बोलते थे।

आदिकाल के सिद्ध–नाथों की कृतियों में यद्यपि कलात्मकता नहीं है पर उनमें समाज में व्याप्त भेदभाव और पाखण्ड पर तीखा प्रहार कर 'व्यक्ति' को सहज प्राकृतिक ढंग से जीवनयापन करने की प्रेरणा अवश्य दिखाई देती हैं। सिद्ध सरहपा (786 ई.) में यद्यपि स्वयं ब्राह्मण थे फिर भी उन्होंने ब्राह्मणों के ढोंगी जीवन परिपाटी की कठोर शब्दों में निंदा की है वे कहते हैं –

"ब्रह्मणहिं म जाणन्त हि भेउ। ऍवइ पढ़िअउ चचउ वेउ।
भट्टि पाणि कुस लई पठन्त। घर ही वइसी अग्नि हुणन्त।"[36]

विद्यापति तो 'कीर्तिलता' में सामान्य जन–जीवन की ही अधिकतर बात करते हैं। लोक काव्य कृतियों में जगनिक के 'आल्हा' का बड़ा महत्व है, वह उत्तर भारत और मध्य भारत के जनकंठों में आज भी विराजमान है। आदिकालीन काव्य में जन–भाषा और जन–शैली के माध्यम से जन–जीवन का व्यापक चरित्र–चित्रण मिलता है। इस काव्य में धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी प्रकार के शोषण के विरुद्ध तीखा विद्रोह झलकता है।

चंदबरदाई की कृति 'पृथ्वीराज रासो' इस काल की सर्वाधिक चर्चित कृति है, जिसमें पृथ्वीराज चौहान का जीवन वर्णित है, देश की रक्षा, विदेशी आक्रमण से रक्षा करने का उसने भरसक प्रयास किया, इस कृति में जगह–जगह लोक में प्रचलित कहावतों का प्रयोग किया गया है। चंद ने काव्य शिल्प के कई ऐसे प्रयोग किए हैं जो साहित्य को लोक के पास ले जाते हैं, यही कारण है कि आज भी लोक–जीवन में इस कृति का महत्व बरकरार है।

लोक–जीवन की विराट् भावना हमें भक्तियुगीन काव्य में देखने को मिलती है। काव्य का मुख्य उद्देश्य लोक–मंगल की भावना था। भक्ति आंदोलन शास्त्रीय धर्म का विरोध करने वाला लोक धर्म के उत्थान का आंदोलन है, इस काल में

मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच द्वंद्व का है। भक्ति आंदोलन "उस लोक धर्म उस युग के किसानों और दस्तकारों के विविध वर्गों–उपवर्गों की मिली–जुली भावनाओं की अभिव्यक्ति है और दमनकारी सामाजिक व्यवस्था तथा सांस्कृतिक मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह की चेतना है।"[37] भक्तिकालीन कविता की मूल चेतना मानवतावादी है। भक्तिकालीन कवि मनुष्य सत्य के प्रति आस्था के प्रसार का अवसर देखता है। भक्तियुगीन काव्य मनुष्य को हीन दृष्टि से नहीं देखता, उसके प्रति तिरस्कार की अपार संभावनाओं में उसका गहरा विश्वास है। "भक्तिकाल के कवि लोक–जीवन की चिंता करने वाले कवि थे जिन्हें जगत्गति नहीं व्यापती ऐसे आत्मलीन लोगों को तुलसीदास ने 'मूढ़' कहा है।"[38]

सच्चे अर्थों में भक्तियुगीन काव्य लोक का बखान करने वाला काव्य है वह सामान्य जन की चिंता करने वाला काव्य है। तुलसी के राम के बारे में विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है कि "राम का त्यागी रूप अपूर्व है जो अपने सुखों की जरा भी परवाह नहीं करता। जिस व्यक्ति को दूसरों की और मान–मर्यादा की इतनी चिंता हो और जो सर्वजन के हित–साधन के लिए जीवन–भर इतना शोक और संघर्ष झेल सकता हो वही राम हो सकता है।"[39] यह राम का वह रूप है जो सामान्य जन एवं लोक की चिंता करने वाला है। इन भक्तियुगीन कवियों का लक्ष्य तो मानवीयता की रक्षा करना था, चाहे भले ही उन्होंने धर्म का सहारा लिया हो। भक्तिकाल की कविता में सामाजिक चेतना और युगबोध का एक ऐसा स्तर है जहाँ संवेदनशील कवि की चेतना सामाजिक विषमता, पाखंड, धार्मिक रूढ़िवाद और जनता की पीड़ित चेतना से कवि बेचैन दिखाई देता है। कबीर एक ऐसे कवि थे जिनकी सामाजिक चेतना में उस युग का जीवन प्रतिबिंब हुआ है। कबीर ने हिंदू और मुसलमानों में फैले पाखंडों का पर्दाफाश किया है। कबीर की कविता में एक सुधारवादी सामाजिक संदेश है, एक जनवादी चेतना है। कबीर की लोक–जीवन की चिंता से कविता में एक समन्वित संस्कृति की संभावना पैदा हुई

थी। कबीर ने किताबी ज्ञान की जगह लोकजीवन के अनुभव को प्राथमिकता दी। कविता करना कबीर का प्रयोजन नहीं था परंतु जगत् अनुभूति प्रकट हुई तो स्वयं कविता का निर्माण हो गया। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके बारे में लिखा है कि "कविता करना उनका लक्ष्य नहीं था, फिर भी उनकी उक्तियों में कवित्व की ऊँची से ऊँची चीजें प्राप्य हैं। दोहे और पद उन्होंने पूर्ववर्ती साधकों से अपनाए थे पर इनमें अपनी छाप डाल दी थी। वे साधना के क्षेत्र में युग गुरु थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा थे।"[40]

जायसी की कविता के अगर आध्यात्मिक संदर्भों को हटाकर देखा जाए तो जायसी की कविता लोकपक्ष के काफी नजदीक है, जायसी की कविता में मानवीय प्रेम तथा लौकिक–अलौकिक प्रेम सभी का अद्‌भुत सामंजस्य है और जब हम 'पद्मावत' की कथा को देखते हैं तो पाते हैं कि जायसी ने 'प्रेम की पीर' को तमाम सारी मान्यताओं के साथ लौकिक भूमि पर बड़ी सहृदयता तथा बड़ी भावुकता के साथ प्रस्तुत किया है। जायसी ने भारतीय हिंदू घरों में चली आ रही लोक कथाओं और फारसी प्रेम का ऐसा ताना–बाना बुना कि आध्यात्मिक प्रेम भी लोक में विचरण करने वाला प्रेम बन गया।

यह कोई स्वप्न–लोक की कथा नहीं बल्कि आम लोगों का प्रेम बन गया और वह जीवन–जगत् की नाना दशाओं की ओर भी झाँकता नजर आता है। और उसमें दुःख भी है एवं सुख भी। वियोग–संयोग का ऐसा मिश्रण भी है जो हिंदी साहित्य में अन्य जगहों पर दुर्लभ है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी ने जायसी के बारे में लिखा है कि – "पद्मावत के पढ़ने से यह प्रकट हो जाता है कि जायसी का हृदय कैसा कौमल और प्रेम की पीर से भरा हुआ था। क्या लोकपक्ष क्या अध्यात्मपक्ष में, दोनों ओर उसकी गूढ़ता, गंभीरता और सरसता, विलक्षणता दिखाई देती है।"[41] जायसी की कृति 'पद्मावत' लोकजीवन से सरोबार है इसके भीतर कितनी ही भारतीय लोक–कथाएँ, प्रसंगवश आ गई हैं, 'पद्मावत' में लोक–जीवन

को, लोक–कथाओं के माध्यम से, भारतीय लोकाचार, भारतीय तीर्थस्थानों और देवी–देवताओं के माध्यम से बड़ा ही भव्य एवं मूर्त चित्र जायसी ने आँखों के सामने ला दिया है।

जायसी मध्यकाल में सांस्कृतिक समन्वय के प्रतीक रूप में उपस्थित हैं, यही स्थान कबीर का है, पर एक की दृष्टि प्रेममूलक है दूसरा अधिक जुझारु है। जायसी की प्रेमकल्पना आध्यात्मिक संकेत, रहस्यवादी दृष्टि सब सूफी दर्शन का आधार लेते हुए भी लोकोन्मुखी है। उन्होंने हिंदू प्रेम कहानियों के माध्यम से भारतीय लोक–जीवन को व्यक्त करने की चेष्टा की और राजा रत्नसेन की कथा लेकर उसका लौकिक रूप में चित्रण किया। पात्रों को मानवीय भूमि पर उतारकर उनका चित्रण करने के मूल में जायसी की सांस्कृतिक चेतना निश्चित रूप में सक्रिय है। नागमती अपनी वियोग अवस्था में अपने रानीपन को भूलकर गरीब मध्यकाल की उस नारी की ओर संकेत करती है जिससे अपनी झोपड़ी को वर्षा के दिनों में हर बार छाना पड़ता है। यहाँ जायसी ने सामान्य लोक को उपेक्षित नहीं होने दिया है।

कबीर, जायसी, तुलसीदास और सूरदास आदि इन भक्तियुगीन कवियों ने अपने काव्य में लोकजीवन का चित्रण तो किया परंतु कविता में लोक–जीवन का चित्रण किस रूप में किया यह प्रश्न बन जाता है, पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि हर समय की अपनी मांग होती है, और चूँकि साहित्य समाज का दर्पण है, इसलिए समाज में जो परिस्थितियाँ एवं समस्याएँ पनप रही थीं, संवेदनशील कवि तो इन समस्याओं की ओर उन्मुख होगा और यही क्षेत्र उसके चिंतन का होगा। मध्ययुगीन कविता में प्रगति की अवधारणा आवश्यक थी, इस समय चुनौती दर्शन की ओर नहीं स्वयं जीवन की ओर से आई थी लेकिन सामंतवाद के उस घृणित युग में ना तो कोई हिंदू राजा ही और ना कोई मुस्लिम राजा ही इस जीवन की समस्या का निदान कर पाया। हमेशा की तरह संतों और भक्त कवियों को ही इस

बीमार सामाजिकता का उपचार खोजना था। गरीबी, अशिक्षा, विस्थापन की समस्याएँ, अंधविश्वास, वर्णवैषम्य, नारीत्रास मध्यकाल का दमघोंटू वातावरण था। इन सभी समस्याओं के निदान के लिये इन संत कवियों ने नया रास्ता तलाश किया। इन कवियों ने लौकिकता के माध्यम से ही अलौकिकता की बात की। इनकी भक्ति का लक्ष्य मानवता की रक्षा करना और लोकमंगल की स्थापना करना था। भक्ति आंदोलन वस्तुतः जन आंदोलन था। क्योंकि सत्ता और आभिजात्य की ऊपरी सतहों पर यथावत भेदभाव की हरकतों के चलते हिंदू और मुस्लिम जनता इसके सहारे भीतर से जुड़ती रहीं और स्वस्थ जीवन–मूल्यों की खोज करती रहीं। आगे जाकर जब कलाएँ सत्ताश्रित हुई तो कलामूल्यों के नाम पर, महज सत्ताधारियों के विलास का साधन हो रहीं थी और सामाजिक जीवन प्रायः उपेक्षित होने लगा।

सत्रहवीं शती के माध्यम से उन्नीसवीं शती के मध्य तक का काल रीतिकाल माना जाता है, यों तो रीतिकाल का पहला कवि केशव को माना जाता है, क्योंकि जो रीतिकाल की प्रवृत्तियाँ हैं वे समस्त प्रवृत्तियाँ केशव के काव्य में मिलती हैं उनका बीजारोपण केशव के काव्य में हो चुका था। जो रीतिकाल में जाकर पनपी या जन्म लिया जैसे – दरबारी मनोवृति, चमत्कार का ढोंग और अलंकार का मोह और आचार्यत्व का प्रदर्शन और सबसे बड़ी घटना इस समय यह हुई कि इस समय साहित्य में प्रायः सामान्य जन–जीवन उपेक्षित ही रहा और लोक–जीवन से अलग–थलग रहकर कविता का सृजन किया गया इसी संदर्भ में केशव को रीतिकालीन कवियों का अगवा माना जाता है और इसी केशव के बनाए हुए रास्ते को सभी रीतिकालीन कवियों ने अपनाया अर्थात् अनुसरण किया। रीतिकालीन कवियों का सीमित भाव क्षेत्र, शृंगारप्रियता और साहित्यिक सुरुचि के अभाव की चर्चा करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है कि – "इसका कारण जनता की रुचि नहीं, आश्रयदाता राजा–महाराजाओं की रुचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और

वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।"[42] शुक्लजी ने यहाँ रीतिकालीन कविता को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है कि जिसे रीतिकालीन कविता कहा जाता है वह वास्तव में दरबारी कविता है और उसकी परंपरा संस्कृत से चली आ रही थी, लक्षण–ग्रंथ, नायिका और अलंकारों का प्रयोग, सूक्त प्रियता, अश्लीलता, हिंदी रीतिकालीन कविता को ये सभी गुण संस्कृत साहित्य से विरासत में मिले थे। इसलिए यह समझना कि देश में मुसलमानों का राज हो जाने से जनता की रुचि पतित हो गई थी और सामंतों की कुरुचि के लिए जनता को दोषी ठहराना उचित नहीं होगा। सामान्यतः रीतियुगीन कविता में आम जन उपेक्षित ही था। काव्य सिर्फ और सिर्फ सामंत लोगों के मनोरंजन का साधन था अगर हम इसमें लोक–जीवन की खोज करेंगे तो हमें निराशा ही हाथ लगेगी।

रीतियुगीन कविता के बाद भारतेंदु युग आता है जो नए युग का प्रभात लेकर आया, जिसमें लोक–जागरण के अनेक मोर्चे स्थापित किए गए और रीतिकालीन कविता के मकड़जाल से काव्य को मुक्त कराया गया। रीतियुगीन कविता मध्ययुगीन कविता का उत्तरार्द्ध और भारतेंदु से पहले का युग था अर्थात् दो उजालों के मध्य यह एक अंधकार का युग था। इस युग में राजा–महाराजाओं के ही कवि एवं कलाकार आश्रित थे। और इन्हीं राजा–महाराजाओं का अनुसरण क्षेत्रिय सामंतों ने किया, इस युग के अधिकांश प्रमुख कवियों की आजीविका का साधन राज–दरबारों से प्राप्त आय थी और इन कवियों का कविकर्म ही राजाओं की संतुष्टि बन गया था। इस तरह रीतिकालीन कवि सामान्य जन–जीवन से दूर की बात करने लगे। आम जनता के लिए तो यह युग आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक और वैयक्तिक दृष्टि से घोर विषमता, निराशा, पराभाव और घुटन का युग था, वहीं धर्मपरिवर्तन के प्रतिरोध में उन्हें और संकटों एवं अस्थिरता का सामना करना ये सभी परेशानियाँ आम लोगों के जन–जीवन को बर्बाद करके रख देती थी; दूसरी ओर सामंत लोगों ने अपने सुख की खातिर प्रजा के साथ

अमानुषिक क्रूरता और उपेक्षा का व्यवहार किया। युद्धों और विलासिता के साथ प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष अत्याचारों और इनकी लापरवाहियों की कीमत जनता को चुकानी पड़ती थी। रीतिकालीन कवियों में कबीर, जायसी, तुलसीदास और सूरदास जैसी गंभीरता नहीं थी, भक्ति युग के कवि लोकवादी थे परंतु रीतियुगीन कवि लोकवादी नहीं थे। रीतिकालीन दरबार के घृणित और चापलूसी से भरे वातावरण को चित्रित करते हुए देव ने लिखा है –

> "साहेब अंध, मुसहिब मूक, सभा बहिरी रंग रीझ कौ नाच्यौ
> भूल्यौ तहाँ भटकयौ भट औघट, बूडिबे को कोउ कर्म न बाच्यौ
> भेष ने सूझयौ कह्यौ समुझायौ न, बतायौ न कहा रूचि राच्यौ
> देव तहाँ निबरें नट की, बिगरी मति सिगरी निसि नाच्यौ।"[43]

इस प्रकार रीतिकालीन कवियों ने अपनी काव्य प्रतिभा को श्रृंगारवर्णन और राजाओं की स्तुति में ही खर्च की। इस प्रकार इस काव्य में प्रायः लोक–जीवन की उपेक्षा ही हुई थी।

भारतेंदु युग के साहित्य ने पहली बार सामंती एवं आभिजात्य वर्गीय शक्तियों से अपना नाता तोड़कर सामान्य मानव से नाता जोड़ा। इसी दृष्टि से इस युग के काव्य को प्रगतिशील चेतना से संपृक्त आधुनिक बोध के प्रथम काव्य की संज्ञा भी दी जाती है। यहाँ आधुनिक बोध से तात्पर्य अस्तित्व संकट नहीं बल्कि मानव अस्तित्व की गरिमा के बोध से हैं। सामान्य मानव की संघर्ष क्षमता में आस्था और विश्वास उसकी पहचान का कहीं अधिक महत्वपूर्ण लक्षण है। भारतेंदु युग के काव्य की सर्वप्रमुख विशेषता लोकोन्मुख चेतना ही है जिसने मनुष्य को अपनी आस्था का आधार बनाया। "भारतेंदु का पूर्ववर्ती काव्य संतों की कुटिया से निकलकर राजाओं और रईसों के दरबार में पहुँच गया था, उन्होंने एक तरफ तो काव्य को फिर से भक्ति की पवित्र मन्दाकिनी में स्नान कराया और दूसरी तरफ उसे दरबारीपन से निकाल कर लोक–जीवन के आमने–सामने खड़ा कर दिया।"[44]

लोकजीवन को जीवंत वाणी देने के साथ ही भारतेंदु युग के लेखकों ने जीवन को एक खास दिशा दी और यह दिशा थी – काव्य को लोकजीवन की ओर मोड़ देना। इस युग का काव्य जनवादी है। "जनवादी इस अर्थ में है कि वह भारतीय समाज के पुराने ढाँचे से संतुष्ट न रहकर उसमें सुधार भी चाहता है। वह केवल राजनीतिक स्वाधीनता का साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और भाई–चारे का भी साहित्य है। भारतेंदु स्वदेशी आंदोलन के ही अग्रदूत न थे वे समाज सुधारकों में भी प्रमुख थे। स्त्री–शिक्षा, विधवा–विवाह आदि के वे समर्थक थे।"[45] भारतेंदु युगीन काव्य में प्रगतिशील चेतना अपनी संपूर्ण तेजस्विता और गरिमा के साथ विद्यमान है। इस युग का काव्य सही अर्थों में जन–काव्य है, उसमें जन–जीवन के विविध रूपों की तस्वीर तो मिलती ही है, जनवादी संघर्ष के दायित्व–बोध से भी वह अनुप्राणित है। भारतेंदु युग के लेखकों की भाषा सही मायने में लोक भाषा है, जो लोक प्रचलित शब्दों को ही अपना साध्य मानती है, उसमें प्रांतीय बोलियों का भी पुट है।

द्विवेदी युग में किसानों का आर्थिक शोषण अपनी चरम सीमा पर था क्योंकि ब्रिटिश राजसत्ता का स्वरूप पूँजीवादी कम था, जमींदारी स्वरूप अधिक था। वह देश की जनता का शोषण जमींदारी हैसियत से अधिक करते थे। "हिंदुस्तान की जमीन की मालिक रिआया नहीं अंग्रेजी गवर्नमेंट है। यह रिआया से लगान वसूल करती है।"[46] प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में ही द्विवेदीयुगीन काव्य ने आम–आदमी के शोषण का विरोध किया। इस प्रकार द्विवेदीयुगीन साहित्य ने सामान्य मनुष्य का बहुत ही नजदीक से चित्रण किया और काव्य में सामाजिक चेतना का विकास हुआ।

छायावादी कविता में प्रगतिशील चेतना दोहरे अर्थ में थी एक तो सीधे प्रगतिशील अर्थ में दूसरे अपनी समय के अनुसार नई चेतना के रूप में। शुरुआती दिनों में तो छायावादी कविता आम–जीवन से दूर कल्पना लोक में ही विचरण कर

रही थीं, हालांकि उसके पीछे भी एक कारण था; क्योंकि यथार्थ रूप में सामंती शोषण एवं साम्राज्यवादी शोषण से मुक्ति संभव नहीं थी। छायावादी कवियों को इन बंधनों से व्यक्ति को मुक्त कराना था, इसलिए इन कवियों ने भावों का प्रसार कल्पना के माध्यम से किया, जब हकीकत में सुख नहीं मिला तो कल्पना के माध्यम से इन्होंने स्वतंत्रता रूपी सुख की तलाश की। वैसे स्वच्छंदतावादी काव्य जिसे प्राय 'प्राक्' छायावादी काव्य की संज्ञा दी जाती है, आम–जन के बहुत नज़दीक का काव्य था, लेकिन 1935–36 के आस–पास छायावादी कविता में यथार्थ का चित्रण होने लगा क्योंकि यह समय एवं परिस्थितियों की मांग थी, वैसे इन छायावादी कवियों ने कभी अपने आपको प्रगतिवादी कवि घोषित नहीं किया इन्होंने तो अपनी कविता का क्षेत्र व्यापक बनाया था। 1936 के आस–पास काव्य का क्षेत्र ठोस भूमि ने ले लिया, पहली बार छायावाद के अंतिम दिनों में यथार्थ की बात की जाने लगी और काव्य में मानवीय चेतना प्रमुख हो गई। कविता में पहली बार किसान के गंदे पैरों की धूलि दिखाई देने लगी पंत ने 'ग्राम्या' की कविता में लिखा कि –

"देख रहा हूँ आज विश्व को मैं ग्रामीण नयन से।
सोच रहा हूँ जटिल जगत पर जीवन पर जन मन से।"[47]

पंत की 'युगवाणी' (1939), 'ग्राम्या' (1940) में, निराला की काव्यकृतियों में 'कुकुरमुत्ता' (1942), 'अणिमा' (1943), 'बेला' (1943), 'नये पत्ते' (1946) इन काव्य कृतियों में इन कवियों की दृष्टि पूर्ण रूपेण प्रगतिशील है। पंत भी छायावादी काव्य को अलंकारिक काव्य मानकर मार्क्सवादी दर्शन की ओर उन्मुख हुए। पंत जी ने एक ओर तो युगांत काव्य संग्रह में 'मिट्टी' और 'बीज' के 'बिम्ब' का उद्घाटन किया दूसरी ओर 'बांसों का झुरमुट' कविता में श्रमजीवियों का बड़ा ही भव्य चित्र खींचा है –

"ये नाप रहे निज घर का मग / कुछ श्रमजीवी घर डगमग डग
भारी है, जीवन, भारी पग।"[48]

'ग्राम्या' काव्य संग्रह में किसान जीवन के विविध रंगों का चित्रण किया गया है, जिसमें किसान के विविध संदर्भों, रूपों और संवेदनाओं को मूर्त्त किया गया है। एक बूढ़े किसान का चित्र नीचे अंकित हैं –

"अंधकार की गुहा सरीखी उन आंखों से डरता है मन
भरा दूर तक उनमें दारुण दैन्य–दुख का नीरव रौदन
फूट रहा उनसे गहरा आतंक, क्षोभ, शोषण, संशय, भ्रम
दूब कालिमा में उनकी कंपता मन, उनमें मरघट तम।"[49]

सन् 1935 के बाद निराला की कविताओं में छायावादी एवं लोकोन्मुखी दोनों धाराएँ समांतर चलती रहीं या यूँ कहा जाए कि छायावाद में प्रगतिवाद, प्रगतिवाद के ही रूप में आया। 'निराला' की अनेक कविताओं में ग्राम, प्रकृति, खेत–खलिहान और ग्राम्य जीवन के यथार्थपरक चित्र हैं। निराला की कविताओं में 'बादल–राग' डिप्टी साहब आये, 'जल्द–जल्द पैर बढ़ाओ' जैसी कविता में लोक–जीवन को देखा जा सकता है। इन कविताओं में लोक–जीवन पूर्ण रूप से चित्रित है।

छायावादी कविता दो आधारों पर लोक–जीवन का उद्घाटन कर रहीं थी– एक मोर्चा तो उसने सामंती शोषण व्यवस्था के विरुद्ध खोला दूसरा मोर्चा उसने साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध खोला। यह दोनों ऐतिहासिक दृष्टि से भी क्रांतिकारी और प्रगतिशील कदम थे। छायावादी काव्य में जो व्यक्ति का उन्मेष था वह समाज से उन्मुख नहीं था बल्कि उन्मुख थी सामंती शोषण शक्तियों से। छायावाद में हर तरह के बंधनों से मुक्ति का आह्वान है, निराला ने तो उन धार्मिक बंधुओं को भी दुतकारा है जो गरीबों को तो खाना नहीं देते बल्कि हनुमान की औलाद बंदर को 'पुए' खिलाते हैं इस संवेदनहीनता की निराला ने कठोर शब्दों में निंदा की है –

"झोली से पुए निकाल लिए / बढ़ते कपियों के हाथ दिए
देखा भी नहीं उधर फिर कर / जिसे ओर वह भिक्षु इतर
चिल्लाया किया दूर दानव / बोली मैं – धन्य श्रेष्ठ मानव।"[50]

निराला की उपर्युक्त कविता गरीबों के प्रति संवेदनशीलता का प्रतीक भी है और उनकी यथार्थ दृष्टि का प्रमाण भी। प्रसाद जी कर्म को प्रधानता देते हुए 'कामायनी' में लिखा है –

"हार–बैठे जीवन का दांव / जीतते जिसको मर की वीर।"[51]

और कर्मरत मनुष्य के माध्यम से ही प्रसाद जी ने आनंद अखण्ड की स्थापना की है –

"समरस था जड़ या चेतन सुंदर साकार बना था
चेतनता एक विलसती आनंद आखण्ड घना था।"[52]

इसी आनंद की स्थापना प्रसाद जी का प्रमुख धर्म है और इसी मानवतावादी दृष्टि का प्रगतिवाद परिचायक है। शुरुआती दिनों में छायावादी कवि चाहें काल्पनिक सुख तलाश कर रहे हों परंतु 1935 के बाद वह कल्पना लोक से घूम फिरकर काव्य के माध्यम से सामान्य जन की समस्याओं को उठाने लगा और सामान्य जन–जीवन की बात करने लगा। 'पंत' और 'निराला' के काव्य में प्रगतिवादी चेतना साथ–साथ चलती रहीं जो प्रगतिवादी काव्य में सघन रूप धारण कर लेती हैं।

यूँ तो हिंदी काव्य प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से आदिकाल से ही लोक–जीवन को अभिव्यक्त करता रहा है। भारतीय साहित्य अर्थात् हिंदी साहित्य सामान्य जनता का विरोधी कभी नहीं रहा। आदिकाल से लेकर छायावाद तक का काव्य किसी ना किसी रूप में लोक–जीवन को अभिव्यक्त करता रहा है, परंतु कविता अनेक समस्याओं के अपने साथ लेकर चल रही थी जैसे आदिकालीन कविता की सामान्य विशेषताएँ सामंती व्यवस्था एवं राजा–महाराजाओं की वीरता की गाथाओं

का वर्णन। भक्तिकाल में सामान्य जन का उद्धार एवं लोकमंगल की कामना और रीतिकाल में काव्य का उद्देश्य ही संस्कृत साहित्य की परिपाटी का अनुसरण करते हुए लक्षण ग्रंथों का निर्माण, इस रीतिकालीन परिपाटी को भारतेंदु युगीन काव्य ने तोड़ा, इस युग में काव्य का क्षेत्र राजा–महाराजाओं की चार दीवारी से निकलकर बाहर खुले वातावरण में आ गया और कवियों ने आमजन का चित्रण कविता के माध्यम से किया। जब कविता को दरबारी परंपरा से छुटकारा मिला तो कविता में प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से सामान्य जन–जीवन भी नजर आने लगा। और द्विवेदी युग तो मानवता की ही दुहाई देता रहा। इसके पश्चात् छायावादी काव्य शुरुआती दौर में तो समाज एवं समाज में फैली रूढ़ियों व शोषण का जिक्र कविता में अप्रत्यक्ष रूप से किया परंतु सन् 1935 के आस–पास छायावादी कविता यथार्थ भूमि पर आ गई और अब किसान, मजदूरों तथा शोषित लोगों का यथार्थ चित्रण कवि करने लगे। परंतु कविता की परंपरा पुरानी पद्धति पर ही चली आ रही थी। प्रगतिवादी कवियों ने इस परंपरा को एकदम नकार कर कविता का ढाँचा ही बदल दिया। प्रगतिवादी कवियों ने अपने काव्य में उस लोक का चित्रण किया जो जनता आर्थिक रूप से पिछड़ी हुई थी अर्थात् यूँ कहा जाए कि आर्थिक पिछड़ापन, भुखमरी, गरीबी–अमीरी, आम लोगों के सुख–दुःख का चित्रण और वह जनता जो सामान्य अधिकारों से वंचित थी, उनका चित्रण प्रगतिवादी कवियों ने किया और यही सब उनकी कविता का मुख्य प्रयोजन था। और यह प्रगतिवादी कविता लोक हृदय की स्थायी निधि बन गई । इस लोक–जीवन की अभिव्यक्ति को निराला ने ग्रामीण किसान के माध्यम से इस तरह अभिव्यक्त किया –

"जीर्ण बाहु है शीर्ण शरीर / तुझे बुलाता कृषक अधीर /
ए विप्लव के वीर।"[53]

इसी सामान्य वर्ग को हिंदी जगत् में पहली बार प्रगतिशील आंदोलन के रूप में चिन्हित किया गया है; जहाँ कवियों ने कविता में आर्थिक और राजनीतिक

अधिकारों की मांग की। इन कवियों ने सामान्य मानवता की बात की और पिछड़े वर्ग के हितैषी के रूप में यह काव्य प्रकट होता है। यह हिंदी काव्य का सचेतन काव्य है। यह हिंदी साहित्य का सचेतन रूप से मानवता, लोकवाद और प्रगतिवाद का सबसे बड़ा आंदोलन था।

"यह हिंदी प्रगतिशील आंदोलन अंग्रेजी के प्रोग्रेसिव लिट्रेचर का हिंदी अनुवाद है, 1935 में एम फार्स्टर के सभापतित्व में पेरिस में प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन नामक अंतर्राष्ट्रीय संस्था का जन्म हुआ। हिंदुस्तान में उसके दूसरे साल 1936 में डॉ. मुल्कराज आनंद और सज्जाद जहीर व प्रेमचंद की अध्यक्षता में लखनऊ में पहला अधिवेशन हुआ।"[54]

इस दौर के जितने भी कवि हुए उनको प्रगतिशील कवि माना जाता है। प्रगतिवादी कवियों ने सीधे–सीधे आम जनता की और उनके आर्थिक व राजनीतिक अधिकारों की बात की। इस तरह प्रगतिवादी कवियों के काव्य में अलग तरह का लोक–जीवन है जो पूर्व कवियों में नहीं है, कविता में यथार्थ और सामाजिकता की बात की गई, इस वर्ग के कवि किसान और मजदूरों की सुख–सुविधाओं के लिए भी चिंतित थे, कविता में पहली बार किसानों के दुःख, दर्द एवं मजदूरों का झुरमुट नजर आया। इस आंदोलन के माध्यम से कविता में पहली बार जनपदीय संस्कृति उभर कर सामने आयी, कवियों ने प्रकृति को भी स्थानीय लोक से जोड़कर देखना शुरु किया। नागार्जुन की मैथली बोली में लिखी प्रकृति सम्बन्धी कविता में जनपदीय संस्कृति की भरमार है।

> "याद आता मुझे वह तरऊनी ग्राम / याद आती लिचियाँ और आम
> याद आते मुझे मिथिला के रूचिर भू–भाग / याद आते धान।"[55]

केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी कविताओं में बुंदेलखंड की ग्राम प्रकृति और लोक रिवाजों, मेलों, उत्सवों आदि के चित्र खींचे हैं। स्थानीय जनजीवन का चित्रण कर केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी लोक दृष्टि का परिचय दिया है।

प्रगतिवादी कवियों में अपने गाँव और जनपद के प्रति मोह बढ़ा, यह मोह कई बार विगत की स्मृति के रूप में भी अभिव्यक्त हुआ है। नागार्जुन ने अपनी जन्मभूमि तरऊनी तथा त्रिलोचन ने अपनी भूमि चिरानपट्टी की याद में दर्जनों कविताएँ लिखी। केदारनाथ अग्रवाल ने ग्रामीण बोध की अनेक कविताएँ लिखीं –

"गाँव की औरतें / सूखा किसान फाँक–फाँक कर
पीठ पेट एक कर हाड़ तोड़ / मरती है पत्थर रगड़कर।"[56]

या फिर किसान जीवन को इन शब्दों में बांधा है –

"यह धरती है उस किसान की / जो बैलों के कंधों पर
बरसात धाम में / जुआ भाग्य का रख देता है।"[57]

केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन के बाद लोक–जीवन का सशक्त चित्रण त्रिलोचन की कविता में मिलता है। त्रिलोचन के संपूर्ण रचनाक्रम में लोक–जीवन ही मौजूद हैं, त्रिलोचन की कविता अंतर्वस्तु के स्तर पर उसमें लोक–जीवन, लोक विश्वास एवं लोकभाषा का जीवंत प्रतिबिंब है।

भाषा के स्तर अवधि का जितना रचनात्मक प्रयोग उन्होंने कविता के अंतर्वस्तु को प्रखर बनाने में किया है वो तुलसी और निराला की सहज याद दिलाती है, वास्तव में किसान जीवन की लय, मानस युक्ति का सधा हुआ राग त्रिलोचन की कविताओं में है। त्रिलोचन का काव्य समकालीन कवियों से अलग रहा है। "त्रिलोचन सबसे पहले किसान को किसान के रूप में जीवन के लिए प्रकृति से लड़ते हुए किसान के रूप में चित्रित करते हैं।"[58]

प्रगतिवाद का जन्म मानव मुक्ति के स्वप्न के साथ हुआ। अतः उसने मनुष्य को अपना साध्य बनाया और वैज्ञानिक विश्व दृष्टि पर आधारित चिंतन–विधि मार्क्सवाद का उस पर गहरा प्रभाव पड़ा। प्रगतिवादी कवि के पास सामाजिक यथार्थ को देखने की विशेष दृष्टि होती है। एक वर्गचेतना प्रधान दृष्टि। प्रगतिशील कवि जीवन की स्वीकृति के कवि हैं। जीवनधर्मी लगाव उनके यहाँ रेखांकित करने

की चीज हैं। प्रगतिवादी कवियों ने लोक काव्य रूपों का सहारा लिया। आल्हा या लावनी जैसे रूपों को अपनाया। भाषा के माध्यम से भी ये कवि लोक–जीवन के नजदीक हैं।

आदिकालीन कविता से ही लोक–जीवन की हिंदी काव्य में एक परंपरा चली आ रही है, जिसके भिन्न–भिन्न रूप हमारे सामने आते हैं जो आते–आतें प्रगतिवाद में और सघन रूप धारण कर लेती हैं। भारतीय हिंदी साहित्य सामान्य मानवता का कभी विरोधी नहीं रहा, भारतीय हिंदी साहित्य ने आम–जन का हमेशा साथ दिया है और हिंदी कवियों ने आम आदमी, किसान–मजदूर के दुःख दर्दों को अपने साहित्य का आधार बनाया।

संदर्भ संकेत

---

[1] चिंतामणी, प्रथम भाग, पृ.122

[2] सिद्धांत कौमुदी, पृ.429

[3] ऋग्वेद, 10/90/28

[4] महाभारत, आ.प. 1/84

[5] आ.प. 1/101–21

[6] कृष्णदेव उपाध्याय – लोक–साहित्य की भूमिका, पृ.11

[7] वही, पृ.7

[8] इंसाइक्लोपीडिया ऑफ इंडिया, वॉल्यूम–9, प1.446

[9] हजारी प्रसाद द्विवेदी – जनपद अंक अक्टूबर, 1942, पृ.65

[10] त्रिलोचन पाण्डेय – लोक–साहित्य का अध्ययन, प.105

[11] कृष्णदेव उपाध्याय – लोक–साहित्य की भूमिका, प.275

[12] वाई. एम. सोकोलोव – रशियन फोकलोर, पृ.552

[13] सी. एम. चोरा, हीरोइक पोइट्री, पृ.363

[14] कृष्णदेव उपाध्याय – लोक–साहित्य की भूमिका, प.62

[15] नामवर सिंह – छायावाद, पृ.77

[16] इंडियन एन्टिक्वेयरी, भाग XL (40), पृ.1951

[17] महेन्द्रपाल शर्मा – आचार्य रामचंद्र शुक्ल की इतिहास दृष्टि, पृ.9

[18] आचार्य रामचंद्र शुक्ल – हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ.12

[19] रामविलास शर्मा – आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, पृ.33

[20] आचार्य रामचंद्र शुक्ल – हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ.2

[21] हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ. 210

[22] रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ.40

[23] वही, पृ.41

[24] वही, पृ.42

[25] मैनेजर पाण्डेय – शब्द और कर्म, पृ.107

[26] मैनेजर पाण्डेय – शब्द और कर्म, पृ.119

[27] ऋग्वैदिक संहिता, 10.85.11, सं. श्री पाद दामोदर साहब, पृ.697

[28] आचार्य रामचंद्र शुक्ल – हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ.2

[29] हजारी प्रसाद द्विवेदी – हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ.26

[30] नामवर सिंह – हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ.22

[31] याओजे–दुंग – कला और साहित्य, लोक–चेतना, पृ.4

[32] हजारी प्रसाद द्विवेदी – हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ.36

[33] आचार्य रामचंद्र शुक्ल – हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ.6

[34] बच्चन सिंह – हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ.39

[35] आचार्य रामचंद्र शुक्ल – हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ.13

[36] राहुल सांकृत्यायन – हिंदी काव्यधारा, पृ.4

[37] मैनेजर पांडेय, अनभै साँचा, पृ.10

[38] मैनेजर पाण्डेय – शब्द और कर्म, पृ.106

[39] विश्वनाथ त्रिपाठी –लोकवादी तुलसी, पृ.17

[40] हजारी प्रसाद द्विवेदी – हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ.94

[41] आचार्य रामचंद्र शुक्ल – हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ.55

[42] रामविलास शर्मा – आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, पृ.123

[43] वियोग हरि (सं.), ब्रजमाधुरीसार, पृ.307

[44] हजारी प्रसाद द्विवेदी – हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ.396–397

[45] रामविलास शर्मा – भारतेंदु युग, पृ.10

[46] महावीर प्रसाद द्विवेदी – संपत्ति शास्त्र, पृ.109

[47] सुमित्रानंदन पंत – ग्राम्या, पृ. 170

[48] सुमित्रानंदन पंत – युगांत, पृ.31

[49] सुमित्रानंदन पंत – ग्राम्या, पृ.24

[50] निराला – अनामिका, पृ.25

[51] प्रसाद – कामायनी, पृ.52

[52] प्रसाद – कामायनी, पृ.123

[53] रामविलास शर्मा – निराला : राग–विराग, पृ.66

[54] नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां, पृ.60

[55] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.28

[56] केदारनाथ अग्रवाल – जो शिलाएं तोड़ते हैं, पृ.77

[57] केदारनाथ अग्रवाल – गुल मेंहदी, पृ.21

[58] मैनेजर पाण्डेय – आलोचना, अंक–39, पृ.23

दूसरा अध्याय

प्रगतिशील कवियों की काव्य दृष्टि और लोक–जीवन की परंपरा

2.1 प्रगतिशीलता और लोक–जीवन

2.2 काव्य संवेदना की प्रकृति और लोक–जीवन

2.3 आधुनिकता बनाम लोक–जीवन

2.4 सौंदर्य अभिरुचि और लोक

"प्रगतिशील साहित्य अंग्रेजी के प्रोग्रेसिव लिटरेचर का हिंदी अनुवाद है अंग्रेजी साहित्य में इस शब्द का प्रचार 1935 के आस–पास हुआ। जब ई. एम फार्स्टर के सभापतित्व में पेरिस में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' नामक अंतर्राष्ट्रीय संस्था का प्रथम अधिवेशन हुआ। हिंदुस्तान में उसके दूसरे साल डॉ. मुल्क राज आनंद और सज्जाद जहीर के उद्योग में जब उस संस्था की शाखा खुली और प्रेमचंद की अध्यक्षता में लखनऊ में उसका प्रथम अधिवेशन हुआ तो यहाँ प्रोग्रेसिव लिटरेचर अथवा प्रगतिशील साहित्य का प्रचार हो गया। कालक्रम अथवा प्रकारांतर में यह प्रगतिवाद हो गया।"[1]

प्रगतिवाद शब्द से अभिप्राय उस साहित्यिक प्रवृत्ति से है जिसमें एक प्रकार की इतिहास चेतना, सामाजिक यथार्थ दृष्टि, वर्ग चेतन विचारधारा, प्रतिष्ठता या पक्षधरता गहरी जीवनाशक्ति, परिवर्तन के लिए सजगता और एक प्रकार की भविष्योन्मुखीं दृष्टि मौजूद हों। व्यापक अर्थों में प्रगतिवाद न स्थिर मतवाद न स्थिर काव्य है, उसमें निरंतर विकास हुआ है। वर्तमान प्रगतिशीलता के व्यापक अर्थ में ऐतिहासिक चेतना, जीवन विवेक, जीवनानुभवों के विस्तार, यथार्थ के मूल रूपों की समझ, जीवनधर्मी सौंदर्यबोध, प्रकृति बोध का उल्लेख किया जाता है।

प्रगतिवादी कविता जिस चेतना से प्रेरित होकर सामने आयी, उसमें समाज का स्थान सर्वोपरी है, उनकी दृष्टि समाज की ओर रही है। उसने उपयोगितावादी मूल्यों को न केवल कविता से जोड़ दिया; अपितु अनिवार्य बनाकर भी प्रस्तुत किया। प्रगतिवादी कवियों की सामाजिक दृष्टि अत्यंत स्पष्ट रही है। प्रगतिवादी कवियों ने अपनी नवीन चिंतना और प्रगतिशील दृष्टि के आलोक में समाज के ब्राह्य और आंतरिक दोनों पक्षों को सूक्ष्मता से देखा व समझा है, यही कारण है कि कवि नव–मानवता एवं नव–निर्माण के लिए कटिबद्ध है।

प्रगतिवादी कवियों की सामाजिक दृष्टि में जहाँ एक ओर दुःख से पीड़ित, दलितों और शोषितों के प्रति सहानुभूति का भाव दिखाया है; वहीं उन्हें पूर्वापेक्षा

अत्यधिक महत्व देकर उनके प्रति कल्याण भावना व्यक्त की गई है। सामाजिक विषमताओं को दूर करके एक ऐसे समाज की आधारशिला रखने की प्रेरणा और भावना सभी प्रगतिवादी कवियों में मिलती है, जिसमें मनुष्य वर्गभेद से ऊपर उठ सके और मनुष्यता से नाता जोड़कर अपना जीवन–व्यापन कर सके तथा अपने आपको समाज का महत्वपूर्ण अंग समझ सके। "प्रगतिवादी समाज के नाम पर चलाया गया वह साहित्यिक आंदोलन है जिसमें जीवन और यथार्थ के वस्तु सत्य को उत्तर छायावादी काल में प्रश्रय मिला और जिसने यथार्थवाद की ओर समस्त साहित्यिक चेतना को अग्रसर होने की प्रेरणा दी। प्रगतिवाद का उद्देश्य था – साहित्य में उस सामाजिक यथार्थवाद को प्रतिष्ठित करना, जो छायावाद के पतनोन्मुख काल की विकृतियों को नष्ट करके एक नये साहित्य और नये मानव की स्थापना कर सके और उस सामाजिक सत्य को विभिन्न स्तरों को, साहित्य में प्रतिपादित होने का अवसर प्रदान करे।"[2]

रचना का समाज पर एक खास असर होता है। वह समाज को बदलती है, मगर उसका समाज को बदलने का हथियार दूसरा है। वह गोली के द्वारा एक बर्बर दुनिया को बदलकर एक हिंसात्मक संसार का विकल्प प्रस्तुत नहीं करती। कामू ने कहा था कि एक वर्ग ऐसा है जो इतिहास बनांता है। दूसरा वह है जो इतिहास भोगता है। सच्चा लेखक सताए हुए लोगों का पक्षधर होगा। वह उनकी मुक्ति और स्वतंत्रता के लिए एक न्यायपूर्ण समाज व्यवस्था के लिए संघर्षशील होगा। मानवीय अस्तित्व को मिटाने वाली शक्तियों का विरोध करेगा और यही काम प्रगतिवादी कवियों ने बहुत बड़े स्तर पर किया, जिसमें कामू की मनोकामना पूर्ण होती नजर आती है।

प्रगतिशीलता और लोकजीवन

हम जिस समाज में जीते हैं, वह जीवित मनुष्यों का समाज है, जिस समाज में हम रहते हैं उस समाज में हमारे आगे–पीछे भी कुछ लोग रहते हैं। हम एक

दूसरे से बंधे होते हैं। समाज में रहते हुए मनुष्य को कुछ बुनियादी सामाजिक मान्यताओं का निर्वाह करना पड़ता है। समाज की रूढ़ियों की उपेक्षा की जा सकती है पर सामाजिक जिम्मेदारियों की नहीं। दुनिया में विसंगतियों की कमी नहीं है। इन सभी विसंगतियों को ध्यान में रखकर प्रगतिशील कवियों ने अपने धर्म का निर्वाह किया और इन विसंगतियों को मिटाने का प्रयास किया। जब हम कहते हैं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है तो समाज में रहते हुए उसे समानता और उसके अधिकारों से वंचित नहीं रखा जाना चाहिए; क्योंकि मनुष्य को उसके अधिकारों से वंचित रखा जाता है तब समाज में वर्गभेद की खाई बढ़ती जाती है और यही वर्गभेद की खाई असमानता को जन्म देती है। जहाँ पर व्यक्ति को अपने स्वार्थ की खातिर ज्यादा लड़ना पड़ता है और समाज की चिंता कम होती है। संपूर्ण समाज की चिंता तो उसे ही होती है जो दुःखों, कष्टों का भुक्तभोगी होता है, अगर हम इसको मुक्तिबोध की भाषा में कहें तो जिसे सौंदर्यानुभव और जीवनानुभव हो। उनके ही शब्दों में मुक्ति सभी के साथ में है अकेले में नहीं। कबीर और तुलसीदास की कविता भी इसी भोगे हुए यथार्थ की साक्षी है, परंतु उस समय समाज की परेशानियाँ दूसरी थी वैसे पीड़ित आम आदमी तब भी था और इसीलिए कबीर का काव्य आज भी प्रासंगिक है। परंतु कुछ शोषित शक्तियों ने आम नागरिक को उसके अधिकारों से वंचित रखा, स्वतंत्रता के बाद भारतीय संविधान में भी मूल अधिकार और सामाजिक समानता की बात की गई है। "भारतीय संविधान मूल अधिकारों के साथ–साथ विधिक समानता सुनिश्चित करता है और सामाजिक समानता भी।"[3]

सामाजिक समानता और वर्गभेद की बात काव्य में 1930 के आस–पास होने लगी थीं, जो 1936 के आस–पास पूर्ण रूप से दबे–कुचले व्यक्तियों के अधिकारों के पक्ष में और शोषक शक्तियों के विपक्ष में खड़ी हो जाती है। इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता रही है कि कवि ने अपने अधिकारों के लिए ही

स्वांत–सुखाय की बात नहीं की बल्कि संपूर्ण भारतीय समाज के दुःखी मानव की बात करता है। प्रगतिवादी साहित्य समाज का साहित्य एवं व्यक्तियों के अधिकारों का साहित्य है। सच्चा कवि वही होता है जो अपने समय की जीती–जागती तस्वीर प्रस्तुत करें। उस समय सन् 1936 के आस–पास, उपन्यास, नाटक, कहानी, कविता सभी विधाओं में सामाजिक अधिकारों की मांग उठने लगी थी। "कला एक साधन है जिसके द्वारा मानव वास्तविकता से जूझता है और उसे आत्मसात करता है।"[4] वैसे जब छायावादी कविता का जन्म हुआ था कुछ समय बाद ही किसान–मजदूरों की बात उठने लगी थी गांधीजी का दक्षिण अफ्रीका से सन् 1915 में भारत वापसी से इन मांगों ने आग में घी का काम किया था। "चंपारण खेड़ा और अहमदाबाद आंदोलन ये तीनों संघर्ष स्थानीय आर्थिक मांगों से जोड़कर लड़े गये, चंपारण और खेड़ा आंदोलन किसानों का आंदोलन था और अहमदाबाद का आंदोलन औद्यौगिक मजदूरों का आंदोलन था।"[5] कमोबेस छायावादी काव्य के उत्तरार्द्ध में यह सभी मांगे उठने लगी थी वैसे शुरुआती दिनों में छायावादी में 'मैं' की ही भावना प्रबल थी उसने सामाजिक रूढ़ियों का तो विरोध किया परंतु वह खुलकर प्रगतिवादी कविता के जैसा समाज के प्रति अपनी संवेदनशीलता को नहीं प्रकट कर पाया।

इतिहास में पहली बार कांग्रेस के वार्षिक सन् 1929 के लाहौर अधिवेशन में किसानों से संबंधित मांगों को उठाया था। डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है कि "इन घटनाओं ने कमोबेश हमारी आर्थिक, सामाजिक और नैतिक स्थिति को प्रभावित किया, निम्न मध्यवर्ग की स्थिति पहले से भी अधिक खराब हुई और किसान मजदूरों में भयंकर असंतोष फैला।"[6] इन्हीं युगीन परिस्थितियों के कारण वर्ग चेतना और वर्ग संघर्ष की भावना पैदा हुई यही भावना प्रगतिवाद की यथार्थ दृष्टि का प्रेरक तत्व बना तथा साहित्य में प्रगतिवाद के विकास का आधार भी। प्रगतिवाद जब शुरु हुआ उस समय में छायावाद एक साहित्यिक प्रवृति के रूप में अपने

विकास के बाद उतार पर था। कोई भी साहित्यिक आंदोलन एकाएक प्रकट नहीं होता बल्कि उसके साहित्य में लक्षण पहले से ही प्रकट होने लगते हैं। इसी प्रकार छायावाद में सामाजिक यथार्थ चेतना प्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त होने लगी थी। कविता कवि के मन की गुफा से बाहर निकलकर अपना यथार्थपरक सामाजिक उत्तरदायित्व महसूस कर रही थी। सन् 1921 में निराला ने कविता लिखी – "जब कड़ी मार पड़ी दिल हिल उठा।" निराला ने 'परिमल' की भूमिका में कविता की मुक्ति को मनुष्य की मुक्ति से जोड़ा और इसी समय 'कविता' में भी कल्पना के स्थान पर ठोस वास्तविकता और वैयक्तिकता के स्थान पर सामाजिकता का आग्रह सन् 1930 के बाद से ही बढ़ने लगा था। आलोचना में आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी 'लोक मंगल की साधनावस्था' पर जोर दे रहे थे और इस तरह के साहित्य के सामाजिक मूल्यांकन के लिए मार्ग प्रशस्त कर रहे थे।"[7] कविता में कल्पना के स्थान पर ठोस वास्तविकता एवं व्यक्ति के स्थान पर सामाजिकता का आग्रह होने लगा और छायावाद के अंत में यह भावना प्रबल होती ही जा रही थी और कविता में अब आत्म प्रसार के स्थान पर ग्रामीण जीवन के विविध संदर्भों, रूपों और संवेदनाओं को मूर्त किया गया।

लगभग दारुण दैन्य दुःख का नीरव रुदन ही अब कविता का अभिप्राय बन चुका था। कहते हैं कविता समाज की अभिव्यक्ति होती है या मैथ्यू आर्नल्ड के शब्दों में कहें कविता जीवन की आलोचना है। समाज में आतंक, क्षोभ, शोषण, संशय एवं भ्रम की स्थिति तो शोषक शक्तियों ने प्राचीन समय से ही उत्पन्न कर रखी थी। वो दूसरी बात है कि कवि ही देर से जागृत हो और वह समाज को ध्यान में रखकर काव्य का सृजन करें। और आम जन अपने अधिकारों के प्रति सचेत हों, भारतीय समाज में भी इसी समय बड़े–बड़े परिवर्तन हो रहे थे, पुराने विचारों और विश्वासों की जड़ें हिलती जा रही थी और एक नये समाज का उदय होता जा रहा था एक नई तस्वीर सामने आती जा रही थी। भारतीय साहित्यकारों

का धर्म है कि वे जनजीवन में होनेवाले क्रांतिकारी परिस्थितियों को शब्द और रूप दें और राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर चलाने में सहायक बने। प्रेमचंद ने अपने अध्यक्षीय भाषण में भारतीय लोक की जो लेखकों को दिशा दी थी वो आज भी उल्लेखनीय है : "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो, जो हम में गति, संघर्ष, बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[8]

"हमारे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं जो हमारे हृदय पर संसार की नश्वरता का आधिपत्य दृढ़ करते हैं, जिनसे हमारे हृदयों में नैराश्य छा जाए। हमें उस कला की आवश्यकता है, जिसमें कर्म संदेश हो।"[9] आम आदमी के हालात ऐसे हो गये थे कि जितना वह दिनभर मजदूरी करता था उसको पेट–भर खाना तक नहीं मिलता था बल्कि यूँ कहा जाए कि आम आदमी को दो वक्त का भोजन भी नसीब नहीं होता और ना तन ढँकने के लिए कपड़ा, वर्ण विभाजन की खाई भी बढ़ती ही जा रही थी। गरीब और भी ज्यादा गरीब, अमीर और भी ज्यादा अमीर होता जा रहा था। साहित्य समाज की अभिव्यक्ति है उसका आधार जीवन है। जीवित साहित्य समाज में परिवर्तन चाहता है वह भूखे लोक के प्रति भी सचेत होता है जैसे –

"वस्त्र के अम्बार रचता जा रहा हूँ, /
पर न टुकड़ा एक तन को पा रहा हूँ।
नग्न बच्चे, चीथड़ों में हाय नारी
सिसकती है, पर न कहती बिचारी।"[10]

ऐसे ही मजदूर के दुःख–दर्द और पीड़ा को मुंशी प्रेमचंद ने गोदान में दिखाया है, गोदान तो गरीब किसान–मजदूर की दुःख भरी गाथा है। "दिन भर लू और धूप में काम करने के बाद वह घर आता है, तो बिल्कुल मरा हुआ, अवसाद

का नाम नहीं। उसी उत्साह से काम करने दूसरे दिन जाता, रात को भी खाना खाकर डिब्बी के सामने बैठ जाता और सुतली कातता, कहीं बारह एक बजे सोने जाता। धनिया भी पगला गई थी, उसे इतनी मेहनत करने से रोकने के बजाय खुद उसके साथ बैठी–बैठी सुतली कातती।"[11] भारतीय मजदूर की यह नियति बन गई है या बना दी गई है कि वह रात–दिन मजदूरी करता है और उसको दिन–रात जीने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। और इसी संघर्ष में वह खत्म हो जाता है, यह भाग्य–विधाता के पास से नहीं लेकर आया बल्कि सत्ता पर बैठे लोगों और शोषक शक्तियों ने आम–जन का जीना दुर्लभ कर दिया है। केदारनाथ अग्रवाल ने साहित्य के संबंध में अपनी बात को इस प्रकार रखा है – "मेरे लिए काव्य चेतना का अर्थ है – मानवीय मूल्यों की चेतना। उनके शब्द हैं मानवीय चेतना उत्तरोत्तर विकसित होती चल रही है। वह जन–जीवन से कटकर भ्रांतियों से ग्रसित हों। जीवन के अबाध प्रवाह को व्यंजित करने वाली चेतना ही कविताओं का आधार हो।"[12] इस कथन में केदार की मानवीयता चेतना छिपी हुई है जो निरंतर प्रगतिशीलता का द्योतक है। समाज के प्रति हम संवेदनशील साहित्य उसे ही कहेंगे जो लोक–जीवन का उद्घाटन करें और आम आदमी के हित की बात करें। रामधारी सिंह की कविता इसी ओर संकेत करती है –

"श्वानों को मिलते दूध–वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं
युवती के लज्जा–वसन, बेच, जब ब्याज चुकाए जाते हैं
मालिक जब तेल–फुलेलों पर पानी से द्रव्य बहाते हैं
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमंत्रण।"[13]

प्रगतिशील कविता का अबाध प्रवाह अपने साथ लेकर चलती है; उसका आधार है मार्क्सवाद। केदार श्रेष्ठ प्रगतिशील कवि हैं उनमें लोक चेतना के साथ–साथ जन–चेतना भी है। प्रगतिशील कवियों में मानव चेतना का अबाध रूप देखने को मिलता है उनका काव्य सृजन तो मानवीयता की पृष्ठभूमि पर ही हुआ

है। "प्रगतिशील काव्य धारा में जितनी व्यापकता है, उतनी विविधता भी है। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध, शमशेर और त्रिलोचन की रचनाशीलता को समग्रता में देखने पर उसकी व्यापकता और विविधता का बोध होता है।"[14]

प्रगतिवाद का एक खास उद्देश्य था सामाजिकता की स्थापना करना; जो साहित्य मानवता की स्थापना करें, सामाजिक सत्य को अपनी कविता में सृजन करें और उस सत्य को साहित्य में प्रतिपादित होने का अवसर प्रदान करें। वर्ग संघर्ष की साम्यवादी विचारधारा और उस संदर्भ में नये मानव, नये हीरो की कल्पना इस साहित्य का उद्देश्य था, प्रगतिशील कविता का लक्ष्य जनवादी शक्तियों को संघटित करना था। अब उसकी आत्म में सामान्य मानव निवास कर रहा था।

काव्य संवेदना की प्रकृति और लोक–जीवन

सन् 1936 के आस–पास राष्ट्रीय और सामाजिक उथल–पुथल का युग था। वह संक्राति काल था दो प्रकार की संस्कृतियों का, दो प्रकार के मूल्यों का, साथ ही साथ संघर्ष काल था, साम्राज्यवाद से राष्ट्रवाद का, सामंती सभ्यता व महाजनी सभ्यता से शोषित किसानों और मजदूरों की शक्तियों का "आधुनिक काल में पूंजीवादी व्यवस्था की प्रक्रिया और संस्कृति के स्वरूप पर उसके प्रभावों के विरुद्ध व्यापक और तीखी प्रतिक्रिया, संस्कृति, कला और साहित्य के क्षेत्र में हुई। संस्कृति के औद्योगिकरण और व्यवसायीकरण से बचने के व्यवस्था का विरोध और अस्वीकार का रुख अपनाया।"[15]

पूंजीवादी समाज व्यवस्था के विरोध में जन–मानवता के हितैषियों ने विरोध प्रकट किया जो साहित्यकार आम–जन के रक्षक के रूप में खड़े हो गये, जिन्होंने सामंती और शोषण शक्तियों का विरोध किया, विरोध किया साम्राज्यवाद का और मांग की आमजन के अधिकारों की। जरूरत थी ऐसे साहित्य की जो जन–जीवन की समस्याओं को समझ सके और यही समझ प्रगतिशील कवियों ने दी।

"प्रगतिशील साहित्य कोई स्थिर मतवाद नहीं है, बल्कि यह एक निरंतर विकासशील साहित्य धारा है, जिसके लेखकों का विश्वास है कि प्रगतिशील साहित्य लेखकों की स्वयंभू अंतःप्रेरणा से उद्‌भुत नहीं होता, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक विकासक्रम से वह भी परिवर्तित और विकसित होता रहता है और इसके सिद्धांत उत्तरोत्तर स्पष्ट तथा अधिक पूर्ण होते चलते हैं।"[16]

प्रगतिशील कविता का क्षेत्र व्यापकता लिए हुए था, इसलिए अनेक मांगों में प्रगतिशील कविता लिखी जा रही थी राजस्थान के जनकवियों ने राजे–राजवाड़ों और नरेशों के उत्पीड़न के विरुद्ध क्रांतिकारी कविताएँ लिखी। जय नारायण व्यास ने लिखा है –

"कल ही तुम पर गाज गिरेगी, तेरा तभी समाज गिरेगा
तख्त गिरेगा ताज गिरेगा, नहीं रहेगी तेरी सत्ता
बस्ती तो आजाद रहेगी जालिम तेरे सब जुल्मों की
उसमें कायम याद रहेगी।"[17]

प्रगतिशील कवि आम जन के साथ होता है वह आम–जन को अपने अधिकारों के प्रति लड़ने के लिए सचेत भी करता है और पूँजीपति वे शोषक शक्तियों का विरोध भी करता है। प्रगतिशील कविता मात्र भावनाओं की कविता नहीं है यह तो भावनाओं और यथार्थ का एक ऐसा कुंज है जिसमें जनता की परेशानियों का विवेचन किया गया है, ये कवि तो लोक से जुड़े हुए कवि थे यही कारण है कि उनकी कविता में यथार्थता और व्यापकता आ सकी क्योंकि उनकी दृष्टि बहुत विस्तृत एवं चेतनाग्रस्त थी। उन्होंने गाँव के लोक को भी देखा और शहरी लोक को भी। सर्वप्रथम इसी लोक की ध्वनि निराला की कविता में दिखाई देती है। नामवर सिंह ने लिखा है कि "कविता में पहली बार किसानों विशेषतः मजदूरों के गंदे पैरों की पवित्र धूल दिखाई दी संध्या के झुटपुटे में पंतजी को चिड़ियों के 'टी–वी.टी.' – टुट–टुट के साथ डग–मग घर का मग मापते हुए कुछ

श्रमजीवी दिखाई पड़ गए और टीले पर उन्हीं के नंगे तन, गंदे बदन वाले लड़के भी आ गए।"[18] निराला में भी प्रगतिशीलता उनकी संपूर्ण रचनाओं में देखी जा सकती है। उनकी कविताओं में कहीं तो सामाजिक–आर्थिक विषमताओं का बोध अंकित है और कहीं शोषितों, भिक्षुओं और असहायों का करुणा–जनक चित्र अंकित है। ऐसी कविताओं में उनकी 'तोड़ती पत्थर', 'भिक्षुक', 'विधवा', 'सेवा प्रारंभ', 'कुत्ता भोंकने लगा' आदि है। यही प्रगतिवादी चेतना स्पष्ट और सघन रूप में प्रगतिवादी कवियों में देखने को मिली।

वैज्ञानिक, भौतिकवाद और यांत्रिक आधुनिकता से पनपता युद्धवाद आर्थिक दुरावस्था से सर्वहारा वर्ग–दलित शोषित, अभावग्रस्त मजदूर दोहरे शिकंजे में कसा खेतिहर भारतीय समाज के लिए 'खाज में कोढ़' की तरह साबित हुआ। साहित्य पर इसका अनुकूल प्रभाव पड़ा। जनवादी एवं लोकवादी मनोभाव के साथ ही प्रगतिवादी सृजन काव्य का वातावरण बनता गया। कवियों की दृष्टि भारतीय समाज के सामाजिक और आर्थिक ढाँचे पर गई, धीरे–धीरे समाजवादी दृष्टि का विकास हुआ जो मार्क्स के सिद्धांतों पर आधारित है, जिसने सामाजिक विषमता को जन्म देने वाली शक्तियों के प्रति घृणा का प्रचार किया एवं शोषण का विशद चित्रण और आर्थिक कारण की मीमांसा, परिवर्तन का नया जीवन दर्शन प्रदान किया।

हिंदी का अधिकांश प्रगतिवादी काव्य कम्युनिस्ट पार्टी के 'मैनिफेस्टो' के अनुसार शोषित मानव और समाज का उद्धार पार्टी के वस्तुवादी कार्यक्रम में देखा जा सकता है। मार्क्स के द्वंद्वात्मक वस्तुवाद और चार्ल्स हाल के वर्ग संघर्ष से प्रगतिवाद को वैचारिक खुराक मिली थी। प्रेमचंद ने अपने अध्यक्षीय भाषण में साहित्यकारों के लिए कहा था – "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाई का प्रकाश हो, जो हम में गति, संघर्ष और बेचैनी

पैदा करें, सुलाये नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[19] भारतीय कवि और लेखक का कर्तव्य है कि तेजी से हो रहे समाज में बदलाव को अभिव्यक्ति दे और काव्य में वैज्ञानिक बुद्धिवाद का समावेश कर देश में क्रांति की भावना व्यक्त करें। उन्हें ऐसे साहित्य का विरोध करना चाहिए जो मानवता की रक्षा न कर सके, जो सांप्रदायिकता को बढ़ावा दे, जो साहित्य शोषण शाक्तियों को पनपने दे, आम–जन का खून चूसे। भारतीय कवि एवं साहित्यकार का यह उत्तरदायित्व है कि ऐसे काव्य की कठोर शब्दों में निंदा करें और समाज को प्रगति के रास्ते पर ले जाएँ। जिस रास्ते पर सामान्य हित की मानवता की रक्षा हो सके। ऐसे काव्य का सृजन करना चाहिए जो फासिज्म एवं शोषण शक्तियों का विरोध कर सके। केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'बाप बेटा बेचता है' में गरीब आदमी की दशा का चित्रण किया है –

"बाप बेटा बेचता है / भूख से बेहाल होकर / धर्म, धीरज, प्राण खाकर
हो रही अनरीति बर्बर / राष्ट्र सारा देखता है / बाप बेटा बेचता है।"[20]

शोषक शक्तियों ने आम आदमी का जीवन दुर्लभ कर दिया था। गरीब आदमी के धर्म, रीति, नीति का मात्र एक ही उद्देश्य था दो वक्त का ठीक से भोजन। यही स्थिति संपूर्ण भारतीय दलित, शोषित समाज की थी जिसे यथार्थ रूप में त्रिलोचन ने अपने काव्य में चित्रित किया है –

"अब तक जो होता आया है, / उसमें जन समाज नहीं है
उसमें मानव को मानव के / सुख–दुःख का ध्यान नहीं है,
उसमें व्यक्तिवाद पनपा है, / उसमें पूंजीवाद हुआ है
इन्हें नष्ट कर शोषित मानव / शाप काट दो जग–जीवन का।"[21]

एक तो प्रथम विश्व युद्ध की किसान–मजदूरों पर मार और किसी न किसी क्षेत्र में पड़ता अकाल व ऊपर से शोषण करने वाली शक्तियों का कहर। सन् 1942 के बंगाल के अकाल ने तो भारतीय आम आदमी का जीवन और भी खराब कर दिया क्योंकि इन परिस्थितियों में जो भी हो रहा था उनसे व्यक्तिवादी भावना

व पूंजीवादी भावना ही पनप रही थी। लोग संपूर्ण समाज के जीवन के लिए नहीं सिर्फ और सिर्फ अपने ही जीवन जीने के लिए लड़ रहा था। मानवता की भावना तो मिटती ही जा रही थी। व्यक्तिवादी भावना ने पूंजीवादी भावना को जन्म देने में प्रमुख सहयोग दिया। इन्हीं सभी शक्तियों का विरोध करता है प्रगतिवादी काव्य। यह काव्य उस सत्ता का विरोध करता है जिसने आमजन से जीने का अधिकार छीन लिया था। गरीब मनुष्य भूख से मर रहा था और नागार्जुन ने इसी भूख से मनुष्य की मृत्यु का चित्रण अपनी कविता में उकेरा है :

"सुनिये महाराज / तनिक भी पीर नहीं / दुख नहीं, दुविधा नहीं
सरलतापूर्वक निकले ये प्राण / सह न सकी आंत पेचिश का हमला।"[22]

लोकप्रिय कविता के बारे में मैनेजर पाण्डेय के विचार है कि "लोकप्रिय कविता वह है जो यथार्थवादी होती है ऐसी कविता दृष्टिकोण और शिल्प दोनों स्तरों पर यथार्थवादी होती है।"[23] मैनेजर पाण्डेय का आशय उस कविता से है जो समाज की स्थिति का यथार्थ रूप में चित्रण करें एवं अपने समय की ऐतिहासिक समझ के साथ–साथ श्रम सौंदर्य का चित्रण करें। इन कवियों ने सामाजिक यथार्थ को अनेक रूपों में देखा अपने जनपद की विभिन्न रंगों का समायोजन उनकी कविताओं में मिलता है जैसे नागार्जुन की कविता में मिथिला का प्रभाव केदार की कविता में बुंदेलखंड की धरती। ये कवि शोषण का विरोध करते हैं और इनकी कविता आमजन के पक्ष में खड़ी है और पूंजीवादी लोगों से घृणा करते हैं। वह श्रम में सौंदर्य देखता है –

"मैंने उसको जब–जब देखा लोहा देखा
लोहा जैसा तपते देखा, गलते देखा, ठलते देखा,
मैंने उसको गोली जैसे चलते देखा।"[24]

प्रगतिवादी कवि ऐसी समाज व्यवस्था चाहता है जहाँ मनुष्य हर बंधनों से मुक्त होकर अपनी आकांक्षाओं को आकार देने में पूरी तरह स्वतंत्र हो।

दैहिक–यातना एवं तनाव से मुक्त होकर अपनी जिंदगी को खुशहाल बना सके। प्रगतिशील कवि अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन नहीं करता, वह तो सामाजिक कवि है इसलिए उसको अपने संपूर्ण ग्राम की चिंता सताती है –

"याद आता मुझे अपना 'तरुउनी' ग्राम
याद आती लीचियाँ और आम
याद आते मिथिला के रूचिर भू–भाग / याद आते धान
याद आते कमल, कुमुदिनी और तालमखान
याद आते शस्यश्यामल जनपदों के
रूप–गुण–अनुसार ही रक्खे गए वे नाम
आते वेणु–वन वे, नीलिमा के निलय अति अभिराम।"[25]

प्रगतिवादी कवियों का ग्रामीण प्रेम प्रयोगवादियों जैसा नहीं है जो चुपके से गाँव में आता है। प्रगतिवादी कवियों का जनपदीय प्रेम स्वस्थ सामाजिक एवं पारिवारिक प्रेम है। वह गाँव में घुसने से पूर्व खेत–खलिहानों में चक्कर लगाता है और उनकी सौंधी महक लेता है। प्रगतिवादी कवि गाँव में अपनी तरह के लोगों को देखता है, किसान के साथ खेतों में रहता है और उसके दुःख–सुख में भी शामिल है –

"मैं तुम्हारे खेत में तुम्हारे साथ रहता हूँ
कभी लू चलती है, कभी वर्षा आती है, तो कभी जाड़ा होता है
तुम्हें कभी बैठा भी पाया तो जरा देर।"[26]

प्रगतिशील कवि एक नयी सभ्यता की नींव डालने में लगा हुआ था – सभी को समानता का अधिकार होगा, कोई भूखा नहीं रहेगा, ऊँच–नीच का भाव नहीं होगा, जिसमें छुआछूत की भावना नहीं होगी कोई भूखा नहीं सोयेगा। ऐसी सभ्यता जिसमें मानवता का विकास होगा, जिसमें कोई किसी का शोषण नहीं कर सकेगा। इसलिए प्रगतिशील कवियों की दृष्टि रोजाना काम आने वाली चीजों पर भी जाती है। प्रगतिशील लेखन "उन मूल्यों की प्रस्तावना भी है जिसमें नयी सामाजिकता

और नव–मनुष्यता का निर्माण होना है, व्यापक सामाजिक मनोभावना, स्वातंत्र्य भावना अधिकार बोध और श्रमधर्मिता के आधार पर एक ऐसे विश्व का निर्माण जहाँ मनुष्य ही मनुष्य का खाद्य न हो, एक शासक दूसरा गुलाम न हो, एक याचक दूसरा दाता न हो।"[27]

नामवर सिंह ने लिखा है कि "अनुभव और वय के अनुसार रचनाओं में प्रौढ़ता आती है।"[28] प्रगतिशील कवियों की रचनाओं में जितना सौंदर्यगत अनुभव समाया हुआ है उतना ना छायावादी कवियों में देखने को मिलता है और ना ही प्रयोगवादी कवियों में। लेखक और कवि में शक्ति जनता से आती है जो कवि सत्य से मुंह मोड़ता है। उसकी रचना अमर कृति नहीं हो सकती अगर अमर काव्य की रचना करनी है तो समाज का यथार्थ चित्रण करना ही होगा। समाज के सत्य को उजागर करना ही होगा और प्रगतिशील कवियों की यह विशेषता रही है कि वह सत्य से भागे नहीं, बल्कि समाज की समस्याओं को एक क्रांति का रूप दिया, इन कवियों का राष्ट्र प्रेम एवं प्रकृति प्रेम व समाज प्रेम इतना सघन है कि पेड़–पौधों से लेकर पशु–पक्षी एवं प्रकृति प्रेम का चित्रण हुआ है –

"पत्ते गिर रहे हैं / खहरा खहरा कर वन–वृक्षों के
पर पलाश हँसते हैं।"[29]

प्रगतिशील कवि का सपना संघर्ष को जन्म देता है। नागार्जुन, त्रिलोचन, केदार जन कवि हैं इनकी कविता जन–निष्ठा से ओत–प्रोत है। इनकी कविता जन–आंदोलन को हवा देती है उनकी कविता जन–क्रांति का उद्‌बोधान है –

"उस जनपद का कवि हूँ जो भूखा–दूखा है
नंगा है, अनजान है, कला नहीं जानता
कैसी होती है, क्या है, वह नहीं मानता।"[30]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल भक्तिकालीन कविता में जिस लोकमंगल की दुहाई दे रहे थे वहीं दुहाई प्रगतिवाद में जनता का रूप धारण कर लेती है। यहीं

प्रगतिवादी कवियों का 'जनता प्रेम' जिन्होंने अपने देश की जनता के दुःख–दर्द को समझा और उनके दुखों में शामिल होकर समाज का यथार्थ चित्रण अपनी कविता में किया है।

आधुनिकता बनाम लोक–जीवन

आधुनिकता मनुष्य में एक चेतना का बिंदु है। आधुनिकता मनुष्य की एक अतिरिक्त, सजगता एवं आर्थिक अधिकारों की मांग करती हैं। मनुष्य अपनी चली आ रही परंपरा एवं इतिहास से मुक्ति चाहता है अर्थात् इसको परंपरा, इतिहास देशकाल से मुक्ति का आंदोलन कहा जा सकता है। चाहे वह व्यक्ति की स्वतंत्रता का आंदोलन हो या सामाजिक स्वतंत्रत्ता का या फिर समाज में फैली रूढ़ियों के प्रति स्वतंत्रता के लिए लड़ी गई लड़ाई हो। भारत में आधुनिकता के जन्मदाता राजा राममोहन राय को माना जाता है जिसने समाज में फैली रूढ़ियों का विरोध किया एवं एक विशेष वर्ग के प्रभुत्व के खिलाफ लड़ाई लड़ी। उनके द्वारा सन् 1828 में स्थापित "ब्रह्म समाज ने मानवीय प्रतिष्ठा पर जोर दिया, मूर्ति पूजा का विरोध किया तथा सती प्रथा जैसी सामाजिक कुरुतियों की आलोचना की।"[31] समाज सुधार से शुरु हुई यह लड़ाई व्यक्ति एवं समाज में अधिकारों के लिए समय–समय पर चलती रहीं। भारतीय जनता का संघर्ष का उफान उस समय देखा गया जब साम्राज्यवादी शक्ति के खिलाफ 1857 का स्वतंत्रता संग्राम लड़ा गया जिसको लड़ने वाले वर्दी के पीछे किसान और मजदूर छिपा हुआ था, जो किसी न किसी रूप में शोषित था और नये भर्ती किए गए सिपाहियों को दिन पर दिन बढ़ती भू–राजस्व की दर ने बहुत प्रभावित किया था। इसका अंदाजा इलियट की इस टिप्पणी से लगाया जा सकता है जिसने भारत की गरीबी एवं दरिद्रता को स्वीकार किया है : "मुझे यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि आधी कृषि जनसंख्या को एक साल के अंत से दूसरे साल के अंत तक यह पता नहीं होता कि पेट भर खाना कैसा होता है।"[32]

यह जो शोषण जनता का हो रहा था और इसका जो विरोध भी जहाँ–तहाँ हो रहा था। धीरे–धीरे अपने अधिकारों के प्रति जनता सचेत हो रही थी, यह आधुनिकता की देन है। आधुनिकता ने हमारे समय की चेतना और समस्याओं के सच को प्रभावित किया। आधुनिकता अपने लिए अर्धसंगतियाँ मांगता है यह जो आधुनिक चेतना ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तैयार हो रही थी तो दूसरी ओर साहित्य को प्रभावित कर रही थी। हिंदी साहित्य में आधुनिकता का समावेश भारतेंदु युग से माना जाता है। अंग्रेजों की भूमि संबंधी व्यवस्था ने "इस बंदोबस्त के फलस्वरूप वर्ग–संबंधों की सृष्टि है। इस संरचना के शीर्ष भाग पर जमींदार, बड़े–बड़े जोतदार और महाजन थे तो अधोभाग पर छोटे–छोटे किसान, शिकमीदार, खेतिहर मजदूर आदि थे।"[33] इसलिए किसानों की शौचनीय स्थिति बन गई थी। और भारतीय किसान दरिद्र से दरिद्र होता जा रहा था और इस शोषण से मुक्ति का संघर्ष जो जनता ने किया वह आधुनिक चेतना ही है। अतः स्वतंत्रता की भावना छायावादी काव्य में प्रबल रूप से उभरी परंतु उसमें अधिकतर व्यक्तिगत स्वतंत्रता की भावना थी; परंतु छायावादी कवि इसलिए तारीफ के काबिल है कि उन्होंने अपनी स्वतंत्रता के लिए तो पंख खोले। छायावादी काव्य इन संदर्भों में आधुनिक काव्य है उनमें सामाजिक स्वतंत्रता की भावना प्रगतिशील कवियों जैसी तो नहीं परंतु छायावादी काव्य के सौंदर्य विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी व्यक्तिगत भावना कैसे धीरे–धीरे सामाजिक भावना में तब्दील हो गई। इन्होंने समाज के बनाए सारे नियमों को तोड़ दिया जो व्यक्ति का शोषण करते हों और कविता में सामाजिक अधिकारों की मांग उठने लगी और प्रगतिवादी कवियों ने कविता में सामाजिक यथार्थ को ही स्पष्ट करना अपना धर्म समझा। जनता को शोषण से मुक्ति दिलाने की काव्य में पहली बार फरियाद की गई और सामूहिक हित की चिंता की जाने लगी "जिस प्रकार साम्यवाद समष्टि या समूह के हितों की चिंता और रक्षा करता है, व्यक्ति की नहीं उसी प्रकार प्रगतिशील साहित्य

समाज के सुख–दुख की अभिव्यक्ति को महत्व देता है व्यक्ति के सुख–दुख की अभिव्यक्ति को नहीं, प्रगतिवादी चेतना ने सामयिकता की मांग की।"[34]

प्रगतिवादी कवियों ने जीने की आशा दी यह देखते हुए भी कि वर्तमान जीवन विषमता, दुख तथा दैन्यता से आक्रांत हैं। मुक्तिबोध की कविता आधुनिक हिंदी काव्य की विशिष्ट देन है, 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में संकलित 'अँधेरे' में कविता आधुनिक जन–इतिहास का स्वतंत्रतापूर्वक बयान करती हैं "यह कविता देश के आधुनिक जन–इतिहास का स्वतंत्रता पूर्व और पश्चात् का एक दहकता इस्पाती दस्तावेज है इसमें अजब और अद्‌भुत रूप से व्यक्ति और जन का एकीकरण है, देश की धरती देश की सच्ची मुक्ति आकांक्षी नस–नस इसमें फड़क रहीं है और भावनाओं के अनेक गुंफित स्तरों पर।"[35]

लेकिन सबसे गंभीर और अहम् मुद्‌दा यह है कि क्या आधुनिक भारत में ग्रामीण जनता भी शामिल है। इस सवाल का उत्तर केवल प्रगतिशील कवियों के पास ही था, उन्होंने ही ग्रामीण जनता के जन–जीवन को अपने काव्य में उतारा। पंत ने तो भारत–माता को ग्रामवासिनी कहा है –

"भारत माता / ग्रामवासिनी / खेतों में फैले दृग श्यामल
शस्य–भरा जन जीवन आँचल /गंगा यमुना में शुचि श्रम जल
शील मूर्ति / सुख–दुख उदासिनी।"[36]

प्रगतिवादी कवियों ने इस चेतना को ग्राम तक ही सीमित नहीं रखा। उन्होंने ग्रामीण किसान के साथ–साथ नगरों के मजदूरों का चित्रण भी अपने काव्य में किया है। केदारनाथ अग्रवाल की "गाँव का महाजन" नामक कविता इसका सबसे अच्छा उदाहरण है –

"सूड लपेटे है कर्जे की ग्रामीणों को
मुक्ति अभी तक नहीं मिली है, इन दीनों को
इन दीनों के ऋण का रोकड़–कांड बड़ा है
अब भी किंतु अछूता शोषण कांड पड़ा है।"[37]

ग्रामीण किसान कर्ज में इतने डूबे हैं कि जमींदार उनका शोषण करता ही रहता है इन गरीबों को तो कभी मुक्ति मिलती ही नहीं है। यह समस्या आज भी है। त्रिलोचन इसी मुक्ति की आशा से आम जन को अधिकारों के प्रति सचेत करते हैं–

"जिस समाज में तुम रहते हो / यदि तुम उसकी एकशः शक्ति हो
जैसे सरिता की अगणित लहरों में / तो अच्छा हो।"[38]

"घिन तो नहीं आती" कविता में मजदूरों की उस हालत को त्रिलोचन ने बयान किया है, जहाँ वह काम के बाद शाम को यत्र–तत्र थके हारे सो जाते हैं –

"कुली मजदूर है / बोझ ढोते हैं, खींचते हैं ढेला
धूल–धूँआ–भाप–भाप से पड़ता है सबका
थके माँदे जहाँ–तहाँ हो जाते हैं ढेर
सपने भी सुनते हैं धरती की धड़कन।"[39]

भारत की सच्ची तस्वीर तो यही है। जो मूलभूत सुविधाओं से भी वंचित है जिसका जीता–जागता उदाहरण 'त्रिलोचन' की कविता है।

"त्रिलोचन किसानों को जीते–जागते मानव समुदाय के रूप में देखते हैं। किसानों में आर्थिक स्थिति के अनुसार अनेक स्तर हैं, कई तरह के भेद हैं। त्रिलोचन की कविता में गरीब, शोषण और उत्पीड़न के शिकार किसान है। उनकी कविता में सबसे अधिक खेतिहर मजदूर आते हैं। उनकी कविताओं में कुछ चरित्र हैं। वे सभी ग्रामीण कारीगर, खेत–मजदूर और स्त्रियाँ हैं। नगई, महरा, भोरई, केवट, मंगल, निरहू, भिखारिया, अवतरिया, चम्पा, सोना, और सुकुनी आदि ऐसे ही चरित्र हैं। इन चरित्रों के माध्यम से गाँव में सबसे कठिन जिंदगी जीनेवाले लोगों के ठोस अनुभवों की एक दुनिया साकार रूप में हमारे सामने आती है।"[40]

शमशेर की कविता मानव–धर्म की पक्षधर है। वे मानव मात्र के लिए एकता, प्रेम, शांति और उनकी खुशहाली की कामना करते हैं। उनका मानना है कि अगर

हम सब एक ही हो जाए तो हर मुश्किल पर विजय पायी जा सकती है। हम एक–दूसरे के सुख–दुःख में साथ रहे –

"सूरज / उगाया जाता / फूलों में / यदि हम / एक साथ
हँस पड़ते / चाँद आँगन बनता है / आँखों में / रास भूमि यदि
सौर मण्डल की मिलती।"[41]

क्योंकि धुँआ की जो धुन है वह बहुत पीड़ादायक है –

"जल रहा / धुँआ–धुँआ
ग्वालियर के मजदूर का हृदय।"[42]

खैर जो भी हो प्रगतिवादी कवियों के काव्य में आम आदमी ही जल रहा है। वह चाहे ग्रामीण किसान हों या किसान मजदूर हो या फिर शहरी मजदूर, सभी जगह इनकी कविता आम आदमी का ब्यौरा देती चलती हैं।

नागार्जुन के काव्य में समग्र देश का दर्द नागार्जुन का दर्द बन कर आया है। उनकी कविता 'खुरदरे पैर' में रिक्शे वाले की जिंदगी का चित्र भारतीय मजदूर का यथार्थ रूप का ब्यौरा देता है –

"एक नहीं, दो नहीं, तीन–तीन चक्र
कर रहे थे मात त्रिविक्रम वामन के पुराने पैरों को
नाप रहे थे धरती का अनहद फासला
घण्टों के हिसाब से ढोये जा रहे थे।"[43]

नंगे–भूखे शोषित मजदूरों का पूरा का पूरा दस्तावेज है। यह नागार्जुन की कविता जो आम भारतीय नागरिक से जुड़ी हैं।

इस प्रकार हमारे सामने आता है कि प्रगतिशील कवियों में आधुनिकता का उदय उनके लोक–जीवन से ही जुड़ी हैं, वह संपूर्ण भारतीय लोगों को खुशहाल बनाना चाहते हैं, वैसे भी जब तक आम आदमी की जिंदगी का सवाल कविता में ना जुड़ा हों तब तक आधुनिकता कैसी। आधुनिकता कवियों की संवेदना से जुड़ी है और प्रगतिवादी कवियों की संवेदना पीड़ित संसार से जुड़ी है, इस प्रकार

प्रगतिशील कवियों की आधुनिकता और उनका लोक–जीवन परस्पर गुंफित ही नहीं, बल्कि यूं कहा जाए कि उनकी आधुनिकता ही लोक चेतना है।

सौंदर्य–अभिरूचि और लोक

प्रगतिशील कवियों की सौंदर्य दृष्टि स्वांत–सुखाय नहीं है, उनका सौंदर्य तो सामाजिक अनुभवगत है। सौंदर्य का विकास मानव के बोध के द्वारा होता है और प्रगतिशील कवियों का सौंदर्यबोध व्यक्तिगत सौंदर्य की सीमाओं को लांघकर सामाजिक सौंदर्य की बात करता नजर आता है। उसके सौंदर्य का आधार द्वंद्वात्मक आधार है, साथ में मानव विकास ही उसका आधार है। अगर हम प्रगतिवादी कविता के आगे–पीछे की कविता पर नजर डालते हैं तो प्रगतिशील कवियों के सामने अन्य कवि गौण ही ठहरते हैं और उनका ताल्लुक समाज से उतना नहीं है जितनी प्रगतिशील कविता का। हालांकि अगर एक व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता एवं सामाजिक पहचान की बात करता है तो वह भी समाज का ही हिस्सा है परंतु उसका सामाजिक सौंदर्य अपने तक ही सीमित है। छायावाद के बाद जितना सामाजिक चेतना का विकास प्रगतिशील कविता में देखा गया उतना अन्य किसी आंदोलन में नहीं। डा. अजय तिवारी ने लिखा है कि – "हिंदी में छायावाद के बाद प्रगतिवाद को छोड़कर ऐसा कोई सशक्त साहित्य नहीं दिखाई पड़ता जिसने जनता के सांस्कृतिक जीवन पर अमिट छाप छोड़ी हो।"[44]

ज्यों–ज्यों मनुष्य के संवेदनात्मक ज्ञान का विकास होता गया मनुष्य का सौंदर्य विकसित होता गया। प्रगतिशील कवियों के यहाँ पहली बार एक नया सौंदर्यबोध विकसित हुआ। उनके काव्य में आम आदमी के दुःख दर्द, उनकी परेशानियों, शोषित जनता एवं उत्पीड़न व उत्पीड़ित वर्ग के जीवन संघर्ष का उनका काव्य आम आदमी की पीड़ा का काव्य है। मजदूर के जीवन संघर्ष का काव्य है। केदारनाथ अग्रवाल की प्रमुख कविता इसका उदाहरण है –

"गरम–गरम हवा चली, अशांत रेत से भरी
हरेक पांखुरी जली, कली न जी सकी न मरी
बबलू आप ही पला, हवा से वह न डर सका
कठोर जिंदगी चला, न जल सका न मर सका।"[45]

मजदूर वर्ग की जिंदगी में दुःख ही दुःख होते हैं, उसका जीवन प्रकृति के प्रकोप को भी झेलता है। शोषक शक्तियों के प्रकोप को भी झेलते हुए जीवन बीतता है, चाहे सर्दी हो या गर्मी वह सभी मौसम में कठोर जिंदगी जीने के लिए मजबूर है, यह परिस्थिति उसके साथ जन्म से नहीं है; बल्कि उसके ऊपर थोपी गई परिस्थितियों के कारण है। प्रगतिशील कवियों का सौंदर्यबोध किसानों के कर्म एवं श्रम सौंदर्य पर आधारित है –

"काटो काटो काटो करबी / मारो मारो मारो हंसिया
हिंसा और अहिंसा क्या है / जीवन से बढ़ हिंसा क्या है
मारो मारो मारो हसिया / पाटो पाटो पाटो धरती।"[46]

साम्राज्यवादी और पूंजीवादी व्यवस्था में मनुष्य का कोई मूल्य नहीं रह जाता। अपने ऊपर किए जा रहे प्रहारों को मनुष्य चुपचाप सह लेता है, त्रिलोचन ने इस स्थिति को अपनी कविताओं में बेखूबी उभारा है –

"इन दिनों मनुष्य का कोई महत्व नहीं है
मूल्य गिर गया है अब मनुष्य का / सिंधु में जो स्थान है
वह भी स्थान नहीं है मनुष्य का / ऐसा क्यों
पूंजीवाद का इतिहास कहता है
साम्राज्यवाद घोषित करता है।"[47]

स्वाभाविक सी बात है जैसे–जैसे साम्राज्यवादी और पूंजीवादी शक्तियों का वर्चस्व समाज के ऊपर होता जाएगा वैसे–वैसे मानवीय मूल्य समाप्त होते जाएँगे। पूंजीवाद की सबसे बड़ी देन मानवीय मूल्यों को खत्म करना है। मनुष्य का मूल्य साम्राज्यवादी शक्तियों के कारण खत्म हो जाता है। इसी बात को त्रिलोचन ने

भली–भाँति अपनी कविताओं में दिखाया है। इसी कारण मुक्तिबोध की कविता का स्वर आत्मीय अधिक है –

"बताओ तो किस–किस के लिए तुम दौड़ गए,
करूणा के दृश्यों के हाथ/मुँह मोड़ गए
बन गए पत्थर / बहुत–बहुत ज्यादा लिया
दिया बहुत–बहुत कम/ मर गया देश अरे,
जीवित रह गये तुम।"[48]

डॉ. नामवर सिंह ने प्रगतिशील कविता के इन सभी तथ्यों को मद्देनजर रखते हुए लिखा है कि "कविता में पहली बार इतनी व्यापक सहानुभूति का प्रवेश हुआ।"[49] इस व्यापक सहानुभूति का प्रगतिशील कविता के सौंदर्य मूल्यों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा एक तो कविता में किसान–मजदूरों ने जगह बना ली उनके धूल से सने पैरों की आहट और जर्जर शरीर के प्रति साहित्यकारों का उनके प्रति करूणा का भाव उभर कर आया। दूसरा मनुष्य का दुःख–दर्द उनके साहित्य में आ गया, शमशेर का काव्य मजदूर वर्ग का बही खाता है, वह मध्यवर्ग की हीनता–दीनता से पीड़ित है, क्योंकि मध्यवर्ग का मजदूर भी मुक्ति चाहता है –

"किंतु इधर / पथ–प्रदर्शिका मशाल
कमकर की मुठ्ठी में किंतु उधर / आगे–आगे जलती मशाल
बज्र कठिन कमकर की मुट्ठी में / पथ प्रदर्शिका मशाल।"[50]

प्रगतिशील काव्य किसान–मजदूर के प्रति करुणा का भाव और सामंत–महाजनों के प्रति घृणा, व्यंग्य तथा रोष का भाव रखता है, प्रगतिशील कवियों का मानना है कि सौंदर्य समूचे जीवन में व्याप्त होता है।

प्रगतिवादी कवि श्रम में सौंदर्य देखता है इसलिए उसने अपनी कविता में श्रमिक के गंदे पैरों का भी जिक्र किया है। नागार्जुन की कविता इसका उदाहरण है –

"खुब गये / दूधिया निगाहों में / धँस गये
कुसुम–कोमल मन में / गुट्ठल घट्ठोंवाले कुलिश–कठोर पैर।"[51]

इन कवियों ने मजदूर के गंदे पैरों में भी सौंदर्य को समा दिया और यही नहीं कवि के कोमल हृदय में भी वह समा गया। नागार्जुन पाठक के सामने कई रंगों में कविता को सामने लाते हैं। नागार्जुन ऊँचे लोगों द्वारा बनाई गई व्यवस्था के खिलाफ बेबाक बोलते हैं –

"वे लोहा पीट रहे हैं / तुम मन को पीट रहे हो
वे पत्तर जोड़ रहे हैं / तुम सपने जोड़ रहे हो
उनकी घुटन ठहाकों में घुलती है / और तुम्हारी घुटन
उनींदी घड़ियों में चुरती है।"[52]

प्रगतिशील कवियों में किसान–मजदूर, खेत–खलिहान सभी के प्रति प्रेम उमड़ता है। नागार्जुन को प्रवासी का जीवन बिताते वक्त अपनी पत्नी के साथ–साथ भरा–पूरा गाँव (जनपद) याद आता है –

"घोर निर्जन में परिस्थिति ने दिया है डाल
याद आता तुम्हारा सिंदूर–तिलकित भाल
कौन है वह व्यक्ति जिसको चाहिए न समाज
कौन है वह एक जिसको नहीं पड़ता दूसरे से काज।"[53]

यहाँ पत्नी प्रेम के साथ सामाजिक प्रेम उभरकर आया है। यह भावना रीतियुगीन कविता या प्रयोगवादी कविता में नहीं मिलेगी। प्रगतिवादी कवि अपनी पत्नी के साथ–साथ पूरे समाज में रहता है। अरस्तु ने कहा है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, चूँकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है इसलिए उसके जीवन और जीवन संघर्ष के लिए समाज अनिवार्य है –

"याद आते स्वजन
जिनकी स्नेह से भीगी अमृतमय आँख
स्मृति–विहंगम की कभी थकने न देगी पाँख

याद आता मुझे अपना वह तरउनी ग्राम
याद आती लिचियाँ, वे आम
याद आते मुझे मिथिला के रुचिर–भू–भाग।"[54]

ये जो स्वजन की भावना जो प्रगतिवादी कवियों में है यही भावना प्रगतिवादी कवियों को अन्य कवियों से अलग करती है। यह भावना इन कवियों में मार्क्सवाद से आयी मुक्तिबोध के शब्दों में कहें तो मुक्ति सब के साथ में है अकेले में नहीं, इसलिए प्रगतिवाद मूलतः साम्यवादी विचारधारा पर आधारित है; यही नहीं नागार्जुन का सौंदर्यबोध तो अपने 'ग्रामीण' स्नेह भावना से भीगी अमृतमय आँखों में बसा है। 'अमृतमय शब्द का प्रयोग के माध्यम से नागार्जुन ने अपने ग्रामीणों के प्रति करुण भावना का इजहार किया है ये प्रेम अपने समाज के प्रति अपनों के लिए है। नागार्जुन का सौंदर्यबोध 'स्वजन' या ग्राम तक ही सीमित नहीं है, उसे उनके साथ–साथ पेड़–पौधों, लीचियाँ वे आम सभी याद आते हैं। यह देश–प्रेम उत्कृष्ट भाव–भूमि पर उमड़ता है। वह देश प्रेम ही क्या जो अपने समाज के साथ–साथ संपूर्ण प्रकृति के प्रति न हों, ये राष्ट्रीय प्रेम प्रगतिशील कवियों के अलावा अन्य कवियों में नहीं है या इस प्रेम का अभाव है।

ऐसा नहीं कि प्रगतिवादी कवियों का प्रेम एकांत की ओर खींचता है वह तो समाजोन्मुख है। समाज के प्रति अग्रसर करने वाला प्रेम है, त्रिलोचन का 'धरती' काव्य संग्रह इसका अच्छा उदाहरण है –

"मुझे जगत जीवन का प्रेमी / बना रहा है प्यार तुम्हारा।"[55]

छायावादी कवियों ने नारी को समाज के बंधनों से मुक्त कराने का प्रयास किया यह बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य था, उसका रूख नारी को समाज से उठाकर खुले आसमान में ले गया, परंतु प्रगतिवादी कवियों ने नारी के माध्यम से ही समाज की मुक्ति की कामना की और नारी को समाज का अंग माना गया। इसलिए त्रिलोचन को नारी का प्रेम 'एकांत' में नहीं ले जाता; बल्कि उसे 'जगत'

जीवन का प्रेमी भी बनाता है, जो समाज के प्रति भी प्रेम जगाता है। और शमशेर की कविताओं में प्रेम का इतना व्यापक स्वरूप देखने को मिलता है कि अपने घर की चार दीवारी के माध्यम से संपूर्ण सृष्टि के प्रति करूणा का भाव अलापता है –

"ओ मेरे घर / ओ हे मेरी पृथ्वी
सांस के एवज तूने क्या दिया मुझे / ओ मेरी माँ।"[56]

ये भू–धरा की पहचान प्रगतिवादी कवियों को अलग पहचान देती है। भूमि को माँ के रूप में संबोधन उनकी धरती से लगाव की दृष्टि को उद्घाटन करता है और वह शिकायत भी करता है – "सांस के एवज तूने क्या दिया मुझे आ मेरी माँ।"[57]

इसलिए कहा जा सकता है कि उनका प्रेम केवल अपने स्वार्थ तक ही सीमित नहीं है, उसे संपूर्ण सृष्टि से प्रेम है। वह अपने स्वार्थ तक ही सीमित नहीं है बल्कि संपूर्ण समाज के प्रति, संपूर्ण सृष्टि के प्रति, संपूर्ण मजदूर वर्ग के प्रति और सभी आम–जनों के प्रति है। जो आज भी उपेक्षित जीवन जीने के लिए मजबूर हैं। नागार्जुन, शमशेर, त्रिलोचन, केदार व मुक्तिबोध सभी कवि अमन में आम आदमी के लिए मूल–भूत सुविधाओं की बात करते हैं। कवि की प्रेम के प्रति नहीं थकने वाली दृष्टि है –

"मैं तुम्हें निहारते /अघाता नहीं।"[58]

प्रगतिवादी कवियों का सौंदर्य आम जन के प्रति ही नहीं बल्कि प्रकृति से भी उन्हें उतना ही लगाव है। अपने जनपद की प्रकृति और प्राकृतिक परिवेश उनकी कविता में जीवंत होकर आया है प्रकृति के प्रति केदार जी के विचार हैं कि 'प्रकृति में हम रहते हैं जो हमारे लिए माँ है, उसी को हमने आज के साहित्य से निष्कासित कर दिया है और हम हो गए हैं प्रकृतिविहीन निस्संग आदमी। प्रकृति और जीवन से ही सौंदर्य उद्भुत होता है। केदारनाथ अग्रवाल छायावादोत्तर कविता के सुमित्रानंदन पंत हैं। केदार की प्रकृति बुंदेलखंडी है जहाँ उनमें लोक

साकार हो उठा है। प्रगतिशील कवियों की प्रकृति महज आत्मीय और किसानी हैं। प्रगतिशील कवियों ने प्रकृति पर कविता भी लिखी तो वह भी सामाजिक वास्तविकता से विच्छिन्न नहीं है –

"आर पार चौड़े खेतों में / चारों ओर दिशाएँ घेरे
लाखों की अगणित संख्या में / ऊँचा गेहूँ डटा खड़ा है
ताकत से मुट्ठी बाँधे है / नोकीले भाले ताने है
हिम्मत वाली लाल फौज का /मर मिटने को झूम रहा है।"[59]

प्रकृति और किसान परिवेश से केदारनाथ की कविताएँ ओत–प्रोत हैं, प्रकृति कविता में प्रेरक तत्व के रूप में आती हैं –

"एक बीते के बराबर / यह हरा ठिगना चना
बांधे मुरेठा शीश पर / सज कर खड़ा है।"[60]

प्रेम संबंधी कविताओं में भी प्रेम व्यंजना के साथ–साथ सामाजिक प्राकृतिक परिवेश भी प्राकृतिक यथार्थ के रूप में आया है –

"है मेरी तुम / काले–काले छाये बादल उड़ जायेंगे
गाँवों–खेतों मैदानों को, तज जाएँगे।"[61]

मुक्तिबोध की कविताओं में प्रकृति का प्राचीन रूप ही प्रतीक के रूप में आया है। यहाँ प्रकृति का नया सौंदर्य देखने को मिलता है जो पूर्णतः लोक–जीवन से जुड़ा हुआ है –

"बावड़ी की इन मुंडेरों पर / मनोहर हरी कुहनी टेक
बैठी है टगर / लें पुष्प तारे श्वेत।"[62]

नागार्जुन का प्राकृतिक सौंदर्य अनुभवगत सौंदर्य हैं; कहीं–कहीं तो वह प्रकृति प्रेम के कारण प्रेम–पूजा की हद तक पहुँच जाता है –

"तुंग हिमालय के कंधों पर / छोटी–बड़ी कई झीलें हैं
उनके श्यामल–नीले सलिल में / समतल देशों से आ–आ कर
पावस की उमस से आकुल / तिक्त मधुर विसतन्त खोजते

हंसों को तिरते देखा है /बादल को घिरते देखा है।"[63]

शमशेर के काव्य में प्रकृति का उदास रूप भी आया है –

"शाम के जल में ढलती है / मौन चतुर्दिक
से सारी सृष्टियाँ।"[64]

प्रगतिवादी कवियों ने सौंदर्य के सामने भावों की बाधा नहीं आने दी उनकी सौंदर्य भावना तो यथार्थ जीवन से उपजी है। जिसमें जीवन का स्पृहणीय रूप या संवेदना व्यक्त होती है उसी सौंदर्य को उन्होंने स्वीकार किया है। प्रगतिवादी कवियों ने ग्रामों से जुड़ी सौंदर्यानुभूति को अपने काव्य में बड़ी सूक्ष्मता से उभारा है। ग्रामीण–सौंदर्य इन कवियों की कविता व जीवन दोनों में घुल–मिल गया है। प्रगतिवादी कवियों का सौंदर्यबोध उनके गजल एवं गीतों दोनों रूपों में सामने आया है। प्रगतिवादी कविता की जितनी व्यापक लोक भूमि है, उतना ही व्यापक उसका शिल्प विधान। इन कवियों के सौंदर्यबोध को सीमित करके देखना बुद्धिहीनता का परिचय देना होगा। समाज का ऐसा कोई अंग या हिस्सा नहीं है जिसके प्रति इनकी नजर नहीं गई हो। इनका सौंदर्य–बोध भारतीय जन–जीवन के हर कोने में झाँकता है, मुस्कराता है और संवाद भी करता है।

संदर्भ संकेत

---

[1] नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां, पृ.60

[2] धीरेन्द्र वर्मा – हिंदी साहित्य कोश, पृ.395

[3] दुर्गा दास बसु – भारत का संविधान, पृ.42

[4] रैल्फ फॉक्स – उपन्यास और लोकजीवन, पृ.27

[5] बिपिन चंद्र – भारत का स्वतंत्रता का संघर्ष, पृ.127

[6] नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां, पृ.70

[7] वही, पृ.62

[8] प्रेमचंद – साहित्य का उद्देश्य (पंचम संस्करण), पृ.19

[9] प्रेमचंद – साहित्य का उद्देश्य, पृ.10

[10] कृष्णलाल हंस – प्रगतिवादी काव्य, पृ.19–20

[11] प्रेमचंद – गोदान, पृ.306

[12] नंदकिशोर नवल – रचना का पक्ष, पृ.57

[13] रामधारी सिंह 'दिनकर' – हुकार (बिपथगा), पृ.80

[14] मैनेजर पाण्डेय – अनभै साँचा, पृ.104

[15] मैनेजर पाण्डेय – साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ.313

[16] नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां, पृ.64

[17] लेनिन और भारतीय साहित्य में उद्धृत, पृ.50

[18] नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां, पृ.64

[19] प्रेमचंद – साहित्य का उद्देश्य, पृ.19

[20] केदारनाथ अग्रवाल – बाप बेटा बेचता है, पृ.98

[21] त्रिलोचन – धरती, पृ.4

[22] नागार्जुन – युगधारा, पृ.42

[23] मैनेजर पाण्डेय – अनभै साँचा, पृ. 107

[24] केदारनाथ अग्रवाल –, पृ.

[25] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ. 28

[26] त्रिलोचन – ताप के ताए हुए दिन, पृ.62

[27] विजय बहादुर सिंह (सं.) – जन कवि, पृ.10

[28] नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां, पृ.88

[29] त्रिलोचन – अरघान, पृ.27

[30] महावीर अग्रवाल (सं.) – त्रिलोचन, किंवदंती पुरुष, पृ.216

[31] बिपिन चंद्र – भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृ.100

[32] बिपिन चंद्र – आधुनिक भारत, पृ.159

[33] बच्चन सिंह – हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ.278

[34] प्रसिद्धनारायण चौबे – लोकचेतना के राष्ट्रीय कवि 'सुमन', पृ.72

[35] मुक्तिबोध – चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ.27

[36] सुमित्रानन्दन पंत – ग्राम्या, पृ.143

[37] विजय बहादुर सिंह (सं.) – जन कवि, पृ.57

[38] त्रिलोचन – धरती, पृ.78

[39] त्रिलोचन – धरती, पृ.21

[40] मैनेजर पाण्डेय – अनभै साँचा, पृ.108

[41] शमशेर बहादुर सिंह– अमन का राग, पृ.18

[42] शमशेर बहादुर सिंह – कुछ और कविताएं, पृ.10

[43] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.35

[44] अजय तिवारी – प्रगतिशील कविता के सौंदर्य मूल्य, पृ.7

[45] केदारनाथ अग्रवाल – फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ.24

[46] वही, पृ.74

[47] त्रिलोचन – धरती, पृ.84

[48] मुक्तिबोध – चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ.277–8

[49] नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां, पृ.78–89

[50] शमशेर बहादुर सिंह – कुछ और कविताएं, पृ.8

[51] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताँ (सं. नामवर सिंह), पृ.35

[52] विजय बहादुर सिंह (सं.) – जन कवि, पृ. 100

[53] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह) पृ. 28

[54] वही, पृ.42

[55] त्रिलोचन – धरती, पृ.17

[56] विजय बहादुर सिंह (सं.) – जन कवि, पृ.206

[57] रंजना अरगड़े – कवियों के कवि शमशेर, पृ.22

[58] त्रिलोचन – अरघान, पृ.28

[59] केदारनाथ अग्रवाल – गुलमेंहदी, पृ.21

[60] केदारनाथ अग्रवाल – फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ.2

[61] केदारनाथ अग्रवाल – जो शिलाएं तोड़ते हैं, पृ.66

[62] मुक्तिबोध – चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ.39

[63] नागार्जुन – रचनावली–1, पृ.24

[64] शमशेर बहादुर सिंह – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.46

तीसरा अध्याय

प्रगतिशील कविता में लोक–जीवन की अभिव्यक्ति

3.1 रागात्मक संबंध और लोक–जीवन

3.2 शहरी जीवन बनाम लोक–जीवन : संदर्भ मध्यवर्गीय समाज

3.3 बदलता ग्रामीण समाज और लोक–जीवन की अभिव्यक्ति

3.4 आधुनिक युग का यथार्थ और लोक–जीवन

3.5 काव्य संवेदना के बदलते धरातल और लोक–जीवन की अभिव्यक्ति

लोक--साहित्य और समाज में परस्पर घनिष्ठ संबंध होता है। लोक–साहित्य संवेदनशील होता है, संवेदनशील इस अर्थ में कि पूरी समाज की इसमें फीलिंग होती है, एक तत्व के प्रति आस्था होती है। सभी में आंतरिक साहचर्य होता है, आंतरिक एवं बाह्य विश्वास होता है, सभी वस्तुओं के प्रति रागात्मक संबंध होता है। इस संबंध को हम दो तरह से देख सकते हैं –

1. भौतिक संबंध व
2. आंतरिक संबंध

लोक–साहित्य सामूहिक राग है, जिसमें पर्सनल कुछ नहीं होता है, यदि है तो सामूहिक। लोक साहित्य में ऐतिहासिक दृष्टिकोण, बौद्धिकता, वैज्ञानिकता का अभाव होता है। जो कहावतें प्राचीन समय में स्थापित हो गई है ये आज भी चली आ रही हैं, आज भी वे सामूहिकता में यथावत स्थापित हैं।

लोक–साहित्य में मिथक, भाव, किंवदन्तियाँ, विश्वास आपसी साहचर्य की भावना मौजूद होती है, जिसे कोई यांत्रिक दृष्टि संचालित नहीं करती वरन् वह स्वाभाविक है। लोक–साहित्य मूल्यों से संचालित होता है जो समाज के मूल्य बन चुके हैं या निर्धारित हो चुके हैं, वह उन्हीं पर कायम होता है। लोक–साहित्य अखंडित आस्था का नाम है वह जीवंत अनुभव है। लोक–जीवन में गैप नहीं होता वह संपूर्णता में संलग्न होता है। लौकिक जीवन में प्रकृति से रागात्मक संबंध होता है वहाँ यथार्थ नहीं होता, लोक–जीवन मिथकों पर जीवित रहता है। उसमें कोई वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं रहता; वह प्रकृति के बिम्ब व प्रतीकों के सहारे अपने यथावत रूप में जीवित रहता है, उसका सभी कुछ प्रकृति द्वारा संचालित होता है, प्रकृति से उसका घनिष्ठ संबंध होता है। लौकिक जीवन और प्रकृति दोनों अपने आपमें अभिन्न रूप से संलग्न हैं, इनमें कोई गैप नहीं है। इस अर्थ में हम जब लोक–जीवन को लोक–साहित्य के संदर्भ में देखते हैं तब तक तो ठीक है परंतु

जब हम इसी रूप को प्रगतिशील साहित्य में खोजेंगे तो वहाँ पर ठीक नहीं होगा, क्योंकि प्रगतिशील दृष्टि अपने आप में लोक–जीवन का दूसरा रूप लिये हुए है।

रागात्मक संबंध और लोक–जीवन

"सच्चा कवि वही है जिसे लोक–हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके।"[1]

आचार्य शुक्ल जी अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति की बात करते हैं यहाँ तक तो ठीक है मनुष्य जाति तक; परंतु सच्चा लोक–कवि तो वह है जिसे मनुष्य जाति के सामान्य हृदय के साथ–साथ प्रकृति का भी ज्ञान हो। वास्तव में लोक–साहित्य संपूर्णता में व्याप्त होता है, अनछुए पहलुओं पर भी लोक कवि की दृष्टि होती है; अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के साथ।

प्रो. मैनेजर पाण्डेय का लोक–साहित्य के बारे में मत है – "लोक–साहित्य जनता के लिए जनता के बारे में जनता द्वारा रचित साहित्य है।"[2]

जब जनता के लिए जनता के बारे में जनता द्वारा रचित साहित्य लोक–साहित्य है तो वह लोक–साहित्य की श्रेणी में कैसे आ सकता है; क्योंकि यहाँ पर कवि के पास दृष्टि है और लोक–साहित्य में दृष्टि नहीं होती। लोक–साहित्य सामूहिक आस्था का विषय है किसी एक व्यक्ति का नहीं। लोक–साहित्य में लोक–जीवन का चित्रण होता है, चाहे वह अच्छा जीवन हो या बुरा जीवन। लोक–साहित्य संपूर्णता में है किसी व्यक्ति विशेष या कवि व आलोचक की दृष्टि का मोहताज नहीं।

नामवर जी का मानना है कि "प्रगतिशीलता ने साहित्य की परख के मान को ऐतहासिक आधार दिया। जहाँ अपनी–अपनी रुचि तथा समझ के अनुसार कविता की अच्छाई–बुराई, श्रेष्ठता–निकृष्टता का निर्णय होता (जो कि प्रायः नहीं

हो पाता था); वहाँ प्रगतिवाद ने सबसे पहले किसी रचना के ऐतिहासिक महत्व को जांचने का सुझाव दिया। प्रगतिवाद के अनुसार व्यक्तिनिष्ठ (सब्जेक्टिव) ढंग से किसी रचना का मूल्याँकन कठिन ही नहीं भ्रामक भी है। रचना को उसकी ठोस सामाजिक पीठिका में रखकर देखना चाहिए कि वह समाज के विकास में कितना योग देती है।"[3]

साफ–साफ जाहिर है कि प्रगतिवाद के पास ऐतिहासिक व सामाजिक दृष्टि थी, जिसमें वह समाज के विकास का मार्ग उन्मुख कर रहा था। जब हम लोक–साहित्य की बात करते हैं तो लोक–साहित्य में सामाजिक व ऐतिहासिक दृष्टि नहीं होती, जो समाज में परंपरा चली आ रही है वह यथावत् होती है, तब ही लोक–साहित्य का वास्तविक रूप हमारे सामने आता है। प्रगतिशील कहने वाले आलोचक ने एक रास्ता बना लिया है जिस पर सभी आंख बंद कर दौड़े जा रहे हैं जबकि रचना या कविता के दोनों रूपों को देखना चाहिए लीक को पीटने से कोई फायदा नहीं होने वाला है। जब प्रगतिवाद के मानदंड स्थापित हो गये हैं तो डिबेट की क्या जरूरत आ गई। इसलिए नये सिरे से इन कवियों की काव्य–दृष्टि को देखना होगा कि लोक–जीवन का इनकी दृष्टि (कवियों की दृष्टि) में कहाँ तक पालन हुआ है।

प्रगतिशील कवियों ने अपने दृष्टिकोण को यथार्थ एवं स्थानीय चीजों से तो संबद्ध किया है, परंतु अपने दृष्टिकोण से चाहे वह दृष्टिकोण लोक–जीवन के प्रति स्मृति के माध्यम से हो या यथार्थ में, देखना यह है कि इन कवियों का लोक–जीवन से रागात्मक संबंध कैसा है।

नागार्जुन की एक कविता है "सिंदूर तिलकित भाल' इसमें कवि का जो लोक–जीवन है वह स्मृति के सहारे जीवित है। कवि ने लोक–जीवन का आरोपित बिम्ब चित्रित किया है; क्योंकि इस कविता में गाँव का वास्तविक अनुभव नहीं है।

लोक–साहित्य में समाज की मिक्स फीलिंग होती है, फिर भी स्मृति के आधार पर ही सही कवि का घर–परिवार, समाज के प्रति दृष्टिकोण रहा है –

"घोर निर्जन में परिस्थिति ने दिया है डाल
याद आता तुम्हारा सिंदूर तिलकित भाल
कौन है वह व्यक्ति जिसको चाहिए न समाज
कौन है वह एक जिसको नहीं पड़ता दूसरे से काज।
चाहिए किसको नहीं सहयोग
चाहिए किसको नहीं सहवास
कौन चाहेगा कि उसका शून्य से टकराय यह उच्छवासी।"[4]

"नागार्जुन गहरी मानवीय पीड़ा के साथ–साथ व्यापक प्रेम और करूणा के कवि पहले हैं, बाद में कुछ और।"[5]

मानवीय पीड़ा और व्यापक प्रेम और करूणा की अभिव्यक्ति जितनी प्रगतिशील कवियों में देखने को मिलती है शायद ही किन्हीं और कवियों में देखने को मिले। यह इनका निराला लोक है, आम जनता से जो इन कवियों का रागात्मक संबंध है, वह पूर्ण रूपेण आत्मीयता के स्तर पर जुड़ा हुआ है।

ग्रामीण जनता के पास जीवन जीने के लिए दो जून की रोटी की समस्या होती है इसलिए वह शहर जाते हैं तो कवि का रागात्मक संबंध उनसे जुड़ा रहता है और उनकी प्रति आत्मीयता के संबंध उजागर करता है, नागार्जुन की सहानुभूति का उदाहरण दृष्टव्य है –

"खूब गए / दूधिया निगाहों में फटी बिवाइयों वाले खुरदरे पैर
धँस गए / कुसुम–कोमल मन में
गुट्ठल घट्ठोंवाले कुलिश–कठोर पैर
दे रहे थे गति / रबड़–विहीन ठूँठ पैडलों को चला रहे थे।"[6]

उक्त कविता में निगाहें ग्रामीण कवि नागार्जुन की हैं और 'खुरदुरे पैर' मजदूर के हैं। आम जिंदगी से नागार्जुन का बहुत करीब का रिश्ता है। डॉ.

रामविलास शर्मा ने नागार्जुन के बारे में लिखा है – "नागार्जुन की कविताएँ लोक संस्कृति के इतना नजदीक हैं कि उसी का एक विकसित रूप मालूम होती है।"[7] लोक–जीवन की साधना नागार्जुन के काव्य में यथार्थ की भूमि पर अभिव्यक्त हुई है। इसी संदर्भ में विश्वनाथ त्रिपाठी के विचार हैं कि – "कविता की सौंदर्य नीति नैतिकता की धार से रादकर गढ़ी जाती है। कविता सर्वाधिक जनतांत्रिक संस्कृति का रूप होता है। मानवीय नैतिकता की प्रवृति यह है कि विकास यात्रा में जो पीछे रह गए हैं, या जो किसी तरह, किसी भी कारण से साथ नहीं चल पाते, पीछे छूट गए हैं; उन्हें अपने साथ ले लिया जाए। इस प्रवृत्ति के कारण मानवता और कविता दोनों की भाव परिधि की व्याप्ति सर्वाधिक होती है।"[8]

नागार्जुन जब काव्य सृजन करते हैं तो वह मानवीयता को आधार बनाकर करते हैं, उनकी कविता का धर्म गरीबी, बेरोजगारी, ऊँच–नीच, भूखमरी आदि का खात्मा है। नागार्जुन उनके बीच खड़े हैं। नागार्जुन के काव्य का नायक उदात्त चरित्रवान नहीं बल्कि आम जिंदगी जीता हुआ बालक है जो जीवन से संघर्ष कर रहा है; खुद अपनी पहचान बनाने के लिए दृढ़ संकल्प है, अछूत है, परंतु क्रांत है जो समाज का उद्धार करेगा –

"श्याम सलोना यह अछूत शिशु / हम सबका उद्धार करेगा।
आज यही संपूर्ण क्रांति का / बेड़ा सचमुच पार करेगा।"[9]

नागार्जुन की कविता का नायक वही होगा जो समाज में क्रांति की मशाल जलायेगा और समाज को शोषण के चक्र से मुक्त करेगा। इसी नायक के प्रति कवि का राग भी है और विराग भी। प्रगतिशील कवियों की विशेषता रही है कि वह उसी समाज से नायक पैदा करते हैं, जिसका शोषण हो रहा है। यह सभी कवियों की (नागार्जुन, केदार और त्रिलोचन) की विशेषता है। कबीर की एक पंक्ति है – तू कहता है कागद लेखी / मैं कहता हूँ आंखिन देखी। यही आंखिन देखी नागार्जुन की भी विशेषता है। जो इनका प्रत्यक्ष अनुभव है –

"अमल धवल गिरि के शिखरों पर / बादल को घिरते देखा है।

.....

कहाँ गया धनपति कुबेर वह / कहाँ गई उसकी वह अलका
नहीं ठिकाना कालिदास के / व्योम–प्रवाही गंगाजल का
ढूँढा बहुत परंतु लगा क्या / मेघदूत का पता कहीं पर
कौन बताएँ वह छायामय / बरस पड़ा होगा न यहीं पर
जाने दो वह कवि–कल्पित था / मैंने तो भीषण जाड़ों में
नभ–चुंबी कैलाश शीर्ष पर / महामेघ को झंझानिल से
गरज–गरज भिड़ते देखा है / बादल को घिरते देखा है।"[10]

इसी आंखिन देखी के साथ–साथ प्रगतिशील कवि स्वयं किसान व मजदूर के सुख एवं दुःखों के भोगी भी हैं; जो किसान–मजदूर के साथ–साथ खेतों में होते हैं। यही जिंदगी का अनुभव त्रिलोचन की कविता में मिलता है चाहे सर्दी, गर्मी, वर्षा कोई भी दिन हो चाहे लू हो वह किसानी जीवन को स्वयं जीता है। धूप–छाँव में उसके साथ रहता है जैसे –

"मैं तुम्हारे खेत में तुम्हारे साथ रहता हूँ
कभी लू चलती है कभी वर्षा आती है तो कभी जाड़ा होता है
तुम्हें कभी बैठा भी पाया जरा देर
कभी चिलम चढ़ा ली कभी बीड़ी सुलगायी
फिर कुदाल या खुरपा या हल की मुठिया को लिए हुए
कभी अपने आप कभी और कई हाथों को लगाकर
काम किया करते हो।"[11]

कवि नागार्जुन तो किसानी जीवन से अलग ही नहीं होना चाहते हैं, उनका वियोग किसी नायिका के प्रति नहीं बल्कि किसान एवं उसकी फसल के प्रति है। कवि कहीं धान कूटती किशोरियों के प्रति मंत्र–मुग्ध हैं तो कहीं सुनहली फसलों के प्रति मंत्र–मुग्ध हैं। यहीं दृष्टि कवि की लोक के प्रति रागात्मक संबंध स्थापित करता है –

"बहुत दिनों के बाद / अब की मैं जी–भर सुन पाया
धान कूटती किशोरियों की कोकिल–कंठी तान
बहुत दिनों के बाद।

बहुत दिनों के बाद / अब की मैंने जी–भर सूँघे
मौलसिरी के ढेर–ढेर ताजे–टटके फल
बहुत दिनों के बाद।"[12]

नागार्जुन के कवित्व रूप की एक खास विशेषता है कि वह आम–जन के साथ ही जीता है और उसी के साथ जीवन की सांसे लेता है। कवि का रोना–धोना, गम एवं खुशी सभी किसानी जीवन के साथ है तब ही तो कवि के जीवन की अंतिम सांसे भी उसी लोक के साथ ही गई जिस लोक में वह पैदा हुआ। उनकी कवि दृष्टि आम–जन–जीवन की जिंदगी के अनुभव से सरोबार है। नागार्जुन मात्र एक ऐसे कवि हैं जिनकी प्रेम एवं प्रकृति संबंधित कविताएँ भारतीय संवेदना व लोक राग से संबंध है –

"कर गई चाक / तिमिर का सीना / जोत की फाँक
यह तुम थी / सिकुड़ गई रग–रग / झुलस गया अंग–अंग
बनाकर ठूँठ छोड़ गया पतझार
उलंग असगुन–सा खड़ा रहा कचनार /
अचानक ठमगी डालों की संधि में / छरहरी टहनी
पोर–पोर में गसे थे ट्रसे / यह तुम थीं।"[13]

उपरोक्त पंक्तियों में नागार्जुन रागधर्मिता की गहराई तक उतरे हैं। नागार्जुन की विशेषता है कि जब वह व्यंग्यात्मक भाषा में कविता लिखते हैं तो वह लोक–राग से और भी संबंधित हो जाते हैं। इसी जगह पर व्यंग्यात्मक रूप में नागार्जुन 'निराला' के नजदीक ठहरते हैं। नपी–तुली भाषा, विषयात्मक दृष्टि से संपन्न नागार्जुन की कविता ही हो सकती है –

"सत्य स्वयं घायल हुआ, गई अहिंसा चूक
जहाँ–जहाँ दगने लगी शासन की बंदूक
जली ठूँठ पर बैठकर गईं कोकिला कूक
बाल ने बाँका कर सकी शासन की बंदूक।"[14]

नागार्जुन की प्रकृति संबंधी कविताएँ पूर्णरूपेण लोक–राग से संपन्न हैं –

"बीच सड़क पर / हरी हरी घास / उस पर सरकती ट्राम
मानो आड़ पर घोघा / भादों का भींगा–भींगा
चिकना सुंदर शानदार बालीगंज
मध्य वक्ष पर ट्राम–लाइन का जनेऊ पहने।"[15]

'पसीने का गुण–धर्म' कविता में नागार्जुन की जो रागात्मक संवेदना उभरकर आयी है –

"पसीने का गुण–धर्म। / रिक्शेवाले की पीठ की चमड़ी
और कितना शुष्क–श्याम होगा।
स्नायुतंतु की ऊर्जा और कितना पिघलेगी।
इस नरवाहन की प्राणशक्ति और कितना पकेगी
और कितना / क्षार–अम्ल दाहक पिगलनकारी....।"[16]

राजनीति के संबंध पर नागार्जुन के बारे में 'परमानंद श्रीवास्तव' ने लिखा है कि – "नागार्जुन जब आज की राजनीति पर व्यंग्य करने चलते हैं तो उनका ढंग कबीर वाला होता है–वे किसी को बख्शते नहीं हैं, अपने को भी नहीं।"[17] नागार्जुन ने किसी भी नेता को अपनी व्यंग्यात्मकता वाली दृष्टि से नहीं बख्शा है वह विडंबनाग्रस्त राजनीति एवं सत्ता के लोलुप राजनेताओं पर तीखा प्रहार करते हैं –

"स्वेत–स्याम–रतनार' अँखियाँ निहार के
सिंडकेटी प्रभुओं की पग–धूर झार के।
लौटे हैं दिल्ली से कल टिकट मार के
खिले हैं दाँत ज्यों दाने अनार के
आए दिन बहार के / सपने दिखे कार के

गगन–बिहार के / सीखेंगे नखरे, समुंदर पार के
लौटे टिकट मार के / आए दिन बहार के।"[18]

कवि नागार्जुन मानवीय पीड़ा और करुणा के कवि हैं। नागार्जुन भारतीय संस्कृति की मिशाल है जिसमें करूणा व प्रेम के भाव यथावत विद्यमान है। वहीं कवि में जनता का आक्रोश भी है तो कहीं पर आनंद और उत्सव भी देखने को मिलता है, जब कवि काव्य–सृजन के क्षेत्र में उतरते हैं तो जनता की अनेक समस्याओं एवं रंगों के साथ उपस्थित होते हैं। कहीं उनके काव्य में पारिवारिक सुख–दुःख का माहौल है तो कहीं पारिवारिक आनंद की अभिव्यक्ति होती है। कवि नागार्जुन की एक कविता है 'हजार–हजार बाहों वाली' जिसमें वे पकी–सुनहरी फसलों की मुस्कान देखते हैं, तो कहीं धान कूटती किशोरियों पर ही मंत्र–मुग्ध हैं–

"देखोगे, सौ बार मरुंगा/ देखोगे, सौ बार मिटुंगा
हिंसा मुझसे थर्राएगी। मैं तो उसका खून पिऊँगा
प्रतिहिंसा ही स्थायीभाव है मेरे कवि का
जन–जन में जो ऊर्जा भर दे / मैं उद्गाता हूँ उस रवि का।"[19]

कवि नागार्जुन 'कविता' के माध्यम से जन–जन में ऊर्जा भरने को बेताब हैं; तो त्रिलोचन अपनी बात को अर्थात् मनुष्य की बात को मनुष्य तक पहुँचाने के लिए बेताब हैं। त्रिलोचन की एक कविता है 'प्रयोग का अंत कभी न होगा' जिसमें कवि ने प्राण–पीड़ा को ही उपेक्षित माना है, कवि का मानना है कि संपूर्ण जिंदगी दुःखों से भरी हुई है, सभी मनुष्य डरे–डरे हैं, न अच्छी भावना कवि को किसी में नजर आती है न विकल्पना, सारी राह परिस्थितियों ने बंद कर दी है –

"मनुष्य की बात मनुष्य कानों / कभी सुनेगा कि नहीं सुनेगा
उपेक्षिता है अब प्राण–पीड़ा / कराह का सागर ज्वार में
सभी दिशाएँ दुःख से भरी हैं, / चलें कहाँ, प्राण डरे–डरे हैं,
न भावना है, न विकल्पना है, /न राह ही है, न उछाह ही है।"[20]

नागार्जुन हो चाहें त्रिलोचन या फिर केदारनाथ अग्रवाल ये सभी कवि शोषक वर्ग के पिछलगुआ, जी–हुजूरी व चाटुकार लेखक नहीं हैं, ये दूसरे की ताल पर थिरकने वाले कवि नहीं हैं। इनका सारा साजो–सामान स्वयं का है इन कवियों की काव्य–सर्जना में आम–जीवन की खुशहाली के गीत हैं तो कभी गम की रात कवि आम–जन के सुख–दुख में जीता–मरता है, इसलिए इनकी कविता में कम्युनिस्ट प्रभाव भी है और ये सच्चे मार्क्सवादी ठहरते हैं कवि नागार्जुन ने जनपक्षधरता के पक्ष में अपना झुकाव रखा है। आबद्ध है तो स्वजन–परिजन के प्रेम की डोर में, आबद्ध हैं तो आम–जन के साथ –

"आबद्ध हूँ, जी हाँ, आबद्ध हूँ –
स्वजन–परिजन के प्यार की डोर में....
प्रियजन के पलकों की कोर में....
सपनीली रातों के ओर में ....
बहुरूपा कल्पना रानी के आलिंगन पाश में....
लाख–लाख मुखड़ों के तरुण हुलास में....
आबद्ध हूँ, जी हाँ, शतधा आबद्ध हूँ।"[21]

सन् 1962 तक नागार्जुन ने कम्युनिस्ट पार्टी से त्याग–पत्र दे दिया था, परंतु फिर भी वह जन–आंदोलन से जुड़े रहे इसका कारण यही है कि उसकी रग–रग में आम–जन का बसेरा है तभी तो वे आम–जन में संघर्ष की ज्योति जलाना चाहते हैं–

यह धुआँ मैं ढूँढ़ रहा था / यही आज मैं खोज रहा था
यही गंध थी मुझे चाहिए / बारूदी छर्रे की खुशबू...।[22]

नागार्जुन दायित्वबोध के कवि हैं। वे केवल सामाजिक यथार्थ के ही कवि नहीं हैं, वरन् जीवन की अखण्डता के कवि हैं। नागार्जुन संपूर्ण भारतीय संस्कृति के उद्‌गाता कवि हैं। प्रकृति, पशु–पक्षी, लोगों के जन–जीवन, घर–परिवार, गली–कूचे, गाँव–बस्ती व समाजबोध उनकी काव्य–सृजन के अंतर्गत है। जो

व्यक्ति की सभी समस्याओं को उठाता है। उन्होंने व्यक्तिपरक रचना भी की है और सामाजिक दायित्व से पूर्ण वह आधुनिक कवि भी हैं साथ में परंपरागत भी। वे लोक–धुनों का सहज प्रयोग करते हैं।[23] और लोक छंद बरवै जैसे छंदों को भी उपयोग में लाते हैं। वह काव्य–सृजन में अनेक उपकरणों के साथ उपस्थित होते हैं। 'मंत्र कविता' आज की कविता को नया आयाम प्रदान करती है –

"ओं शब्द ही ब्रह्म है
ओं शब्द और शब्द और शब्द और शब्द
ओं, प्रणव, ओं नाद, ओं मुद्राएँ
ओं, वक्तव्य, ओं उद्‌गार, ओं घोषणाएँ
ओं भाषण.... / ओं प्रवचन... ।"[24]

नागार्जुन ने भाषा में जो सिद्धि प्राप्त की है और वह भारत की अनेक लोक भाषाओं से हिंदी परंपरा तक निर्वाह करते हैं और वह मराठी, बंगला के भी जानकार है। समाज के प्रति नागार्जुन बहुत ही जागरूक कवि हैं।

नागार्जुन सामान्य जन–जीवन के तो पुजारी हैं ही साथ में वह अपनी धरती एवं अपने जनपद का मोह भी नहीं त्यागते हैं। उनकी कविता समाज से मुख मोड़ने वाली कविता नहीं है। अपने जनपद से दूर रहकर भी वह जनपद प्रेमी बने रहते हैं और प्रदेश में वह संघर्षमयी बने रहते हैं। अपने जनपद से दूर रहकर भी वह अनुभव करते हैं –

"फेन फूल की काली मिट्‌टी, वह भी तुम हो।
कालिंजर का चौड़ा सीना, वह भी तुम हो।
ग्रामवधू की दबी हुई कजरारी चितवन वह भी तुम हो।
कुपित कृषक टेढ़ी भौंहें, वह भी तुम हो।
पकी–सुनहली फसलों की छवि–छटा निराली, वह भी तुम हो।
लाठी लेकर काल–रात्रि में करता जो उनकी रखवाली।"[25]

नागार्जुन की अपनी एक खासियत यह है कि उनकी कविता मानव–जीवन से मुंह नहीं मोड़ती है। अजय तिवारी का वक्तव्य है कि 'नागार्जुन की संवेदना का यह सबसे बड़ा गुण है कि वे मानव–जीवन को उसकी पूर्णता में देखते हैं और मानव–जीवन की कसौटी समाज या अध्यात्म की प्रभु–शक्तियों को नहीं; बल्कि अत्यंत साधारण लोगों को मानते हैं।"[26] नागार्जुन की कविता साधारण–जन की पुकार हैं, वह जन–साधारण की चिंता है, जन साधारण के सुख–दुःख की अभिव्यक्ति है। नागार्जुन कवि से पहले सामान्य मानव अपने आपको मानते हैं –

कवि हूँ पीछे तो मैं मानव ही हूँ
अतिमानव या लोकोत्तर किसको कहते हैं –
नहीं जानता।"[27]

नागार्जुन ने अपनी कविता के केंद्र में लोक–परलोक से हटकर उत्पीड़न और संघर्षशील मनुष्य को ही केंद्र में रखा है। इनकी विशेषता है कि पहले ये जीवन के गहरे यथार्थ में उतरते हैं; बाद में उसको कविता के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं।

नागार्जुन की आस्था साधारण जन से जुड़ी हुई है। वह साधारण जन की आत्मा के पुजारी हैं। उन्होंने आस्था के बगैर मानव–जीवन को आदर्श रहित व नीरस माना है। नागार्जुन की साधारण जन के प्रति आस्था यही उनकी कला है। उनकी कला का उद्देश्य साधारण जन की सेवा करना है। अजय तिवारी का मानना है कि – "नागार्जुन के लिए ईश्वर का संबंध मनुष्य को पराधीन बनाने वाली नियति से है और इतिहास का संबंध मनुष्य के विवेकपूर्ण संघर्ष से है। यह संघर्ष नागार्जुन के लिए स्वयं एक जीवन–मूल्य है, जीवन ऐसी सार्थकता है जिसके सामने सफलता–असफलता के प्रश्न गौण हो जाते हैं।"[28]

नागार्जुन की 'कला' का उद्देश्य संघर्ष है। मनुष्य को जीवन के प्रति संघर्षशील होना चाहिए परिणाम चाहे कुछ भी हो। जब जीवन का उद्देश्य संघर्ष

होगा तो मनुष्य इतिहास की दिशा स्वयं मोड़ देगा, इसलिए मनुष्य का विवेकपूर्ण संघर्ष अनिवार्य है। कुछ शक्तियाँ मानवीय मूल्यों की हत्या करने में लगी हैं। गांधीजी की हत्या पर 'नागार्जुन' ने 'शपथ' नामक कविता लिखी थी जो प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से समाज की इसी कहानी को बयाँ करती है –

"रोता हूँ लिखता हूँ / कवि को बेकाबू पाता हूँ
गंगा यमुना सभी रो रहीं /दसों दिशाएँ ध्वनित हो रहीं।
पृथ्वी उन्मत्त/ विकल है गगन/ नील जलधि शततः उद्वेलित
स्तब्ध हिमालय के शिखरों पर धनीभूत हो रहे
तुहिन कण / तृण–तरु–वृक्ष वनस्पति
सारे खिन्न खड़े हैं.... इत्यादि।"[29]

गांधी जी की हत्या समाज से मानव–मूल्यों की हत्या है, जिससे संपूर्ण भारतीय समाज का हृदय दुःखी है। साथ–साथ संपूर्ण प्रकृति का रोना गाँधी की हत्या पर यह कवि ने मानव एवं प्रकृति का साहचर्य तो बताया ही है और कवि को यही पंक्तियाँ रोमान की पराकाष्ठा पर भी ला खड़ा कर देती है। रामविलास शर्मा ने नागार्जुन के बारे में लिखा है – "हिंदी साहित्य की जीवंत परंपरा और भारतीय जनता के साहसी अभियान के प्रतीक हैं : कवि नागार्जुन।"[30] चाहे वह मानवीय मूल्यों को स्थापित करने का अभियान हो या फिर मनुष्य की जीवंतता को लेकर। भारतीय जनता की देखभाल करने वाली है नागार्जुन की कविता।

इसी परंपरा में केदारनाथ अग्रवाल नागार्जुन के रचना–विधान के समकालीन हैं। उनका सृजन–धर्म राजनीतिक–सामाजिक दृष्टि से धनी है। केदारनाथ अग्रवाल का मानना है कि व्यक्ति को अपने लिए नहीं बल्कि समाज के लिए कविता करना चाहिए। इसी दृष्टि से केदारनाथ अग्रवाल मार्क्सवाद के नजदीक हैं। उन्होंने काव्य को सामाजिक दृष्टि से देखा है; वह उस राजनीति का भी विरोध करते हैं जो जनवादी भारत का ध्यान नहीं रखती, उन्होंने अपनी कवित्व के माध्यम से कांग्रेस के दोगले चरित्र को उजागर किया है –

"लंदन में बिक आया नेता, हाथ काटकर आया
एटली–विवेन–अंग्रेजी में, खोया और बिलाया
भारत–माँ का पूत सिपाही पर घर में भरमाया
अंग्रेजी साम्राज्यवाद का उसने डिनर उड़ाया है।"[31]

केदार जी जिस समय की बात कर रहे हैं, उस समय और वर्तमान में सिर्फ और सिर्फ काल विशेष का अंतर है। जब नेता विदेशियों के हाथों अर्थात् साम्राज्यवादी शक्तियों के हाथों भारत की आम–जनता के भाग्य को बेच देते हैं। इस समय भारतीय नेता खुद जनता का खून चूस रहे हैं। केदार अग्रवाल की कविता देश–प्रेम का अच्छा उदाहरण है। यह विडम्बना है कि आजाद भारत में भी आज आधी जनता को भरपेट भोजन नसीब नहीं हो रहा है यह सब इन राजनेताओं की मेहरबानी है। जिन नेताओं से जनता आजादी की उम्मीद लगाये बैठी थी कवि उन्हीं नेताओं से प्रश्न करता है –

"बोलो आजादी लाये / नकली मिली है कि असली मिली है।
कितनी दलाली में कितनी मिली है।"[32]

कांग्रेसी नेताओं की समझौतापरस्ती अगर साम्राज्यवादी शक्तियों को भारतीय जनता के जुझारू सम्मान को नहीं बेचती तो शायद जनवादी राह पर भारत आगे बढ़ जाता ऐसा कवि का मानना है। कुछ आलोचकों का मानना है कि केदारनाथ अग्रवाल की कविता में व्यंग्य नहीं है, मुझे लगता है केदारनाथ अग्रवाल व्यंग्यात्मक तरीके से जैसे अपनी बात को रखते हैं, यह उनका अनूठा मिजाज है और इसी मिजाज के कारण वह निराला व नागार्जुन के समान बैठ जाते हैं।

चाहे भारत की जनता हो या फिर वियतनाम। कवि का कवित्व सभी साम्राज्यवादी शक्तियों का विरोध करता है और वियतनाम की जनता की मुक्ति के संघर्ष पर केदारनाथ अग्रवाल ने लिखा है –

"डालर ने सोचा था / हो – यी – मिन्ह भुनगा है
लेकिन / उस भुनगे ने / जालर को मसल दिया।"[33]

इसी संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है – "साम्राज्यवादियों की हार पर ऐसा उल्लास बहुत कम कविताओं में व्यक्त हुआ है। क्रोध और हर्ष के भाव एक ही में घुल–मिल गए हैं। आवेश में अवध का किसान इसी ढंग से उपमाएँ जोड़ते हुए बोलता है। जिस बात को शब्द नहीं कह पाते, उसे शब्दों की गति कह देती है।"[34]

लोक कवि की जो रागात्मक भाव–व्यंजना होती है उसमें जीवन के हर्ष–विषाद, सुख–दुख सभी का समावेश होता है। केदारनाथ अग्रवाल का काव्य अनुराग का द्योतक है उसमें लोक के प्रति गहरी संवेदना है। "केदानाथ अग्रवाल धरती के कवि हैं। खेत, खलिहान, कारखाने और कचेहरी के कवि हैं, इन सबकी पीड़ा, दुःख–दर्द, संघर्ष और हर्ष के कवि हैं। वह पीड़ित और शोषित मनुष्य के पक्षधर हैं। कविता में मनुष्य तथा मनुष्यता के तलाश के कवि हैं। वह मनुष्य बनना चाहते हैं – देवत्व उनकी कामना नहीं है क्योंकि 'परम स्वार्थी देवी सब।' मनुष्य बनना और मनुष्य बनाना ही उनके जीवन की तथा कवि–कर्म की सबसे बड़ी साध है तथा साधना भी।"[35]

उनकी कविताएँ देश के मजदूरों–किसानों की पुकार हैं। केदार के व्यंग्य की धार ने राजनीति को घिनौनी नजर से देखा है –

"राजनीति नंगी औरत है / कई साल से जो यूरूप में
आलिंगन के अंधे भूखे / कई शक्तिशाली भूखे
कई शक्तिशाली गुंडों को / देश–देश के जो स्वामी हैं।"[36]

केदार जी ने राजनीति को मनुष्य से मनुष्य को लड़वाने की संज्ञा दी है। यह सभ्यताओं की विनाशक है। वर्तमान में तो संकट और भी गहरा गया है। यही एक राजनीति रूपी समस्या है, जो लोगों को आपस में मिल–जुलकर नहीं रहने देती है। तो दूसरी ओर केदार का आक्रोश उन जमींदारों के प्रति है जो मजदूरों से काम कराते हैं, परंतु उनकी पूरी मजदूरी भी नहीं देते और बंधुआ मजदूरी के

लिए भी मजबूर करते हैं। केदार उन सबमें इन शोषक शक्तियों के खिलाफ संघर्ष की आवाज बुलंद करते हैं –

"सा हाथों के एक का बल बहुत बड़ा है
हम पहाड़ को भी उखाड़ कर रख सकते हैं
जमींदार यह अन्यायी है / कामकाज सब करवाता है,
पर पैसे देता है छ ही। / वह कहता है – बस इतना लो
काम करो, या गाँव छोड़ दो।"[37]

केदार की कविता किसानों के हालातों को बयाँ करने वाली कविता है। किसानों की जिंदगी उनकी फसल के ऊपर आधारित है। गेहूँ को गरुआ नामक रोग लग गया है, चना को भी घोंघी लग गया है। जब प्रकृति फसल को अपनी गिरफ्त में ले लेती है तो किसान की भी हालात खस्ता हो जाती है –

"गेहूँ में गरुआ लगा / घोंघी ने खा लिया चना
बिलकुल बिगड़ा खेल बना / अब आफत से काम पड़ा,
टूट सुख से भरा खड़ा / दिल को धक्का लगा बड़ा।"[38]

किसान की जब फसल खराब हो जाती है तो किसानों की शोषक शक्तियों द्वारा जमीन छीन ली जाती है।

कवि नागार्जुन ने भी कविता के माध्यम से जमीन छीनने का विरोध किया है और जमीन को वापिस किसानों को देने का आग्रह किया है और उन्हें खबरदार किया है –

"हमारी लंगोटी / हमें वापस दे दो / तुमने हमारी धरती को
सितुआ–जितना छोटी आकार का/ बना दिया
हमारी धरती हमें वापस दे दो
हमें झंडेवाली आजादी नहीं चाहिए
वापस लेके रहेंगे / हम अपने जंगल / अपनी पहाड़ियाँ
अपनी लाल मिट्टी / खबरदार! खबरदार!"[39]

कवि नागार्जुन केवल दिखावे की स्वतंत्रता से संतुष्ट नहीं हैं, लेंगे तो सभी कुछ वाली बात है। अपनी जमीन, जंगल, पहाड़ियाँ सभी किसानों की हैं। किसानों को मिलनी चाहिए। कवि साथ में खबरदार भी करता है अगर यह नहीं हुआ तो किसान अपनी धरती के लिए संघर्ष करेगा।

कवि नागार्जुन और केदार का आक्रोश एक जैसा है। दोनों ही आम आदमी के जीवन को नरक बनाने वाली शक्तियों को खबरदार करते हैं। भाषा का सटीक प्रयोग पाठक के मन में और भी जोश भर देता है। केदारनाथ का मानना है कि रागात्मक संबंध उन्हीं के हृदय में बनते हैं, जो कवि स्वयं के लिए कविता ना करके मानवीय मूल्यों का ध्यान रखता है। जनता से रागात्मक संबंध मानवीय मूल्यों के आधार पर ही पायेगा, अन्यथा नहीं।

राजनीतिक भ्रष्टाचार, गरीबी, बेकारी, भुखमरी, समाज की विसंगतियाँ और ऊँच–नीच, छुआछूत की विडम्बना को जितनी गहराई से इन कवियों ने पकड़ा है उतना किसी अन्य कवि ने नहीं।

केदार ने सरकार की जनविरोधी नीतियों का विरोध करते हुए लिखा है –

"दुख ना गयो / दरिद्र न छूटे / चोर–बाजारी दिन–दिन लूटे,
धीरज–धनुही, फुस–फुस टूटे / ऐसी राज का भंडा फूटे।"[40]

केदारनाथ अग्रवाल ने मजदूर के जो सौंदर्य का चित्र खींचा है। वह अनुभवगत सौंदर्य ही हो सकता है, यह केदारनाथ अग्रवाल की विशेषता है। उनका अनुभव का सौंदर्य संसार बहुत ही व्यापक है –

"छोटे हाथ सबेरा होते / लाल कमल से खिल उठते हैं
करनी को उत्सुक हो / धूप हवा में हिल उठते हैं।"[41]

मजदूर के छोटे हाथों को 'कमल' की उपमा देना, और मजदूरी को तैयार, मजदूर का कर्मक्षेत्र में उतरना, चाहे धूप हो या तेज हवा, मजदूर कर्म से पीछे नहीं हटता। मजदूर ही नहीं कवि भी सृजन के माध्यम से कर्म क्षेत्र में उतरे हुए हैं।

कवि का रागात्मक संबंध आम जन जीवन के प्रति है, मानवीय संबंध गहराते ही जाते हैं। कवि तो मनुष्य को सुंदरतम कृतियाँ अर्पित करना चाहते हैं। उनका संपूर्ण काव्य बिना शर्त आम–जन को समर्पित है, समर्पित है उस जनता को जो अपने मूलभूत अधिकारों से वंचित हैं; समर्पित है उन लोगों को जिनको रहने के लिए घर नहीं और खाने के लिए रोटी नहीं। यही केदार का कवि–धर्म है और यहीं कवि–धर्म का उद्देश्य है। आम–आदमी को न्याय दिलाना ही कवि का ध्येय है।

केदार ने सांप्रदायिकता के खिलाफ भी आवाज उठाई है, जिन गीतों के माध्यम से यह आवाज उठाई है; उसमें लोक कला का एक नया रूप सामने आता है –

"हिंदुओं मुस्लिम सुनो / मैं रक्त की प्यासी नहीं हूँ।
सिंधु बादल बन के ऊपर / वृष्टि करता जा रहा है
मेरु हिम का प्राण–शीतल / दुग्ध धार पिला रहा है
स्नेह–गंगा और यमुना में / अमित लहरा रहा है।"[42]

उनका व्यक्तित्व पूर्णतः समाज व राष्ट्र से संबंध रखता है और उनका सृजन–कर्म इन्हीं सब को लेकर है। कहीं उनकी कविता सौहार्द्र भावना की अभिव्यक्ति है तो कहीं प्रकृति संबंधी गीत लोक धुन के रंग में रंगे दिखाई देते हैं जैसे धूप से संबंधित गीत –

"धूप धरा पर उतरी / जैसे शिव के जटाजूट पर
नभ से गंगा उतरी। / धरती भी कोलाहल करती
तम के ऊपर उभरी।। / धूप धरा पर बिखरी
बरसी रवि की गगरी / जैसे ब्रज की बीच गली में
बरसी गोरस गगरी / फूल–कटोरी–सी मुसकाती
रूप भरी है नगरी।"[43]

केदार ने अपनी कविताओं में लोक–गीतों का सफलतम प्रयोग किया है। उन्होंने जो 'जन–गीत' लिखा है वह भी पूर्णतः 'लोक धुन' पर आधारित है –

दुख ना गयौ / दरिद्र ना छूटै चोर–बाजारी दिन–दिन लूटै
धीरज–धुनही फुस–फुस टूटै / ऐसि राज का भंडा फूटै।"[44]

कवि ने सृजन काव्य का विरोध करने वाली शक्तियों का भी खुलासा किया है –

"जब कलम ने चोट मारी / तब खुली वह खोट सारी
तब लगे तुम वार करने / झूठ से संहार करने
सोचते हो मात दोगे / जुल्म के आघात दोगे
सत्य का सिर काट लोगे / रक्त जीवन चाट लोगे।"[45]

जब–जब कवियों ने आम–मानव सत्य की बात की है तो शोषक शक्तियों ने उनका विरोध किया है। चाहे वह प्रेमचंद का साहित्य हो या फिर केदार व मुक्तिबोध का काव्य। जनता को जागृत करने वाले कवियों का विरोध होता ही आया है, लेकिन, केदार जैसे कवि बहुत ही कम संख्या में हैं; जो किसान–मजदूर के लिए निडर होकर कमर कस लेते हैं और सृजन की युद्ध भूमि में बगैर किसी शक्ति की परवाह किये उतर जाते हैं।

त्रिलोचन की कविता भी आम–जन को समर्पित है। उनकी कविता इस बात की गवाह है कि लोक–जीवन से कितने गहरे जुड़े हुए हैं। यह उनकी कविता को पढ़कर ही जाना जा सकता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कविता के बारे में विचार व्यक्त करते हुए लिखा था कि – "कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ–संबंधों के संकुचित मंडल के ऊपर उठाकर लोक–सामान्य भाव–भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह

अपनी सत्ता को लोक–सत्ता में लीन किए रहता है। उसकी अनुभूति होती है या हो सकती है।"[46]

उक्त कथन शुक्ल जी का प्रगतिशील कविता के बारे में खरा उतरता है इन कवियों का अपना तो कोई स्वार्थ है नहीं, खासकर नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ, मुक्तिबोध व शमशेर इन्होंने जिस काव्य का सृजन किया वह स्वार्थ के संकुचित मंडल से ऊपर उठकर लोक–सामान्य की भाव–भूमि पर ही किया है। कवियों की अनुभूति ही लोक–अनुभूति में शामिल हो गयी है, अपना तो कुछ है ही नहीं; है तो सभी का। मुक्तिबोध ने कहा है कि मुक्ति सभी के साथ में है अकेले में नहीं इसी बात का गवाह है प्रगतिशील कवियों का काव्य–सृजन। त्रिलोचन की एक कविता है जिसमें उन्होंने अपने को ही लोक–सभा में विलीन कर दिया –

"मैं तुम से, तुम्हीं से, बात किया करता हूँ।
और यह बात मेरी कविता है।"[47]

शुक्ल जी जिस स्वार्थ–संबंधों से उठकर लोक–सामान्य, भाव–भूमि की बात करते हैं, त्रिलोचन की वही कविता है। त्रिलोचन का रागात्मक संबंध जनता के प्रति है वह जनता के कवि है और उन्हीं की भाषा में उन्हीं की बात करते हैं। कविता में प्रकृति व जीवन का ठेठ रूप मिलता है जैसे 'झापस' कविता का उदाहरण दृष्टव्य है –

"आठ पहर की टिप् टिप् / सड़क भीग गई है
पेड़ों के पत्तों से बूँदें / गिरती है टप–टप–टप
हवा सरसराती है / चिड़िया समेटे पंख यहाँ वहाँ बैठी है
ऐसे लोग आते हैं जाते हैं / जो काम टाल नहीं सकते
किसी तरह।"[48]

वर्षा से सड़क का भीगना मौसम का खराब होने का सूचक है, परंतु मजदूर अपना काम ऐसे मौसम में भी नहीं टाल सकते। 'टप–टप–टप' शब्द कविता में ध्वन्यात्मकता पैदा करता है। लोक–जीवन और प्रकृति का को–रिलेशन त्रिलोचन

की कविता में गहरे स्तर पर है। समाज की अभिव्यक्ति भी कवि प्रकृति के माध्यम से करते हैं।

भूमंडलीकरण के दौर में पूँजीवादी सभ्यता गाँवों में भी पहुँच गयी, ग्रामीण लोगों को सुविधा तो दी परंतु रोजगार नहीं दे पायी। इससे ग्रामीण जनता को सुविधाभोगी तो बना दिया परंतु उनकी रही–सही पूँजी को भी पूँजीवादी सभ्यता ने अपनी गिरफ्त में ले लिया है। उनका अनुभव शहर से लेकर ग्रामीण जनता तक है। मैं शैली में रचित उनकी एक कविता 'रैन बसेरा' के नायक परमानंद के माध्यम से शहरी आम–नागरिक के जीवन रहस्य का उद्‌घाटन किया है–

"कमरा एक और रहने वाले तीन / पत्नी, बच्चा और मैं
चौथे की गुंजाइश यहाँ नहीं / मेरी अनकहनी चिंता
मेरी बिथा बना दी।"[49]

त्रिलोचन का लोक अनुभव किसी एक वर्ग तक सीमित नहीं है; वह निम्न वर्ग से लेकर मध्यवर्ग तक पहुँचते हैं, उनका अनुभव दबली–कुचली जनता से भी हमें अवगत कराता है। 'सब्जी वाली बुढ़िया' नामक कविता में एक बुढ़िया की कथा को बयाँ करता है जो पेट भरने के लिए सब्जी बेचने का काम करती है –

"मेथी और पालक की / दो–दो हरी गट्ठियाँ
लस्सन और प्याज की / चार–चार पोटियाँ बुढ़िया कह रही थी
ग्राहक से / ले लो / कुछ पचास पेसे में।"[50]

त्रिलोचन कभी भी अपनी प्रकृति, खेत–खलिहानों को नहीं भूला पाते हैं। वातावरण कविता में उन्होंने सारी प्रकृति को समेट लिया है –

साँझ गुलाबी काँप रही है ठंड से
उधर गुलाबों के पौधे लाचार हैं
झूल–झूल कर फूल हवा से कह रहे
हैं यह इतनी, छेड़छाड़ अच्छी नहीं।"[51]

त्रिलोचन चाहे प्रकृति से संबंधित कविताओं का जिक्र करें या फिर समाज से संबंधित कविताओं का या उन कविताओं का जो लोक गीतों पर आधारित हैं, सभी के माध्यम से कवि समाज से रागात्मक संबंध स्थापित करता चलता है। त्रिलोचन की कविता के बारे में डा. नामवर सिंह ने लिखा है कि "त्रिलोचन लोक–बोली का संस्कार करते हैं और इस मामले में वे तुलसी के अनुयायी हैं। त्रिलोचन अवध के चिरानी पट्टी गाँव के लोक कवि नहीं, बल्कि काशी के जनकवि हैं और उनकी कविता हिंदी की जातीय कविता है।"[52]

शमशेर प्रगतिवादी कवि होने के साथ–साथ उन थोड़े से कवियों में हैं जिनको प्रयोगवादी होने का गौरव भी प्राप्त हुआ है। शमशेर ने अपने काव्य–सृजन में आस–पास के समाज के संघर्ष को बयाँ किया है। दरअसल उनकी कविता लोक–कला के समीप की कविता है। उनकी कविता उस समाज की कविता है जो समाज जन–आंदोलनों में भाग ले रहा है और टूटते हुए मध्यवर्ग का चित्रण करता है। शमशेर का मानना है कि कला एवं समाज का संघर्ष एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उनका मानना है कि कवि लोक–जीवन के भीतर गहरी पैठ रखता है। उसका रागात्मक संबंध लोक की अंतरात्मा से जुड़ा हुआ है इसीलिए तो उन्होंने कविता में मजदूर और किसानों के स्वर को भली भांति पहचाना है और उनमें व्याप्त रूढ़िवादिता को खण्डित किया है। कवि ने नवीन भावनाओं के माध्यम से नवीन गीतों को स्वर दिया है –

"काट बुर्जुआ भावों की गुमठी को – / गाओ
अति उन्मुक्त नवीन प्राण स्वर कठिन हठी।
कवि हैं, उनमें अपना हृदय मिलाओ।"[53]

शमशेर की यह विशेषता है कि उनकी कविता लोक–रंगों की पाठशाला है। उनमें अनेक रंगों का समायोजन है, जो एक पेंटिंग द्वारा नयी भाषा को जन्म देती है –

"आँरों अनझिप / खुलीं / वक्ष में / स्तन
पुलक बन / उठते और / मुन्दते।"[54]

कवि ने 'छिप गया मुख' नामक कविता में भी जो चित्र खींचा है वह अद्‌भुत है –

"छिप गया वह मुख
ढँक लिया जल आँचलों ने बादलों के
(आज काजल रात–भर बरसा करेगा क्या।)
नम गई पृथ्वी बिछाकर फूल के सुख
सीप–सी रंगीन लहरों के हृदय में डोल
चमकीले पलों में।"[55]

कवि शमशेर ने अपनी कविता के केंद्र में लोक–जीवन व लोक–राग को ही केंद्र में रखा है। उनका यह लोक गीत कवि के मन के लोक को और जन–रूचि को स्पष्ट करता है –

"निदिया सतावे मोहं संझही से सजनी / संझही से सजनी ।।1।।
तनक हू न भावे / संझही से सजनी।।2।।
निदिंया सतावे मोहें / छलिया रैन
कजर ढरकावे / सतही से सजनी।।3।।
निदियाँ सतावे मोहें। / दुअि नैना मोहैं / झुलना झुलावै
संझही से सजनी / निदिया सतावै मोहैं।"[56]

यही नहीं, शमशेर ने किसान–मजदूरों की वास्तविकता के चित्र भी खींचे हैं। 'शाम होने को हुई' नामक कविता में कवि ने शाम के समय का चित्र खींचा है। शमशेर की यह एक खासियत है कि वह चित्रभाषा में ज्यादा बात करते हैं, उनकी कविता में हर शब्द का एक मतलब होता है। इस कविता में पूरा का पूरा किसान जीवन समाया हुआ है –

शाम होने को हुई लौटे किसान / दूर पेड़ों में बढ़ा खग–ख।
धूल में लिपटा हुआ है आसमानः / शाम होने को हुई, नीरव

तू न चेता। काम से थककर / फटे–मैले वस्त्र में कमकर
लौट आए खोलियों में मौन / चेतनेवाला न तू – है कौन।"[57]

शमशेर की कविता न स्वप्न है न कहीं की परिकंथा उनकी कविता भारतीय लोक–जीवन के बीच से उत्पन्न कविता है, जिसको कवि ने खुद अनुभव किया है। इस अनुभव की क्रिया ने ही उसकी कविता को क्रियाशील बना रखा है। उनका काव्य जीवंत काव्य है, वह समय के अनुसार बीत जाने वाली कविता नहीं है। उसकी कविता परिस्थितियों से मुकाबला करने वाली कविता है। समय के साथ संघर्ष करने वाली कविता ही मुक्तिबोध की है। जिंदगी के जितने उतार–चढ़ाव लोक–जीवन में आते हैं वह सभी मुक्तिबोध की कविता में मिल जायेंगे। हालांकि यह बात अलग है कि उनका काव्य नागार्जुन, त्रिलोचन, केदार से भिन्न स्तर का है। परंतु यह किसान–मजदूर की ही दुनिया की कहानी है आम जन की पीड़ा है। मध्यवर्ग की व्यथा है, पूँजीपतियों के कारनामें का बयाँ करती कविता है। उनका रागात्मक संबंध लोक की यथार्थ भूमि से जुड़ा है, ना उसमें बनावटीपन है ना दिखावट है, वह प्रैक्टिकल होकर कविता लिखते हैं उनकी कविता में उबाल व क्रांति है, मुक्तिबोध की कविता अपने अधिकारों के प्रति जागृत करने वाली कविता है जिसमें दुःख भी है सुख की आशा भी, क्रांति भी और जोश भी। इन्हीं अनुभवों को लेकर चलती है मुक्तिबोध की कविता। मुक्तिबोध गहरे मानसिक अंतर्द्वन्द्व और तीव्र सामाजिक अनुभूति के कवि हैं। मुक्तिबोध को पूँजीवादी समाज स्वीकार नहीं था। उन्होंने हमेशा ऐसी चकाचौंध और ऐसी पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध किया है, जो आम–जन का शोषण करती है। मुक्तिबोध की कविता की राह भयानकता का सामना करती है। उन्होंने पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध ही नहीं उसे नंगा भी किया है। मुक्तिबोध के युद्धभूमि का मोर्चा उस जगह पर है जहाँ से वह पूँजीवादी, साम्राज्यवादी शक्तियों और व्यवस्था का विरोध कर सके। मुक्तिबोध के काव्य को समझने के लिए दिमागी मशक्कत

की जरूरत पड़ती है। उसका साहित्य जनता का साहित्य है। शुक्लजी ने व्यक्ति धर्म के स्थान पर लोक–धर्म को श्रेयष्कर माना है। उन्होंने साहित्य को मानव जीवन से जोड़कर देखा है। मुक्तिबोध का साहित्य भी जो जीवन–मूल्यों से ग्रसित जनता को प्रगति की राह पर ले जाये, उसी साहित्य को मुक्तिबोध श्रेयष्कर मानते हैं।

मुक्तिबोध की कविता की पैठ राजनीति के अंदर भी गहरी है। वह राजनीति पर व्यंग्य नहीं करते बल्कि उसको चारित्रिक रूप से नंगा करते हैं। उसके असली चरित्र को नंगा करता है। उनकी राजनीतिक समझ उलझनों में फंसी नहीं है बल्कि उस पर उनकी समझ एकदम साफ है। उनका मानना है कि समाज का विकास तब तक संभव नहीं है; जब तक जनता शोषक शक्तियों के मध्य पिसती रहेगी। इसलिए वह बार–बार कविता के माध्यम से अपने अधिकारों के प्रति जगाने का प्रयास करते हैं और राजनीति के चरित्र को उजागर करते हैं–

"वेदना को हम विचारों की / गुंथे तुमसे / बिंधे तुमसे
व अवशिष्ट परस्पर हो गये।

.....

कोई नहीं थे हम तुम्हारे कितुं / सहचर हो गये

चाहे जलधि, पर्वत, हजारों मील की दूरी
हमारे बीच में आ जाए / फिर भी मानसिक अदृश्य सूत्रों से
हमारी आत्माएँ परस्पर बात करती हैं।"[58]

मुक्तिबोध की कविता में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति अनेक स्तरों पर हुई है। उनका यथार्थ मानव के किसी एक पक्ष को लेकर नहीं है। उनका यथार्थ संपूर्ण मानव जीवन से जुड़ा हुआ है। उनका यथार्थ गतिशील है और इसकी कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए वह फैंटेसी का सहारा लेते हैं। फैंटेसी के माध्यम से उन्होंने कोई काल्पनिक चित्रण नहीं किया; बल्कि सामाजिक सत्य को ही

उद्घाटित किया है। उनकी कविता वस्तु यथार्थ को तो सामने लाती ही है बल्कि आस–पास के वातावरण को भी स्पष्ट करती है –

"समझ में आ न सकता हो / कि जैसे बात का आधार
लेकिन बात गहरी हो।"[59]

यथार्थ को मुक्तिबोध सीधे–सीधे सामने नहीं लाते, यथार्थ को सामने लाने के लिए मुक्तिबोध को फैंटेसी का सहारा लेना पड़ता है।

वैसे मुक्तिबोध सामान्यतः मध्यवर्ग का कवि है परंतु आम–जन उनके काव्य से औझल नहीं हुआ है। उनकी कविता शोषण होने वाले मनुष्य की पक्ष–धरता लिए हुए हैं। इसलिए इस आधार पर कहा जा सकता है कि प्रगतिशील कवियों का लोक के साथ घनिष्ठ रूप से रागात्मक संबंध रहा है।

शहरी जीवन बनाम लोक–जीवन : संदर्भ मध्यवर्गीय समाज

साहित्य संपूर्ण मानव जाति के लिए होता है। प्रगतिवादी दौर की कविता में निम्नवर्ग का चित्रण ही नहीं बल्कि निम्न मध्यवर्ग व मध्यवर्ग की हकीकत को भी बयाँ करती है। प्रगतिशील कवियों की व्यापक दृष्टि ने सामाजिक भावना को लेकर महत्वपूर्ण कार्य किया है। इन कवियों की संवेदना ग्रामीण समाज तक ही सीमित नहीं है, बल्कि शहरी जीवन तक को भी अपने काव्य में जगह दी है। प्रगतिवादी कविता निम्न वर्ग को बयाँ तो करती ही है साथ में निम्न मध्यवर्ग व मध्यवर्ग को भी अपने काव्य में जगह दी है। सविनय अवज्ञा आंदोलन, लगानबंदी आंदोलन, किसान आंदोलन, मजदूर आंदोलन एकजुट होकर शक्तिशाली हो रहे थे इन्हीं के आस–पास निम्न वर्ग एवं उच्च वर्ग के बीच मध्यवर्ग की हालात और भी बुरी होते जा रही थी। किसान, मजदूरों व कर्मचारियों में असंतोष फैलता जा रहा था, वे भी अपने अधिकारों के प्रति सचेत होने लग गये थे।

हालाँकि यह वर्ग अवसरवादी था, परंतु इसमें सरकार के प्रति असंतोष की भावना तो थी ही, जो नयी कविता में विद्रोह का रूप धारण कर लेती है। नयी कविता तक आते–आते यह वर्ग विद्रोह का पर्याय बन गया। इतिहास पर जब हम नजर डालते हैं तो निम्न मध्यवर्ग की स्थिति काफी शोचनीय थी यूँ भी कहा जा सकता है, कि शोषित वर्गों के बाद सबसे बड़ा वर्ग था मध्यवर्ग, यह पूँजीवादी व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग है। दफ्तरशाही वर्ग एवं कर्मचारी वर्ग इसी वर्ग में आता है। शहर का कोई भी कर्मचारी वर्तमान में खुश नहीं है, उसका एक ही कारण है वह भी शोषण का अंग रहा है। यह वर्ग अपने आपको निम्न वर्ग से भी अलग रखना चाहता है, परंतु उच्च वर्ग में भी नहीं मिल पाता और इन दो पाटों के बीच में इसका शोषण होता रहता है। सारी नैतिकताएँ एवं आचार–संहिता इसी वर्ग पर लागू होती है। एक ओर तो यह नैतिकताओं व सामाजिक मर्यादाओं से बंधा हुआ है दूसरी ओर उनको तोड़ता भी यही वर्ग है। यह आंतरिक रूप से भी शोषित है और बाह्य रूप से भी वैसे यह वर्ग महत्वकांक्षाओं का धनी रहा है। निम्न मध्यवर्ग के एक गरीब अध्यापक का नागार्जुन ने अपनी कविता में बड़ा ही संवेदनशील चित्र प्रस्तुत किया है –

"घुन खाए शहतीरों पर की बारहखड़ी विधाता बाँचे
फटी भीत है छत चूती है, ओले पर विस्तुइया नाचे
बरसा कर बेबस बच्चों पर मिनिट मिनिट में पाँच तमाचे
इसी तरह से दुखरन मास्टर गढ़ता है अन्दम के साँचे।"[60]

औद्योगिक सभ्यता की महत्वपूर्ण देन है, सरकारी एवं गैरसरकारी संस्थानों व कार्यालयों में मर्ध्यवर्ग का प्रवेश आर्थिक रूप से यह शोषित वर्ग है, पिछड़ा हुआ है, परंतु रहन–सहन व सांस्कृतिक तौर–तरीके उच्च वर्ग के अपनाता है अर्थात् अपने को उच्च वर्ग का अंग समझता है। यह एव बहुत बड़ी दुविधा है इस वर्ग के साथ में। इसके सपने उच्च वर्ग के साथ है जबकि है यह शोषित वर्ग।

प्रगतिशील कवियों की कविता शोषित वर्गों के प्रति सहानुभूति व उनकी हिमायती बनकर उनके साथ हैं।

नागार्जुन जहाँ व्यंग्यात्मक तरीके से मध्यवर्ग को अपनी कविता में जगह देते हैं तो मुक्तिबोध इस वर्ग की तरफदारी की सलाह देते हैं। तो केदारनाथ अग्रवाल इस वर्ग को याचक के रूप में सामने लाते हैं। केदारनाथ अग्रवाल की एक कविता है 'मंत्री मास्टर–संवाद' जिसमें मंत्री जी से मास्टर ने अपने दुःखों को बयाँ किया है और अपना बेतन बढ़ाने की फरियाद करता है –

"मंत्री से अध्यापक बोले : हम हैं बहुत दुखारी।
इससे अपना कष्ट सुनाने, आये शरन तुम्हारी।।
सुन लो थोड़ा कान लगाकर, राजभवन के वासी।
हमसे ज्यादा वेतन पाते हैं, अनपढ़ चपरासी।
क्या समझा है हमें आपने, बिना उदर का प्राणी।
ओस चाटकर अब जीनें में, होती है हैरानी।
कृपया वेतन शीघ्र बढ़ाओ, देखो यह मँहगाई।
आनाकानी करो न जी तुम, मौत हमारी आई।"[61]

तो कभी–कभी यह वर्ग सरकार के प्रति विद्रोह का रूप भी अपना लेता है और सरकार की नीतियों के द्वारां दिन–प्रतिदिन बढ़ती महँगाई के कारण अपना क्षोभ व्यक्त करता है–

"होती है कम आय / हमारा घटता है व्यवसाय
होता है अन्याय, / हमारा लुटता है समुदाय।"[62]

और इसी महँगाई के कारण इस वर्ग में भ्रष्टाचार भी पनपा है। केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी कविता के माध्यम से इसको स्पष्ट किया है –

"थानेदार बिछाते जाल / वेतन करते नहीं हलाल
लम्पट का करते प्रतिफाल / जल्दी होते मालामाल।"[63]

मध्यवर्ग उच्चवर्ग तक पहुँचने के लिए नैतिक–अनैतिक सारे रास्ते अपनाता है। उच्च वर्ग तो आम–आदमी का शोषण करता है, परंतु जो मध्यवर्ग की उच्च वर्ग तक पहुँचने की लालसा है वह भी कम खतरनाक नहीं है। यह जल्दी मालामाल होने की प्रवृत्ति है, वह मध्यवर्ग का ही चरित्र है। भ्रष्टाचार व रिश्वतखोरी की प्रमुख जगह सरकारी ऑफिस व गैर सरकारी ऑफिस ही होते हैं। इनमें अधिकांश मध्यवर्ग के ही कर्मचारी होते हैं। थानेदार, सिपाही, बाबू या किसी भी संस्था का ऑफिसर सभी इसी वर्ग के होते हैं। यह भी है कि ईमानदारी की बात आती है तो वह भी इसी वर्ग का द्वंद्व होता है परंतु इस वर्ग की सबसे बड़ी कमजोरी है महत्वकांक्षाओं का पालना। ऐसी महत्वकांक्षाएँ जो पूरी नहीं होती हैं। सबसे ज्यादा इसी वर्ग के सपने मरते हैं जब सपने मरते हैं तो इस वर्ग की आत्मा अर्थात् ईमानदारी भी मर जाती है। तब ये नैतिक व अनैतिक के चक्र में झूलता रहता है। जिससे इसका जीवन और कष्टदायक हो जाता है। फ्रस्ट्रेशन, ऊब, अकेलापन, टूटन, घुटन झुंझलाहट एवं विद्रोह की भावना ये सभी इस वर्ग के व्यक्ति की समस्याएँ हैं। सत्य व असत्य के मध्य में मध्यवर्ग की अजीबोगरीब स्थिति होती है नागार्जुन की 'सत्य' कविता इसका प्रमाण है जहाँ पर सत्य को लकवा मार गया है, यह मध्यवर्ग की ही स्थिति का वर्णन है –

"सत्य को लकवा मार गया है / वह लंबे काठ की तरह
पड़ा रहता है सारा दिन, सारी रात / वह फटी–फटी आँखों से
टुकर–टुकर ताकता रहता है सारा दिन, सारी रात
कोई भी सामने से आ जाए
सत्य की सूनी निगाहों में जरा भी फर्क नहीं पड़ता।"[64]

नागार्जुन मध्यवर्ग के व्यक्ति के साथ पूरी तरह से करुणा एवं सहानुभूति रखते हैं। नागार्जुन स्वयं उनके दुःखों को अनुभव करते हैं –

"धँस गये/कुसुम कोमल मन में गुट्ठल घट्ठों वाले कुलिश
कठोर पैर दे रही गति / रबड़ विहीन ठूँठ पैडलों को।

चला रहे थे। एक नहीं, दो नहीं, तीन–तीन चक्र / कर रहे हैं
धरती का अनहद फासला
घण्टों के हिसाब से ढोए जा रहे थे।"[65]

नागार्जुन मध्यवर्ग के साथ आत्मीय एवं व्यंग्यात्मक दोनों स्तरों पर जुड़ते हैं। कुछ आलोचकों का मानना है कि नागार्जुन मध्यवर्ग से केवल व्यंग्यात्मक स्तर पर ही जुड़ते हैं आत्मीय स्तर पर नहीं। उनके लिए यह उदाहरण शायद काफी होगा।

अजय तिवारी का मानना है कि – "मध्यवर्ग जब तक सर्वहारा के उद्देश्यों से एकमेक नहीं होता, वह अपने जीवन को, कर्म की सार्थकता नहीं प्रदान कर सकता। वह इन दुःस्थितियों से मुक्ति भी नहीं पा सकता।"[66] मध्य वर्ग के कर्म की सार्थकता तभी हो सकती है; जब वह आम जन के साथ अपने को जोड़कर चले। मुक्तिबोध का अनुभव मध्यवर्ग से गहरे स्तरों पर जुड़ा है। जो बार–बार मध्यवर्ग में विद्रोह की भावना पैदा होती है और मिटती है। मुक्तिबोध उसको सही तरीके से पकड़ते हैं –

"ओ मेरे आदर्शवादी मन / ओ मेरे सिद्धांतवादी मन,
अब तक क्या किया। / जीवन क्या जिया।।

दुःखों के दागों को तमगों–सा पहना,
अपने ही ख्यालों में दिन–रात रहना
असंग बुद्धि व अकेले में सहना
जिंदगी निष्क्रिय बन गयी तलघर।"[67]

'अंधेरे' का नायक मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, ख्यालों में रहना, महत्वकांक्षी सपने पालना फिर असफल हो जाना, अकेलापन अपनी जिंदगी को निष्क्रिय मान लेना यही यथार्थ है। मध्यवर्ग अपने आत्मिक शोषण का खुद जिम्मेदार है और बाहरी रूप से शोषण तो हो ही रहा है।

यहाँ तक वह जिंदगी को भरम की स्थिति में गुजारता है –

"मेरा सिर गरम है, / इसलिए भरम है।
सपनों में चलता है आलोचन,
विचारों के चित्रों की अवलि में चिंतन।
निजत्व–माफ है बैचेन / क्या करूँ, किससे कहूँ,
कहा जाऊँ, दिल्ली या उज्जैन।"[68]

विरोध की भावना मध्यवर्ग की उपज है, निम्नवर्ग शोषित तो था परंतु विरोध का झण्डा वह मध्यवर्ग के साथ ही लेकर चला। मनुष्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की खातिर तरह–तरह की गलतियाँ करता चलता है और ये गलतियाँ निम्न मध्यवर्ग की ही हैं, जिनके वजह से मनुष्य को कष्टों का सामना ही नहीं बल्कि अपना वजूद तक को ताक में रखना पड़ता है। अपनी गलतियों को सत्यापित करने के लिए अनेक गलत बातों को तवज्जो देता है, मुक्तिबोध की 'भूल–गलती' कविता में इन सब बातों का अच्छा चित्रण हुआ है –

"भूल गलती / आज बैठी है जिरहबख्तर पहन कर
तख्त पर दिल के / चमकते हैं खड़े हथियार उसके दूर तक
आँख चिलकती है नुकीले तेज पत्थर–सी / खड़ी है सिर झुकाये
सब कतारें / बेजुबाँ–बेबस सलाम में
अनगिनत खम्भों में मेहराबों – थमे / दरबारे आम में।"[69]

केदारनाथ अग्रवाल ने शहरी मध्यवर्ग की स्थिति का अपनी कविता में यथार्थ चित्रण किया है। उनकी 'कुली' कविता जिसमें 'कुली' मरमर कर आगे बढ़ता ही रहता है। चाहे रास्ता पथरीला ही क्यों ना हो क्योंकि शहरी मध्यवर्ग कम शोषित नहीं है –

"जो कुली पीठ पर बोझ लिये चलता है
हाड़ों पर अपने भार लिये चलता है
कंकड़ पत्थर रोड़ों पर पग धरता है
हरदम आगे ही आगे को बढ़ता है

चलते–चलते तलुवे एड़ी घिसता है
रूकने टिकने को जो मरना कहता है।"[70]

'आदमी' कविता उनकी आम–जन की तस्वीर पेश करती है जिस आदमी को दिनभर मजदूरी करने पर पेट भर खाना नहीं मिलता उस जन का बयाँ करती है केदार की कविता –

"भरा ठेला खींचता हूँ / खड़े सूखे चने चाबे
रोट मोटा एक खा के
कड़ी कंकड़ की सड़क पर बाहुबल से खींचता हूँ।"[71]

मध्यवर्ग नित्य नव इतिहास भी बनाता है भावनाएँ चूर होती हैं परंतु सपने उनके कभी नहीं मरते। वह मानवता का संदेश देना चाहता है परंतु मध्यवर्ग की यह समस्या रही जो वह सपने देखता है वह जल्दी ही बिखर जाते हैं –

"नित्य नव इतिहास बनता / भावनाएँ चूर होतीं
धारणाएँ चूर होतीं
कामनाओं से निरंतर आदमी बनता बिगड़ता।"[72]

यही नहीं केदारनाथ अग्रवाल ने मध्यवर्ग की उस स्थिति को भी अंकित किया है, जहाँ मध्यवर्ग के अफसर भ्रष्टाचार में लिप्त पूरे राजतंत्र को चला रहे हैं। यह इस वर्ग की खास विशेषता है कि जहाँ इसको मौका मिलता है वहीं स्वार्थी हो जाता है –

"ये बड़कवे / पुराने गब्बर / पेटू अफसर / चाल फेर से
चला रहे हैं / राजतंत्र का / चक्कर–मक्कर।"[73]

नागार्जुन का 'ग्राम' से आए हुए मजदूरों के प्रति रागात्मक संबंध है। उनकी सहानुभूति इसको बयाँ करती है –

"खूब गए / दूधिया निगाहों में
फटी बिवाइयोंवाले खुरदरे पैर
.....

देर तक टकराए / उसी दिन इन आँखों से वे पैर
भूल नहीं पाऊँगा फटी बिवाइयाँ
खूब गई दूधिया निगाहों में / धँस गईं कुसुम कोमल मन में।"[74]

नागार्जुन का ग्रामीण जीवन और शहरी लोकजीवन से आत्मिक संबंध है। वह श्रम में सौंदर्य देखता हैं। मुक्तिबोध शहरी मध्यवर्ग के यथार्थ को फैंटेसी के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं परंतु नागार्जुन का शहरी लोक से आत्मिक स्तर पर यथार्थ की अभिव्यक्ति है। शमशेर की कविता में मध्यवर्ग का यथार्थ क्रांति के रूप में है 'ये शाम है' कविता जिसमें उन्होंने ग्वालियर की एक खूनी शाम का भाव–चित्र अंकित किया है –

धुआँ–धुआँ / सुलग रहा / गवालियर के मजूर का हृदय।
कराहती धारा / कि हाय–मय विषाक्त वायु
धूम्र तिक्त आज / सोखती हृदय / गवालियार के मजूर का।"[75]

केदारनाथ अग्रवाल की 'गाओ साथी' कविता गाँव–नगर में फैले मजदूरों की जिंदगी का व्याख्यान है, 'जो दिन–रात मशीन की तरह काम करते हैं। मशीन और मनुष्य की जिंदगी में कोई अंतर नहीं रह गया है, 'लोक शैली' में केदारनाथ अग्रवाल द्वारा लिखित यह कविता शहरी मजदूरों की सच्ची तश्वीर पेश करती है–

"गाओ साथी। उन गीतों को / जो गाते हैं चट्टानी जन
गाँव–नगर के फैक्टरियों के जो गाते हैं कल–पुर्जे बन
युग को गढ़ते रचना रचते जो गाते हैं कर श्रम तर्पण
और चढ़ाते हैं हाथों से दिन–दिन दूना / जो उत्पादन।"[76]

केदारनाथ अग्रवाल की कविता की विशेषता है कि वह आम–जन के शोषण की तस्वीर के साथ क्रांति का उद्‌बोधन भी है और यह बात शमशेर की काव्य प्रक्रिया में भी दिखाई देती है –

"बात बोलेगी / हम नहीं / भेद खेलेगी / बात ही
.....

दैन्य दानव / क्रूर स्थिति / कंगाल बुद्धि / मजदूर धर भर
एक जनता का अमर वर / एकता का स्वर
अन्यथा स्वातंत्र्य–इति।"[77]

त्रिलोचन अपनी कविता में शहरी उस मध्यवर्ग की जिंदगी को भी बयाँ करते हैं जहाँ रहने के लिए जगह भी नहीं है पूरा का पूरा परिवार एक ही कमरे में रहता है –

"कमरा एक और रहने वाले तीन / पत्नी, बच्चा और मैं
चौथे की गुंजाइश यहाँ नहीं / मेरी अनकही चिंता
मेरी बिथा बना दी।"[78]

'रैन–बसेरा' नामक कविता की यह पंक्तियाँ आधुनिक यथार्थ की कहानी है। यही एक औसत भारतीय शहरी वर्ग की कहानी है जहाँ पेट भरने को ठीक से खाना नहीं और रहने को घर नहीं। 'इलाहबादी' शीर्षक सॉनेट आधुनिक यथार्थ की सच्ची तस्वीर पेश करती है; क्योंकि भारतीय पढ़े–लिखे वर्ग की यही प्रवृत्ति बन गई है। पढ़ा–लिखा निम्नमध्य वर्ग जो जाने–अनजाने में हकीकत को छुपाता फिरता है –

"काफी रेस्त्राँ में हिल–मिल कर बैठे बातें
की, कुछ व्यंग्य, विनोद और कुछ नए टहोके
लहरों में लिए दिए। अपनी अपनी धातें
रहे ताकते। यों भीतर–भीतर मन दो के?
एक न हुए, समीप टीके, अपनाया खोके,
जीवन से अनजान रहे, पर गाना गाया
जन का जीवन का, लेकिन दुनिया के होके
दुनिया में न रहे। दुनिया को बुरा बताया।"[79]

जितने भी निम्न मध्यवर्ग के लोग हैं जो कारखानों में काम करते हैं या दुकानदार या कर्मचारी व ऑफिस में काम करने वाले इनकी लड़ाई पूंजीपति वर्ग से सर्वहारा से अलग है। उसके पीछे सर्वहारा के जैसी समानता वाली बात नहीं है

बल्कि अपने अस्तित्व की लड़ाई है। कम्यूनिस्ट पार्टी के घोषणा पत्र में भी लिखा गया है – निम्न मध्यवर्ग के लोग छोटे कारखानेदार, दुकानदार, दस्तकार और किसान ये सब मध्यवर्ग के अंश के रूप में अपने अस्तित्व को नष्ट होने से बचाने के लिए पूंजीपति वर्ग से लोहा लेते हैं।"[80]

चूँकि मध्यवर्ग और निम्नवर्ग दोनों ही समाज के अभिन्न अंग हैं, इसलिए अगर समाज को बदलना है तो दोनों का एकाकार होना जरूरी है। दोनों वर्ग अगर मिल–जुलकर समस्याओं का समाधान करें तो शायद समस्या का समाधान जरूर होगा। लूशुन की एक कविता है जो इसी ओर इशारा करती है –

"भवें तनी हों टोढ़ी होकर,/ उँगलियाँ चाहे उठें हजारों,
मुझको कुछ परवाह नहीं है। / लेकिन फिर भी बेला बना मैं
खिदमत में हूँ सर को झुकाए / जो मासूम है उन बच्चों की।"[81]

यहाँ जिन बच्चों का जिक्र किया गया है वह आम जन व सर्वहारा वर्ग के प्रतीक हैं। इस कविता का भावार्थ यह है तमाम लेखकों व क्रांतिकारियों को 'बैल– की तरह अपने कर्तव्य में जुटे रहना चाहिए। मध्यवर्ग की जब बात आती है तो यह अपने आप को सर्वहारा वर्ग से अलग समझता है और इस समस्या का समाधान तभी संभव है जब दोनों एकमय हो जाएँगे। लूशुन की उपरोक्त कविता से संबंधित ही त्रिलोचन पर चर्चा करते हुए डॉ. गोबिन्द प्रसाद लिखते हैं कि –

"त्रिलोचन की कविता गहरे अर्थों में मानवीय चरित्र के उन्नयन की कविता है। उसकी दृष्टि में मात्र 'सफलता' कोई मूल्य नहीं। हाँ, ईमानदारी और नैतिकता के दृढ़ संकल्प को उनकी कविता एक कसौटी के रूप में हमेशा देखती रही है।"[82]

जब पूंजीवादी सभ्यता का उदय हुआ था तो वह नई संभावनाएँ लेकर पैदा हुआ था मनुष्य ने नये सपनों को बुनना शुरु कर दिया था और निम्नवर्ग व मध्यवर्ग के लोगों की संख्या में वृद्धि हुई। मध्यवर्ग की आर्थिक शोषण की प्रक्रिया में तीव्रता आयी। मध्यवर्ग तो मशीनों का दास बन गया, क्योंकि मशीनों को चलाने

वाले से और ऑफिस तक यह लोग हैं, इनकी स्थिति को आर्थिक शोषण ने बहुत ही दुखदायी बना दिया, क्योंकि पूंजीवादी चक्र में यह अपनी जड़ों से तो कट ही गया। यह उच्च वर्ग तक भी नहीं पहुँच पाया। कारीगरी, शिल्प उद्योग, दस्तकारी तक यह समूह फैला हुआ था। इस समस्या को प्रगतिशील कवियों ने अपने केंद्र में रखा है। साहित्य के माध्यम से भी और अन्य कलाओं के माध्यम से भी इस वर्ग के चरित्र को उजागर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यह एक ऐसा वर्ग है जो मानसिक रूप से तो अपनी परंपराओं व मान्यताओं से निम्नवर्ग से अपने को अलग मानता है, परंतु उनके जेहन में कहीं न कहीं यह आज भी वर्तमान है।

प्रगतिशील कवियों की पहुँच गाँव से शहर तक है। एक ओर तो इन कवियों ने ग्रामीण यथार्थ का चित्रण किया है, दूसरी ओर कवि शहरी जीवन के भी विभिन्न रूपों का यथार्थ चित्र सामने लाते हैं। ग्रामीण जीवन के केंद्र में इन्होंने किसान को रखा है तो शहरी जीवन में मजदूर वर्ग को। आधुनिक सभ्यता ने मजदूरों को ऐसी जिंदगी जीने का तोहफा दिया है जिसमें घुटन, ऊब, थकान व गंदी बस्तियों में रहने को मजबूर हैं। प्रगतिशील कवियों ने श्रमिक वर्ग के हर पहलु पर नजर डाली है। चाहे वह फैक्टरी मजदूर हो, या रिक्शा चालक, या कुली या फिर वह गंदी नालियों को साफ करने वाला। नागार्जुन के शब्दों में शहरी जीवन –

"मकान नहीं खाली, दुकान नहीं खाली है
स्कूल नहीं खाली, खाली नहीं कालेज
खाली नहीं टेबल, खाली नहीं मेज
खाली अस्पताल नहीं, खाली है हाल नहीं
खाली नहीं चेयर, खाली नहीं सीट
खाली नहीं फुटपाथ, खाली नहीं स्ट्रीट
खाली नहीं ट्राम, खाली नहीं ट्रेन
खाली नहीं माइंड, खाली नहीं ब्रेन

खाली है हाथ, खाली है पेट
खाली है थाली, खाली है प्लेट।"[83]

मुक्तिबोध की कविता शहरी मध्यवर्ग का यथार्थ चित्रण हमारे सामने रखती हैं चाहे वह नौकरशाही हो या फिर मध्य वर्ग का बुद्धिजीवी। उनकी कविता सभी समस्याओं का बखान करती चलती है। मुक्तिबोध की 'ब्रह्मराक्षस' कविता बुद्धिजीवी मध्यवर्ग का प्रतीक है। जो अपनी समस्या के साथ–साथ पूरे समाज की समस्या के कारण परेशान है। वह पूरे शिक्षित मध्यवर्ग की समस्या हैं। मध्यवर्ग की समस्या रही है कि वह जो भी पाना चाहता है कर्म क्षेत्र में उतरे बगैर। नंद किशोर नवल ने भी 'ब्रह्मराक्षस' की समस्या पर विचार करते हुए कहा है कि – "ब्रह्मराक्षस जो भी हासिल करना चाहता था, वह कर्म और व्यवहार क्षेत्र से दूर रहकर, अपने कमरे में बंद, मात्र अपने चिंतन के द्वारा। स्वभावतः उसे ज्यादातर विफलता ही हाथ लगी।"[84] यही समस्या मिडिल क्लास की हैं वह बंद कमरे में चार दीवारी के अंदर सपने तो देखता है परंतु उनको साकार करने के लिए कर्म–क्षेत्र में नहीं जाता है; जबकि समाज की समस्या समाज के अंदर जाने पर ही समाप्त हो सकती है। हम 'मन' में चाहे उन समस्याओं का कितना ही मनन कर लें परंतु ज्ञान अर्जित करने के बाद समाज को तो हमें जागृत करना होगा। 'ब्रह्मराक्षस' ज्ञान तो अर्जित कर पाया, परंतु उस ज्ञान को व्यवहारिक व कर्मक्षेत्र में नहीं पहुँचा पाया यही समस्या है। प्रमुख रूप से घेरे हुए मध्यवर्ग के बुद्धिजीवी को, जो समस्या वर्तमान में भी यथावत बनी हुई है। इस वर्ग के बुद्धिजीवी को चिंतन एवं कर्म में सामंजस्य स्थापित करना ही होगा। नहीं तो मध्यवर्ग का व्यक्ति अपनी निजता व सामाजिक जगत रूपी दोनों पाटों के मध्य पिस जाएगा या पिस रहा है इसलिए उसको अपनी निजता का ख्याल रखते हुए अपने–आपको समाज को समर्पित करना होगा। मध्यवर्ग की – "वेदना का स्रोत उसका अधूरा कार्य या

उद्देश्य ही है। उसी से वह हमेशा बैचेन बना रहता है और असामान्य व्यवहार करता है।"[85]

मुक्तिबोध का मानना है कि – "अपनी सिद्धि दूसरों के साथ और उनकी सहायता से ही प्राप्त कर सकता है। संसार में कोई निजी सुलह संभव नहीं है, और अगर हो भी तो मुक्तिबोध के अनुसार वह मानवीयता रहित और मूल्य–च्युत होगी।"[86] इसके उदाहरण के लिए हम उनकी प्रसिद्ध कविता 'चंबल की घाटी में' को देख सकते हैं –

"याद रखो, / कभी अकेले में मुक्ति न मिलती,
यदि वह है तो सबके ही साथ है।"[87]

और मध्यवर्ग की समस्या जब और गहरा जाती है, जब उसके सामने चुनाव का वक्त आता है –

"घर पर भी, पग–पग पर चौराहे मिलते हैं,
बाहें फैलाये रोज मिलती हैं सौ राहें,
शाखा–प्रशाखाएँ निकलती रहती हैं
नव–नवीन रूप दृश्यवाले सौ–सौ विषय
रोज–रोज मिलते हैं.....।"[88]

अजीब विडंबना है इस वर्ग विशेष की जो अपनी समस्याओं को गहराता जा रहा है। यह समाज से अलग भी रहना चाहता है और समाज के साथ भी अगर व्यक्तिगत भावना रखता है तो समाज से कट जाता है या अलग–थलग पड़ जाता है। जब समस्या विकराल रूप धारण कर लेती है तो समाज की ओर ताकता है। इन्हीं समस्याओं की अभिव्यक्ति है मुक्तिबोध की काव्य रचना जो कभी 'परमअभिव्यक्ति' की तलाश बनती है कभी सामाजिक समस्या; यही समस्या है मुक्तिबोध के 'ब्रह्मराक्षस' और 'अंधेरे में' कविता के नायक की जो आंतरिक व बाहरी दोनों स्तरों पर ग्रस्त हैं। इस समस्या का एक ही समाधान हैं निजता की

पीड़ाओं के साथ–साथ समाज की पीड़ाओं का भी ध्यान रखना होगा–यही बयाँ करती है मुक्तिबोध की कविता।

मध्य0वर्ग का बुद्धिजीवी आसमान और जमीन के मध्य उड़ता रहता है, ना वह ठीक से जमीन पर आ पाता है ना ही ठीक से आसमान में उड़ पाता है। यही उसकी सबसे बड़ी समस्या है। बुद्धिजीवी व्यक्ति सोचता खूब है, परंतु कर कुछ नहीं पाता। कुछ नहीं कर पाने की छटपटाहट में वह दोहरी जिंदगी का शिकार बन जाता है। इसी स्थिति का शिकार 'ब्रह्मराक्षस' होता है। वह अपना ज्ञान दूसरों को प्रदान करना चाहता है परंतु अकाल मौत के कारण ऐसा संभव नहीं हो पाता। इसी संदर्भ में बुद्धिजीवी अकेला और अभिशप्त है। यह समस्या बुद्धिजीवी की नहीं; बल्कि संपूर्ण मध्यवर्ग की है। चाहें मुक्तिबोध की कहानी संग्रह 'काठ का सपना' हो या 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता संग्रह दोनों में मध्यवर्ग की समस्या को उठाया गया है। उनकी 'विपात्र' कहानी अथवा क्लाड 'ईथरली' एवं 'पक्षी और दीपक' जैसी कहानियाँ मुक्तिबोध की मूल मध्यवर्ग की मानसिक संवेदना की पकड़ है। नामवर जी 'अंधेरे में' कविता जिसे मुक्तिबोध की 'परमअभिव्यक्ति' की तलाश का नाम देते हैं। दरअसल वह मध्यवर्ग की ही परमअभिव्यक्ति हैं। वह ऐसे वर्ग की तलाश है जो कहीं पर भी स्टैंड नहीं करता है। इसलिए वह शोषण का स्वयं शिकार तो बनता ही है, परंतु उच्च वर्ग को भी अपने शोषण का मौका देता है। यह वर्ग 'क्या करें क्या न करें' वाली स्थिति में फँस गया है और इस समस्या के समाधान की कुंजी स्वयं मध्यवर्ग के पास ही है। अकेले चलने पर भी मुक्ति का रास्ता नहीं बनता। समाज को अपने साथ लेना ही होगा, तब ही मुक्ति संभव है।

प्रगतिशील कवियों ने मध्यवर्ग की मानसिकता को तो उजागर किया ही है; बल्कि समाज में उसके होते शोषण को भी उजागर किया है। कहने को तो यह नौकरशाही पेशा वाला समूह है, परंतु शोषण के चक्र में यह निम्न वर्ग से भी

ज्यादा फंसा हुआ है। निम्न वर्ग से अलगाव की मानसिकता लिए हुए उच्च वर्ग के सपने देखने वाला यह वर्ग पागलपन की सीमा तक बेचैन दिखाई देता है। इसी पागलपन का शिकार ब्रह्मराक्षस नामक कविता का नायक है। इन मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का स्वप्न रचित संसार है जिसे मुक्तिबोध फैंटेसी की दुनिया कहते हैं।

नागार्जुन, केदारनाथ, त्रिलोचन, शमशेर इन सभी से ज्यादा मध्यवर्गीय व्यक्ति का चरित्र मुक्तिबोध की कविता में उभरकर आया है। हालांकि शमशेर ने भी मध्यवर्गीय रूमानीयत को उजागर किया है परंतु मध्यवर्ग के यथार्थ को जितना मुक्तिबोध पकड़ने में सफल रहे हैं उतने शमशेर नहीं। नागार्जुन के काव्य में मध्यवर्ग का शोषण का यथार्थ अंकन तो हैं परंतु वास्तविक 'मानसिक स्थिति' की पकड़ मुक्तिबोध के पास ही हैं।

शमशेर की कविता मध्यवर्ग की रोमानियत की गवाह है, तो मुक्तिबोध की कविता में मानसिक द्वंद्व एवं यथार्थ की पकड़ है –

"शाम का बहता हुआ दरिया कहाँ ठहरा।
साँवली पलकें नशीली नींद में जैसे झुकें
चाँदनी से भरी भारी बदलियाँ हैं,
खाब में गीत पेंग लेते हैं
प्रेम की गुइयाँ झुलाती हैं उन्हें :
उस तरह का गीत, वैसी नींद वैसी शाम–सा है
वह सलोना जिस्म।"[89]

मुक्तिबोध की कविता में मध्यवर्ग की स्थिति जो कभी पूर्ण नहीं होने वाली–

"बुरे–अच्छे बीच के संघर्ष / से भी उग्रतर
अच्छे व उससे अधिक अच्छे बीच का संगर
गहन किंचित् सफलता / अति भव्य असफलता!
... अतिरेकवादी पूर्णता / की व्यथाएँ बहुत प्यारी हैं...
ज्यामितिक संगति–गणित / की दृष्टि के कृत
भव्य नैतिक मान / आत्मचेतन सूक्ष्म नैतिक मान....

.... अतिरेकवादी पूर्णता की तुष्टि करना / कब रहा आसान
मानवी अंतःकथाएँ बहुत प्यारी हैं।"[90]

मुक्तिबोध ने जहाँ मध्यवर्ग की मानसिक द्वंद्व को उजागर किया है, कवि नागार्जुन सीधे–सीधे शब्दों में मध्य–वर्ग की महानगरीय जीवनलीला के साथ कविता में उपस्थित होते हैं –

"ऊपर देखते हैं ..... / पितरों की प्यासी रूहें।
अंगूठा चूसती हैं नवजात बच्ची
खिड़की से लटका दिया गया है लाल खिलौना।"[91]

मध्यवर्ग हर समय पूंजीवादी व्यवस्था में अपनी स्थिति को लेकर असुरक्षित महसूस करता है। इसी भावना से मध्यवर्ग ग्रस्त रहता है। मुक्तिबोध और नागार्जुन ने इसी आत्म केंद्रित मध्यवर्ग की चेतना पर चोट की है –

"आप तो 'फोर फिगर' मासिक / वेतन वाले उच्च–अधिकारी ठहरे
मन–ही–मन तो हँसोगे ही / कि भला यह भी कोई
काम हुआ..।"[92]

नागार्जुन शहरी निम्न पूंजीवादी व्यवस्था पर भी व्यंग्यात्मक रुख अख्तियार करते हैं –

"दूध–सा धुला सादा लिबास है तुम्हारा
निकले हो शायद चौरंगी की हवा खाने
बैठना था पंखे के नीचे, अगले डब्बे में
ये तो बस इसी तरह / लगाएँगे ठहाके, सुरती फाकेंगे
भरे मुँह बात करेंगे अपने देस–कोस की
सच–सच बतलाओ / अखरती तो नहीं इनकी सोहबत
जी तो नहीं कुढ़ता है। / घिन तो नहीं आती है।"[93]

नागार्जुन ने इस कविता 'घिन तो नहीं आती' में मध्यवर्ग के वास्तविक चरित्र को पहचाना है; क्योंकि कर्मक्षेत्र में नहीं उतरकर सिर्फ कोरी कल्पना करना यह वर्ग जानता है। जब तक यह वर्ग आमजन के साथ कर्मक्षेत्र में नहीं उतरता

इसकी समस्या का कोई समाधान संभव नहीं है। मध्यवर्ग के बारे में शंभुनाथ ने लिखा है कि "समाज का मध्यवर्ग अनंत संभावनाओं का स्रोत है और एक मुश्किल भी क्योंकि वह समाज की शक्तियों और दुर्बलताओं दोनों से बना होता है।"[94] यूँ कहा जाए कि समाज की रीढ़ की हड्डी का काम करता है मध्यवर्ग, समाज के विकास की यह महत्वपूर्ण कड़ी है। जिस पर सारी संभावनाएँ टिकी हैं। यह समाज के विकास में सीढ़ी का कार्य करता है; क्योंकि भारतीय मध्यवर्ग समाज ने भौतिक परिस्थितियों में राष्ट्र निर्माण का कार्य किया है।

नयी कविता में लघु मानव के जीवन पर जो बहस का मुद्दा है। यह मध्यवर्ग का ही जीवन है; क्योंकि महानगरीय जीवन में मध्यवर्ग संस्कृति का हिस्सा बन गया है। पश्चिम सभ्यता में जो दिलचस्पी मध्यवर्ग ने दिखाई है उतनी किसी अन्य वर्ग ने नहीं। यह मानव सभ्यता की दौड़ में अकेला पड़ गया। इसी अकेलेपन के मन में जो दिवास्पन पल रहे थे, उनको मुक्तिबोध की कविता ने अंकित किया है। आधुनिकीकरण की विश्वव्यापी अंधी दौड़ में मध्यवर्ग की एकपतनशील सभ्यता उभर चुकी है। यह आदमी न तो प्रेम कर सकता था ना ही ठीक से घृणा; क्योंकि यह तो अपने लघु स्वार्थों में उलझा जी रहा था। इसी संकट को मुक्तिबोध की कविता ने अच्छी तरह से उठाया है। प्रगतिशील कवियों ने मध्यवर्ग को अपने काव्य में प्रमुख स्थान दिया है; क्योंकि यह मनुष्य स्वार्थ एवं आत्माभिमुक्ता की आधारशिला बनाकर बैठा था, 'ईगो' ने मध्यवर्ग को आम–आदमी से अलग ही रखा। कुछ इसने अपने 'ईगो' के कारण पश्चिमी सभ्यता को ज्यादा ही तवजो दी और इसी कारण यह वर्ग दूसरे के प्रति असहिष्णुता में बदल गया।

"मुक्तिबोध मध्यवर्ग के लोगों के भीतर उदित वैयक्तिकता को एक निर्माणात्मक शक्ति बनाना चाहते थे। वे यह भी देख रहे थे कि अंग्रेज राज से लड़ते–लड़ते अंततः यह वर्ग पश्चिमी सभ्यता में फँस चुका है। उसमें दोहरापन आ गया है और अब वह वस्तुतः आम जनता से विच्छिन्न होता जा रहा है।"[95]

इसलिए प्रगतिशील कवियों ने ही नहीं छायावादी युग से लेकर उतर–आधुनिकता तक मध्यवर्ग हिंदी कविता के केंद्र में रहा है। इसके विपरीत प्रगतिशील कवियों की समस्या व्यक्ति–प्रधान नहीं थी, वह समाज–प्रधान थी, इसलिए इस वर्ग को समाज के प्रति सचेत करना अनिवार्य हो जाता है। "मुक्तिबोध का व्यक्ति ईगो–केंद्रित न होकर समस्या प्रधान है, वह पारदर्शी है। मुक्तिबोध ने कहा था कि मेरी स्थायी चिंता है, मध्यवर्ग को प्रतिक्रियावादी तत्वों से छीनकर प्रगतिशील वर्ग से जोड़ने की। यही उनकी मुख्य काव्य चिंता है। मध्यवर्ग फिर से जनोन्मुख कैसे हो इसके लिए पहली जरूरत है कि वह आत्मचेतस हो अपने को पुनःस्थापित करे। उस युग में स्वार्थपरकता के उभारों के बावजूद मध्यवर्ग का आत्मसंघर्ष खत्म नहीं हुआ था। अतः इसी के बल पर व्यक्तित्वांतर का काव्य–समर ठना।"[96] इसलिए मुक्तिबोध को आत्मग्रस्त और आत्मनिर्वासन का कवि कहा जाता है।

आत्मकेंद्रित, स्वार्थ, बौद्धिक, अंतर्द्वंद्व व व्यक्तिगत भावना यह सभी आधुनिकता के बुनियादी लक्षण माने जाते हैं। "मुक्तिबोध अपनी प्रगतिशील चेतना में इन लक्षणों की उपस्थिति खुलकर चाहते हैं, जैसे ये उनके अस्तित्व के सबूत हों। नागार्जुन के बाद सबसे अधिक खुलकर संदेह मुक्तिबोध ने किया। दोनों भिन्न अभिव्यक्ति शैलियों के जनकवि हैं। दोनों निम्न–मध्यवर्गीय चेतना को अपनी अलग–अलग शैली से छूते हैं। जाहिर है, नागार्जुन, जहाँ जल्दी–जल्दी फैसले पर पहुँचते हैं, वहाँ मुक्तिबोध को गहरी मध्यवर्गीय जद्दोजहद से गुजरना पड़ता है। नागार्जुन जिन चीजों को जन की आँखों से देखते हैं, उन्हें मुक्तिबोध व्यक्ति की आंख से बल्कि आँख की भी आँख से देखते हैं। कहा जा सकता है कि यह भी प्रकारांतर से जन की आंख है।"[97]

मुक्तिबोध के यथार्थ लोक का चित्रण तब और साकार हो जाता है तब वह निम्न–मध्यवर्ग के कटु संघर्षों को अपने काव्य में जगह दे देते है। वैसे तो मुक्तिबोध मध्यवर्ग के कवि ही हैं। मध्यवर्ग की ऊहापोह वाली जिंदगी एवं उनका

संघर्षशील जीवन उनके अपने जीवन के अनुभव ही सामाजिक समस्या बन कर काव्य में चरितार्थ हो जाते हैं। शमशेर बहादुर सिंह ने मुक्तिबोध के काव्य पर विचार करते हुए लिखा है कि उनके काव्य में – व्यंजनाएँ हैं गूढ़, सामाजिक विश्लेषण की। विश्लेषण है वर्ग–संघर्ष के उस अंश या रूप का जहाँ निम्न–मध्यवर्ग जूझता है। उसको परास्त करने वाली रूढ़ियों और शोषक शक्तियों को मुक्तिबोध प्रतीको के रूप में खड़ा करते हैं।"[98] चाहे, बरगद हो, चाँद, या फिर 'अंधेरा', ये सभी प्रतीक शोषक हस्तियों के रूप में मुक्तिबोध के काव्य में जगह बनाते हैं। वह प्रतीक चाहे प्राचीन समय से हो, परंतु मुक्तिबोध के काव्य में इनका आधुनिक अर्थ होता है। मुक्तिबोध की कविता प्रतीकार्थ मध्यवर्ग की जिंदगी के आस–पास का ही ज्यादा खुलासा है, परंतु उनको सिर्फ मध्यवर्ग का कवि कह देना उनकी कविता के साथ न्याय नहीं होगा। उनका काव्य सार्वभौमिक व सर्वाधिक क्रियाशील है। मुक्तिबोध की कविता के प्रतीक आम–जन–जीवन से लोक के लिए गये हैं। मुक्तिबोध की लंबी कविताओं का रचना–विधान में फैंटेसी का बहुत सहारा लिया गया है। वह फैंटेसी के माध्यम से हकीकत को ही बयाँ करते हैं। मुक्तिबोध की कविता का नायक जो होता है वह स्वयं होता है और इसी स्वयं के माध्यम से अर्थात् नायक के माध्यम से मध्यवर्ग की जिंदगी के द्वंद्व को मुक्तिबोध सामने लाते हैं। शमशेर बहादुर का वक्तव्य है कि – "निम्न–मध्यवर्ग का शिक्षित व्यक्ति अजब सी सूली पर लटका रहता है और फिर भी जिंदा रहता है, नरक में जाने के लिए। और अपने परिवार के साथ नरक ही भोगता है।"[99]

जब हम कविता की चित्रात्मकता के बारे में बात करते हैं तो शमशेर व मुक्तिबोध का ही नाम हमारे सामने आता है शमशेर की चित्रशाला में रंगों का समायोजन होता है। उनकी पेंटिंग उतनी समस्याग्रस्त नहीं है, जितनी मुक्तिबोध की कविता है। मुक्तिबोध की पेंटिंग समाज के शोषित तबकों को रेखांकित करती है। उनकी पेंटिंग पूरी सामाजिक जीवन को लेकर है जिसमें शोषक भी हैं,

शोषणकर्ता भी और मध्यवर्ग के व्यक्ति का द्वंद्व भी, "मुक्तिबोध हमेशा एक विशाल विस्तृत कैनवास लेता है : जो समतल नहीं होता, जो सामाजिक जीवन के 'कर्म क्षेत्र' और व्यक्ति चेतना की रंगभूमि को निरंतर जोड़ते हुए समय के कई काल–क्षणों को प्रायः एक साथ आयातित करता है। लगता है।... इतिहास के संघर्ष... एक षड्यंत्र – का सा जाल फैलता–सिमटता है। और इस जाल में हम और आप, अनजाने तौर से और अनिवार्यतः फँस गए हैं – और निकलने का रास्ता खोज रहे हैं – मगर कहीं कोई रास्ता नहीं है – और फिर भी पक्का विश्वास है कि रास्ता ही रास्ता है।"[100] और यही पक्का विश्वास मध्यवर्गीय व्यक्ति का है।

वस्तुतः यह कह देना भी न्यायसंगत नहीं होगा कि इन कवियों के रचना–विधान को अर्थात् काव्य को किसी एक वर्ग तक सीमित कर देना न्यायसंगत नहीं होगा, इनके काव्य का रचना–विधान विस्तृत फलक पर हुआ है इसलिए चाहे वह मध्यवर्ग हो या निम्नवर्ग सभी के लोक की बात करते हैं। ये कवि इनका लोक–जीवन ग्रामीण ही नहीं बल्कि शहरी जन–जीवन का भी चित्रण इनके काव्य का मुद्दा है। इसलिए जो भी जन चाहे वह मध्यवर्ग का व्यक्ति हो या निम्नवर्ग का व्यक्ति, सभी की पक्षधरता की हिमायत करती हैं इन कवियों की कविता और शोषक वर्ग के लोक को भी इनकी कविता सामने रखती है परंतु उसकी पक्षधर नहीं है। यह तो आम–जन का काव्य है।

बदलता ग्रामीण समाज और लोक–जीवन की अभिव्यक्ति

"जो कुछ पुराना है मोहक तो लगता है
टूटन का दर्द मगर सहना ही पड़ता है।

समाज जड़ नहीं होता, गत्यात्मकता संस्कृति की प्रकृति में अंतर्निहित होती है। जनसंख्या का घनत्व, पर्यावरण परिवर्तन, प्राविधिक संभावनाएँ और आकांक्षाओं

के नये क्षितिज उनकी संरचना और मूल्यात्मक आधार को नयी दिशा और गति देते हैं। परिवर्तन की चुनौतियों से साक्षात्कार कर सकने में असमर्थता सामाजिक व्याधि बन जाती है, अनुकूल और नवाचार की क्षमता के अभाव में संस्कृति ऊर्जाहीन हो जाती है।"[101] गाँव में एक कहावत होती है बहता पानी कभी–भी नहीं सड़ता अगर तालाब का पानी स्थिर हो जाता है तो उसमें गंध उत्पन्न हो जाती है, इसलिए संस्कृति के प्रवाह को नदी के पानी के समान होना चाहिए। उसमें नये–नये तत्वों जो सामाजिक हित–वर्धक हो का समावेश होना जरूरी है। वही सामाजिक व्यक्ति ज्यादा ऊर्जावान होगा और अपने अधिकारों के प्रति सचेत होगा जो जितना ज्ञानी होगा। अगर हम इतिहास में पीछे झांकते हैं तो मनुष्य निरंतर विकास के मार्ग पर अग्रसर रहा है। उसने समय–समय पर प्राकृतिक एवं भौतिक समस्याओं का सामना करने के लिए अपने–आपको प्रकृति के अनुसार ढाला है या उनका सामना करने के लिए संवेदनशील रहा है। मनुष्य के अगर हम ऐतिहासिक परिदृश्य में झांके तो उसका इतिहास चुनौति पूर्ण रहा है। मनुष्य अपने विकास की अंधी दौड़ में कहीं–कहीं पर समाज के संकट मोचन की जगह सामाजिक समस्याओं को बढ़ा दिया है। यह सब हुआ वैज्ञानिक प्रतियोगिता के कारण, क्योंकि जब मनुष्य का जीवन आरंभ हुआ तो उसने प्राकृतिक विपदाओं का सामना करते हुए अपने जीवन के लिए खाद्य उत्पादन शुरु कर दिया। प्राकृतिक देवी–देवताओं के साथ जीवन शुरु होता था, सभी मनुष्यों का जीवन समानता के आधार पर आधारित था। ज्यों–ज्यों मनुष्य विकास करता गया तो उत्पादन भी बढ़ा और उत्पादनकर्ता भी, जैसे–जैसे विज्ञान का अविष्कार होता गया; तो वह ज्ञान मनुष्य की प्रगति में सहायक हुआ। विज्ञान ने नयी–नयी मशीनों को जन्म दिया और इस मशीनिकरण के कारण उत्पादन इतना ज्यादा हुआ कि उसका एक जगह से दूसरे जगह आदान–प्रदान होने लगा तो वहाँ पर व्यापारिक जीवन का आरंभ हुआ अर्थात् जहाँ पर सामान की अदला–बदली होती थी। वहाँ पर

जनसंख्या का घनत्व भी बढ़ता गया और ऐसे ही धीरे–धीरे शहरीकरण का विकास हुआ। इन दोनों परिवर्तनों ने मनुष्यों को धीरे–धीरे प्रकृति की ओर से विमुख कर दिया जहाँ मनुष्य प्रकृति का सामूहिक रूप से पुजारी था। अब वह व्यक्तिगत रूप से अपने बारे में सोचने–समझने लगा और सबसे ज्यादा प्रभाव मनुष्य जीवन के आर्थिक व्यवस्था पर पड़ा। मनुष्य का सामाजिक चिंतन से ध्यान हटकर भौतिक चिंतन हो गया और इस भौतिक चिंतन ने मनुष्य को उत्पादन एवं उपभोक्ता दो श्रेणियों में विभक्त कर दिया। इस उपभोक्ता श्रेणी ने मनुष्य के सभी उत्पादक आयामों पर कब्जा कर लिया। अब यहाँ से समस्या पैदा होती है। मनुष्य के शोषण की जिससे मनुष्य के जीवन में बदलाव आया। खासकर जो ग्रामीण समाज प्राकृतिक दैवी का उपासक था, अब वह शोषक शक्तियों का दास बन गया।

भारतीय जनसंख्या का लगभग 70 प्रतिशत हिस्सा कृषि पर आधारित है तो उनके जीविका का आधार भी कृषि ही है। शोषणकर्त्ताओं ने धीरे–धीरे इस कृषि पर अपना अधिकार जमा लिया और किसान की उपज का अधिकांश हिस्सा जमींदार लोग ले लेते थे, ऐसे में किसान का अपना व अपने परिवार का भरण–पोषण मुश्किल हो गया। जैसे–जैसे किसान की समस्याएँ बढ़ती गईं धीरे–धीरे वह किसान से मजदूर बनता चला गया और मजदूरी के लिए वह गाँव से शहर की ओर जाने लगा। जब ग्रामीण परिवेश का आदमी शहर में जाता है तो उसका बहुत सारी नयी–नयी चीजों से सामना होता है। हालांकि उसकी नियति गाँव से भी ज्यादा खराब होती है। ना तो वह ठीक से अपना पेट भर पाता है और ना ही उसकी ठीक से आवास की समस्या हल हो पाती है। उसमें अनेक बाहरी तत्वों का समावेश हो जाता है। विज्ञान ने गाँव और शहरों के तारों को जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की; इसलिए गाँव एवं शहर की दूरी मिट गई तो परिवर्तन आना ग्रामीण समाज में स्वाभाविक सा हो गया। गाँव का शहर के संपर्क में आने

से वहाँ की मूलभूत आधार संरचना में अंतर तो नहीं पड़ा, परंतु ग्रामीण जनों के रहने–सहने में जरूर बदलाव आ गया। इसके पीछे बदलाव का कारण भौतिक वस्तुओं का है, जिससे ग्रामीण जनों का शोषण हआ। परिणाम यह निकला कि आम जन की आर्थिक स्थिति बिगड़ती चली गई। इस भौतिक युग ने वर्ग–विभाजन की खाई को दुगुना कर दिया। महत्वपूर्ण दो ही वर्ग सामने आये एक तो आम जन, दूसरा धनी वर्ग अर्थात् इनको हम शोषित एवं शोषक वर्ग भी कह सकते हैं। एक अन्य वर्ग निम्न वर्ग व मध्य वर्ग भी सामने आया, जिसकी स्थिति और भी शोचनीय होती चली गई, इसने ग्रामीण जीवन के बदलाव में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

हिंदी कविता समाज की अभिव्यक्ति है, उसने ग्रामीण लोक–जीवन और शहरी लोक–जीवन दोनों को अपने अंदर समेटा है। प्रगतिशील कवियों ने ग्रामीण लोक–जीवन के यथार्थ को उजागर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन कवियों ने समाज में दबे–कुचले लोगों के जीवन को अपनी कविता के माध्यम से उजागर किया। प्रगतिशील कविता यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति है और प्रगतिशील कविता ने ग्रामीण जीवन के बदलावों को भी अंकित किया है। प्रगतिशील कविता ग्रामीण लोक–जीवन के यथार्थ की अभिव्यक्ति है। ग्रामीण समाज में जो समय–समय के साथ परिवर्तन हुए हैं उन सभी परिवर्तनों को प्रगतिशील कवियों ने पहचाना है, चाहे वह सामाजिक संरचना में बदलाव हो या फिर उनके रहने–सहने के ढंग में परिवर्तन हुआ हो। आम जनों के सुख–दुःख उनकी अमीरी–गरीबी, रहन–सहन के तौर–तरीके, किसान–मजदूर की विडम्बना और समय के साथ अपने अस्तित्व की लड़ाई को लेकर सामने आयी प्रगतिशील कविता।

नयी कविता में सबसे महत्वपूर्ण विशेषता मानवता की है जो वर्गहीन, जातिवाद से दूर स्वच्छ समाज की परिकल्पना को लेकर चली है। वह मानवता

का बीज बोने के लिए कटिबद्ध है। सुमित्रानंदन 'पंत' ने इसी मानवता की पुकार को अपनी कविता में अंकित किया है –

"आज मनुज को खोज निकालो / जाति वर्ण संस्कृति समाज से।"[102]

यहाँ अपने–आपको मसीहा समझने वाले, जनता को धोखे में रखने वाले राजनेताओं व शोषक शक्तियों को भी सचेत कर दिया है कि आम–जन को बहुत दिनों तक भुलावे में रखा नहीं जा सकता, निराला ने जनता से आह्वान किया है–

"राह पर बैठे, उन्हें आबाद तू जब तक न कर
चैन मत लै गैर को बरबाद तू जब तक न कर
बदल शिक्षा–क्रम, बना इतिहास सच्चा, दम न ले
सज्जनों को प्रगति पद प्रह्लाद तू जब तक न कर।
उलट तख्ता उपज की ताकत बढ़ाने के लिए
डाल मत, खेतों में अपनी खाद तू जब तक न कर।"[103]

बदलते ग्रामीण समाज के लोगों की चेतना को और उनके द्वारा अपने अधिकारों के प्रति सचेत होने का। अब भूखे–नंगे लोग शांत नहीं रह सकते। निराला ने दूसरी कविता में इस यथार्थ को बहुत अच्छे ढंग से चित्रित किया है –

"जल्द–जल्द पैर बढ़ाओ, आओ, आओ।
आज अमीरों की हवेली / किसानों की होगी पाठशाला
धोबी पासी चमार तेली / खोलेंगे अँधेरे का ताला
एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाएँगे।"[104]

यह नवचेतना इस आधुनिकता की ही देन है हालांकि पुरानी परंपराओं से समाज जरूर कट गया है, परंतु उसके पीछे उसकी विकास की मानसिकता घर कर गयी है। इसलिए बदलते ग्रामीण जनजीवन के साथ विकास के मुद्दे भी बदलते हैं। "बदलाव चाहे जिस तरह का हो, साहित्यिक, सामाजिक, राजनैतिक या अन्य तरह का यह किसी सामाजिक विकास की शृंखला के रूप में ही होता है।"[105]

प्रगतिशील कवियों की कविता में अगर 'मैं' शैली में काव्य सृजन है तो छायावादी कवियों जैसा नहीं जो समाज के बंधनों से ही मात्र स्वतंत्रता चाहता है। छायावादी 'मैं' शैली रूढ़िवादी बंधनों को तोड़ता है; परंतु नागार्जुन की 'मैं' शैली में कविता के माध्यम से कृषक वर्ग की दीनता को उभारा गया है। यह कविता की संरचना का ही बदलाव नहीं है, बल्कि ग्रामीण जीवन की मानसिकता में आये बदलाव को भी उजागर करती है –

"पैदा हुआ था मैं –
दीन हीन अपठित किसी कृषक कुल में
आ रहा हूँ पीता अभाव का आसव ठेठ बचपन से
जीवन गुजरता प्रतिपल संघर्ष में।
मेरा छुद्र व्यक्तित्व / रूद्ध है, सीमित है –
आटा, दाल, नमक, लकड़ी के जुगाड़ में।
पत्नी और पुत्र में।"[106]

नागार्जुन का जीवन संघर्षों और सामाजिक विषमताओं में बीता है। कवि नागार्जुन का मानना है कि ग्रामीण नवयुवकों को जो यातनाएँ, भुखमरी व परेशानियों का सामना करना पड़ रहा है वह राजनीति के कारण है –

"तन जर्जर है भूख प्यास से
व्यक्ति दुख दैन्य ग्रस्त है
दुविधा में समुदाय पस्त है
लो मशाल अब घर–घर को आलोक्ति कर दो
सेतु बनो प्रज्ञा प्रयत्न के मध्य
शांति को सर्व मंगला हो जाने दो।"[107]

नागार्जुन मूलतः लोक कवि हैं। उनकी कविता का प्रयोजन ग्रामीण जन–जीवन के लोक को उद्घाटित करना है। उन्होंने ग्रामीण जीवन के सुबह के मर्म को गहराई से चित्रित किया है; लोक संपृक्ति का यह श्रेष्ठ प्रमाण है–

"सुबह–सुबह / गवई अलाव के निकट
घेरे में बैठने–बतियाने का सुख लूटा
सुबह–सुबह / आंचलिक बोलियों का मिक्सचर
कानों की इन कटोरियों में भरकर लौटा / सुबह–सुबह।"[108]

इस प्रकार ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्रण कवि नागार्जुन की कविता में अन्य कवियों की तुलना में ज्यादा मिलता है। अपनी छोटी–छोटी सुख–सुविधाओं के साथ आज भी ग्रामीण जीवन दरिद्रता में यथावत कायम है। कवि त्रिलोचन ने बदलते ग्रामीण समाज में लोक–जीवन के यथार्थ को अच्छी तरह से पकड़ा है। समय के साथ–साथ आए समाज में परिवर्तन को उनकी कविता प्रमुख रूप से सामने तो लाती ही है और उसके प्रति सजग भी करती है –

"बिजली के खंभे पर आई बुद्धि जा चढ़ा
उसको देखो, भीड़ ठाँव पर झूम रही है।"[109]

बिजली के खंभे ये सभी आधुनिकता की देन हैं, क्योंकि वैज्ञानिकता की पहुँच शहर से लेकर ग्रामीण तक है। इसी वैज्ञानिकता के कारण ग्रामीण समाज में परिवर्तन दिन–प्रतिदिन आता जा रहा है; क्योंकि आधुनिकता की चकाचौंध ने हर आदमी को अपनी ओर खींच लिया है। ना ही अब रोजी–रोटी की चिंता के कारण ग्रामीण समाज के पास उतना समय है, जो अपनी परंपराओं से जुड़ा रह सके और उनको समय–समय पर चाहे उत्सवों के माध्यम से उनमें ताजगी बनाए रखे। आज जो सबसे बड़ी चिंता वह आर्थिक समस्या की खड़ी है, उसने ग्रामीण जन को अपनी परंपराओं से तो काट ही दिया है; बल्कि रोजी–रोटी के लिए गाँव छोड़ने पर भी मजबूर कर दिया है। तब वह मजदूरी के लिए बाहर जाता है तो उसके पास इतना समय ही नहीं होता कि वह पीछे मुड़कर अपनी परंपराओं की ओर देख ले। इसलिए कम समय में आधुनिकता ने उसके मनोरंजन के साधन घर पर ही उपलब्ध करा दिए हैं। सिर्फ उसे चिंता सताती है तो अपना व अपने परिवार के पालन–पोषण की और इसी दरिद्रता को प्रगतिशील कवियों ने अपनी कविता के

माध्यम से पकड़ा है। त्रिलोचन की 'सब्जी वाली बुढ़िया' नामक कविता में इस दरिद्रता का अच्छा उदाहरण है –

"मेथी और पालक की / दो–दो हरी गट्ठियाँ
लस्सन और प्याज की / चार–चार पोटियाँ
बुढ़िया कह रही थी / ग्राहक से –
ले लो / यह सब / ले लो / कुल पचास पैसे में।"[110]

प्रगतिशील कवियों में चाहे, नागार्जुन, त्रिलोचन केदारनाथ अग्रवाल हों, सभी ने परंपरागत सौंदर्यबोध का विरोध किया है। ये इनका काव्य भारतीय जीवन के यथार्थ को सामने लाने में प्रयत्नशील रहे हैं। केदारनाथ अग्रवाल जी ने भी जीवन के सौंदर्य को उपेक्षित भाव से नहीं देखा बल्कि जीवन के उपेक्षित सौंदर्य को ही प्रतिपादित किया है। उनकी कविता किसानों, मजदूरों के संघर्ष और श्रम के सौंदर्यांकन का मूल्यांकन करती चलती है। चाहे प्रकृति या मानव–जगत सभी के साथ केदारनाथ अग्रवाल अपना तालमेल बैठाते चलते हैं। केदारनाथ अग्रवाल की कविता ऐसे आदमी की तलाश है जो चट्टान की तरह अपनी ईमानदारी पर कायम है –

"मैं उसे खोजता हूँ। जो आदमी है। और
अब भी आदमी है। तबाह होकर भी आदमी है
चरित्र पर खड़ा। देवदार की तरह बड़ा।"[111]

केदारनाथ अग्रवाल शोषणग्रस्त जीवन की वास्तविकता को सामने लाते हैं। समाज में चाहें कितने ही परिवर्तन आए परिवर्तन उन्होंने श्रमिक जन को युग के रथ के घोड़े के समान माना है। इसलिए केदार श्रमिक को 'आग' के बिम्ब का रूप देते हैं और उन्हें किसान–मजदूर का श्रम सूर्य समान प्रखर दिखाई देता है –

"जो जीवन की आग जलाकर आग बना है,
फौलादी पंजे फैलाये नाग बना है,
जिसने शोषण को तोड़ा, शासन को मोड़ा है,

जो युग के रथ का घोड़ा है,
वह जन मारे नहीं मरेगा। नहीं मरेगा।"[112]

जब इस परिवर्तन के दौर में पर उसके लोक पर संकट के बादल मंडरा रहे हों तब कवि समय के आगे यथावत् खड़ा है। वह सत्य की बागडोर थामे हुए है। जब वर्तमान समय में 'मानव–मूल्यों' के ऊपर संकट हो तो केदारनाथ अग्रवाल ही काव्य नायक के रूप में उनके लिए संघर्ष करते हैं; उनकी कविता इस बात की साक्षी है –

"मैं / समय की / धार मैं / धँसकर खड़ा हूँ
मैं / समय की / छापटे / छल से / लड़ा हूँ
क्योंकि मैं / सत् से सधा हूँ / जी रहा हूँ
टूटने वाला नहीं / कच्चा घड़ा हूँ।"[113]

नागार्जुन की एक कविता है 'हरिजन गाथा'; जिसमें ग्रामीण जीवन के नव–जातक के माध्यम से ग्रामीण जन की चेतना का संकेत दिया है। यह बच्चा आधुनिक ग्रामीण चेतना का प्रतीक है। यही आधुनिक चेतना मनुष्य क्रांति का आह्वान करेगी –

"खान खोदने वाले सौ–सौ / मजदूरों के बीच पलेगा
युग की आँचों में फौलादी / साँचे–सा यह वही ढलेगा।"[114]

साथ ही साथ नागार्जुन इसी कविता में ग्रामीणों के वास्तविक जीवन को उभारना नहीं भूलते हैं –

"बड़े–बड़े इन भूमिधारों को / यदि इसका कुछ पता चल गया
दीन–हीन छोटे लोगों को / समझो फिर दुर्भाग्य छल गया।"[115]

समस्या यह नहीं है कि आम–आदमी के साथ उसको हर समय में छला गया है। यह समस्या किसी एक युग में नहीं है बल्कि बदलती परिस्थितियों में भी ग्रामीण जन का शोषण हो रहा है। शोषण के तरीके बदल गये हों परंतु शोषण अवश्य होता है। इन बदलती परिस्थितियों में भी ग्रामीण जन अर्थात् गाँव में रहने

वाली जनता में अब भी रागात्मक स्तर पर संबंध बने हुए हैं। उनके हर संबंध पूंजी पर आधारित नहीं हैं, बल्कि मानव–मूल्यों पर आधारित हैं। हमारे जन–जीवन के आधार स्तम्भ नागार्जुन का मानना है कि ग्रामीण जन सबके साथ में तो सुखी रहेगा और सबके दुःख को अपना दुःख समझेगा। यही हमारी भारतीय संस्कृति की पहचान है। नागार्जुन की इस संदर्भ में कविता उल्लिखित है –

"सबके दुख में दुखी रहेगा / सबके सुख में सुख मानेगा
समझ–बूझकर ही समता का / असली मुद्दा पहचानेगा।"[116]

जब मानव मूल्यों पर आघात हो रहा हो ऐसे में इन प्रगतिशील कवियों ने मानक–मूल्यों को बचाने की मुहिम छेड़ी है। हमारी भारतीय संस्कृति में मिल–जुलकर रहना व समता की भावना को बहुत बढ़ावा दिया गया है। इसी भावना को नागार्जुन अपनी कविता के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल व त्रिलोचन तीनों ही कवि वर्ग–भेद की खाई को मिटाना चाहते हैं। जो भारतीय समाज की उज्ज्वल संरचना आपसी सामंजस्य के अभाव में संभव नहीं है। जैसे–जैसे समय बदल रहा है, मनुष्य के रागात्मक संबंध भी विघटित होते जा रहे हैं। इन रागात्मक संबंधों को बिखराव से बचाने के लिए प्रगतिशील कवियों ने अहम् भूमिका निभाई है। जैसे–जैसे भौतिक युग में मनुष्य ने प्रवेश किया, वैसे–वैसे वह अपने आस–पास की दुनिया से भी संबंध सीमित करता चला गया क्योंकि आर्थिक दौड़ ने मनुष्य के परस्पर संबंधों को तो पीछे छोड़ दिया और मनुष्य के स्वार्थ संबंध आगे निकल गये। इससे मानव–मूल्य तो विघटित हुए ही साथ में समाज के सहअस्तित्व की भावना का ढाँचा भी बदल गया। आदमी–आदमी के पास अगर मदद के लिए जाता भी है तो पनाह देने वाला आदमी ही उसके लिए खतरा बन जाता है। यह चाहे ग्रामीण जीवन हो या शहरी जीवन दोनों जगह एक जैसा माहौल बन गया है। यह सब देन है उपभोक्ता संस्कृति की। उपभोक्तावादी संस्कृति में मानव अपने स्वार्थों की खातिर एक–दूसरे

को मार देते हैं। यही वास्तविकता हैं वर्तमान युग की। उपभोक्तावादी संस्कृति चाहें मानव को नवचेतना का पाठ पढ़ाया हो, परंतु दूसरे संबंधों को स्वार्थता की कसौटी पर भी कस दिया है। ग्रामीण जीवन की अपेक्षा स्वार्थ संबंधों का निर्वाह शहरी जीवन में अधिक होता है। केदारनाथ अग्रवाल की एक कविता है 'न्याय–अन्याय', जिसमें केदारनाथ ने वर्तमान संबंधों के यथार्थ के मर्म को पकड़ा है –

"पनाह पाने गया / एक आदमी / दूसरे आदमी के पास
जुल्म का मारा / कराहता, बदहवास / जिस देना था पनाह
वही कर बैठा गुनाह / जुल्म के मारे को / मार कर
अपने कानून के / अंधे जुनून से / बार कर।"[117]

इस उपभोक्तावादी संस्कृति के युग में मनुष्य के संबंधों में अनेक स्तर पर बदलाव आते हैं। जहाँ इसने मानव को संघर्षमय बनाया है तो दूसरी ओर संघर्षमय मनुष्य व्यस्त होने के कारण अर्थात् समय अभाव के कारण अपनी स्वाभाविक जीवन शैली से ही कट गया है। अतः उसके रहने–सहने के तौर–तरीके में सभी स्तरों पर बदलाव आना स्वाभाविक है। आधुनिकता की सबसे बड़ी देन यह है कि मनुष्य अपने अधिकारों के प्रति जागृत हुआ है, उसकी चेतना का विकास हुआ है। प्रगतिशील कविता ने सामान्य लोक के बदलते चरित्र के यथार्थ को उजागर किया है। साथ–साथ आम–जन की पक्षधरता के साथ कविता ने अपनी पहचान बनायी है। 'कल और आज' कविता में केदारनाथ अग्रवाल बीते हुए सामान्य लोक के समय को ही आनेवाले कल से बेहतर मानते हैं –

"कल से आज कटु दिन है / कल किस्तमत थी
आज नहीं / कल हिम्मत थी / आज नहीं।"[118]

जैसे–जैसे ग्रामीण जन अपनी स्वाभाविकता खोता जायेगा वैसे–वैसे आम नागरिक के दुःख–दर्द व जिंदगी की परेशानियाँ बढ़ती जाएँगी। केदारनाथ अग्रवाल की चाहे मजदूर–किसानों की जिंदगी से संबंधित कविता हो या फिर

प्रकृति से संबंधित, सभी में लोक–जीवन की अभिव्यक्ति है। केदारनाथ अग्रवाल जहाँ बदलते हुए ग्रामीण जीवन को अभिव्यक्त करते हैं; वहीं पर उन परेशानियों से आगाह भी करते हैं और संघर्ष के लिए भी ग्राम जन को तैयार करते हैं। और साथ ही साथ बीते हुए समय की भी चिंता एवं अफसोस भी है। भूमंडलीकरण के दौर में जिस तरह से समय के साथ–साथ ग्रामीण जन की जिंदगी में बिखराव आ गया है। केदार जी समय की चिंता भी करते हैं –

"पाँचों तत्व विराट प्रकृति के विलग हो गए,
अब ने वनस्पति कहीं उगेगी / कहीं न कोई जीवन होगा
लगा की जैसे / समय काँच की तरह टूटकर चूर हो गया,
अब जोड़े से नहीं जुड़ेंगे उसके टुकड़े।"[119]

शमशेर ने जन आंदोलन एवं लोक–जीवन को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। शमशेर का भी मानना है कि 'कला का संघर्ष और समाज के संघर्ष में कोई भिन्नता नहीं होती है। और शमशेर की कला का और समाज संघर्ष का एक ही रूप है। शमशेर की कविता ग्रामीण लोक–जीवन के मध्य गहरी पैठ रखती है। कवि मानवता के हिमायती हैं। कवि मजदूरों के अर्थ की समस्या को बेखूबी पकड़ते हैं –

"आज फिर देर से लौटा हूँ बड़ी रात गये,
ताक पर ही मेरे हिस्से की धरी है शायद।"[120]

शमशेर की कविता का आधार मार्क्सवाद रहा है। शमशेर आर्थिक स्वतंत्रता व सामाजिक स्वतंत्रता दोनों के हिमायती हैं। आज ग्रामीण समाज बिखर सा गया है। कवि का मानना है कि अगर किसी लक्ष्य पर पहुँचना है तो एकता अनिवार्य शर्त है। कवि ने कहा है कि –

"गरीब के हृदय / टँगे हुए
कि रोटियाँ लिए हुए निशान / लाल लाल।"[121]

शमशेर की कविता में 'लाल रंग' क्रांति का प्रतीक है। गरीब जनता के प्रति शमशेर पूर्णरूपेण हिमायती रहे हैं। वह आम जन की पक्षधरता के कवि हैं। हालांकि उनकी कविता चित्रात्मकता लिए हुए है परंतु फिर भी उनमें लोक–जीवन की ही अभिव्यक्ति है। चाहे आम–जन को सीधे–सीधे उनकी कविता समझ में नहीं आये परंतु वह आमजन के लिए ही कविता लिखते हैं।

मुक्तिबोध अपनी कविता में ग्रामीण जीवन के अलग ढंग से यथार्थ को पकड़ते हैं। "मूलतः वह लोकहितवादी चेतना के कवि हैं। उनकी आत्मा के आयतन में सार्वजनिक वेदना की झलकने वाली प्रतिभाएँ, लोकवादी चेतना की मूर्ति हैं।"[122] उनकी कविता सामाजिक पक्षधरता लिए हुए हैं उनकी व्यक्तिगत अनुभूति सामाजिक अनुभव को उजागर करती हैं–

"गरबीली गरीबी, यह ये गंभीर अनुभव सब
यह विचार वैभव सब,
दृढ़ता यह, भीतर की सरिता यह, अभिनव सब
मौलिक है मौलिक है।"[123]

हम मुक्तिबोध को आत्मविमुख कवि नहीं कह सकते। बदलते दौर में उसकी कविता अपनी सार्थकता को बयाँ करती हुई समय के साथ आगे बढ़ जाती है। उनकी कविता जिंदगी की नई प्रेरणाओं को अपनाने के लिए आत्मसंघर्ष करती है; क्योंकि जिस तरह से ग्रामीण समाज के मन में यही प्रश्न उथल–पुथल मचाए हुए है, वहीं आत्म–संघर्ष मुक्तिबोध की कविता का आत्मसंघर्ष है। 'मुझे पुकरती हुई पुकार' में यही पुकार है –

"मुझे पुकारती हुई पुकार खो गयी कहीं
प्रलम्बिता अंगार रेखा–सा खिंचा / अपार चर्म
वक्ष प्राण का / पुकार खो गयी कहीं बिखरे अस्थि के समूह
जीवनानुभूति की गंभीर भूमि में।"[124]

आधुनिकता ने जिस तरह से ग्रामीण जीवन में छलांग लगाई है, उससे एक तो ग्रामीणजन को परंपराओं का मोह दूसरा भूमंडलीकरण के दौर में गरीबी के दलदल में फँसता ग्रामीण समाज, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति खराब होती ही जा रही है। इसी बदलते हुए ग्रामीण समाज की अभिव्यक्ति का सच है–मुक्तिबोध की कविता।

प्रगतिशील कवियों ने ग्रामीण समाज के लोक–जीवन को तो अपनी कविता में अंकित किया है; साथ ही समाज में हो रहे तीव्र गति से बदलाव के प्रति भी उनकी कविता में कुछ मुद्दों पर सकारात्मक व नकारात्मक रूख रहा है। "क्योंकि भारतीय जन एकमिश्रित समूह है।"[125] और इन कवियों ने सामूहिक रूप से या तो बदलाव को स्वीकारा है या नकारा है। प्रगतिशील कवि संपूर्ण समाज को खुशहाल देखना चाहते हैं। उनकी परंपरा व लोक–संस्कृति कहीं ना कहीं इन कवियों की कविता में दस्तक दे ही जाती हैं, इन प्रगतिशील कवियों का कर्म–सौंदर्य तो समाज के सच्चे जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति है। समय की मार ने ग्रामीण समाज को बदलाव की राह पर तो ले चला है परंतु उसका ढाँचा वहीं के वहीं है, शहरी उपभोक्ता संस्कृति ने अपना बाजार तो विकसित कर लियाा परंतु ग्रामीण जन को रोजगार देने में असमर्थ रहीं; क्योंकि बाजारवाद के दौर में आम आदमी को गिद्ध की नजर से देखा जाता है और जहाँ से भी हो, जैसे भी हो गरीब आदमी का मांस नोच लिया जाता है। इसलिए अगर बदलते समय में ग्रामीण जन को अपने अधिकारों के प्रति सचेत नहीं किया गया तो ग्रामीण जन की स्थिति बद से बद्तर हो जायेगी। सभी साधन–सुविधाएँ जो आज शहरों में विकसित हैं अगर उनको ईमानदारी के साथ गाँवों में भी दे दिया जाये तो इस बदलते दौर में ग्रामीण जन खुशहाल तो होगा ही बल्कि भारत का भविष्य भी बदल जायेगा। यह माँग इन प्रगतिशील कवियों की रही है। इन कवियों ने अंचल–विशेष से प्रभावित होकर कविता तो लिखी, परंतु उनकी दृष्टि संपूर्ण भारतीय समाज पर ही रही है। इनका

विकास सामूहिकता में है ना कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता में। हालांकि प्रयोगवादी कविता ने यह आक्षेप जरूर लगाया है कि प्रगतिवादी कविता ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन किया, परंतु यह सोचने की बात है कि अगर समाज के बारे में सोचा नहीं गया, व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता के लिए ही संघर्षरत् रहा तो फिर संपूर्ण भारतीय समाज का क्या होगा? इसलिए ये प्रगतिशील कवि संपूर्ण भारतीय ग्रामीण–समाज की पक्षधरता में आज भी खड़े हैं। इन कवियों का दरबार ग्रामीण–समाज हो या शहरी समाज उनके यथार्थ की अभिव्यक्ति है। अब देखना यह है कि सरकार यथार्थ स्थिति से कब तक मुँह मोड़ती है। जब–जब सरकार का ग्रामीण–जन के प्रति उपेक्षित रवैया रहेगा तब–तब प्रगतिशील कविता की सार्थकता व प्रासंगिकता बनी रहेगी।

आधुनिक युग का यथार्थ और लोक–जीवन की अभिव्यक्ति

लोक–साहित्य की मानव–जीवन में एक लंबी परंपरा रही है। वह निरंतर नदी की धारा के समान बहने वाला है। जिस प्रकार नदी का उद्‌गम स्थल कहीं और होता है, परंतु उसकी गिरफ्त में बहुत सारा क्षेत्र होता है। लोक–साहित्य भी उसी नदी के समान है। इसमें महत्वपूर्ण यह होता है कि उस व्यक्ति का जन्म कहाँ हुआ है जो परिस्थितियों के कारण अपनी जगह बदल चुका है। उसके पीछे कारण चाहे जो भी रहा हो परंतु अपने संस्कार, अपनी संस्कृति व परंपराएँ उसका पीछा नहीं छोड़ती। जब हम परंपराएँ, संस्कृति एवं संस्कार की बात करते हैं तो लोक–साहित्य उन्हीं में ही समाया रहता है। कहा जाता है कि कोई परंपरा जब अनुभव का अंग नहीं होती या उस परंपरा का जीवन में उतना महत्व नहीं होता तो वह लुप्त हो जाती है और लोक–साहित्य मानव जीवन में कहीं से अर्जित नहीं किया जाता वह तो उसकी चेतना प्रवाह तथा मानव की संस्कृति व उसके संस्कारों में समाहित होता है। लोक– यह मानव की रागात्मक अनुभूति है वह किसी व्यक्ति की प्रोपर्टी नहीं है, बल्कि लोक–साहित्य सामूहिक चेतना है और

जब तक सामूहिक चेतना रहेगी तब तक लोक–साहित्य का वास्तविक रूप हमें देखने को मिलेगा अन्यथा वह मात्र मनोरंजन बनकर रह जाएगा।

आधुनिकता ने मानव चेतना विकास की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। जब मानव चेतना का विकास हुआ तो वह अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हुआ और वह बंधी हुई परंपराओं से छुटकारा पाने के लिए छटपटाने लगा। वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पुजारी हो गया और इस सामूहिक भावना से व्यक्तिगत भावना ने लोक–साहित्य को गहरा आघात दिया। लोक–साहित्य सामूहिक रागात्मक अनुभूति है इसलिए जो स्वर सामूहिक गान के माध्यम से निकलता था; अब वह कुछ लोगों तक सीमित रह गया। उस गान में उतना रस नहीं रहा जो सामूहिक गान में हुआ करता था।

आधुनिकता का संबंध निरंतर विकास की प्रक्रिया से है। हिंदी कविता भी इसी विकास का गवाह है। जब समाज का विकास होगा तो प्राचीन परंपरा छूटती चली जाएगी और नयी मान्यताएँ जन्म लेती जाएँगी। समय एवं परिस्थितियों के साथ परिवर्तन आवश्यक है, नहीं तो व्यक्ति एवं समाज जड़ बनकर रह जाएगा। विज्ञान के बढ़ते दबाव ने मनुष्य को एक नयी चेतना दी। लोग प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हुए, नयी सोच के साथ एक नये मानव का जन्म हुआ। इस नये मानव ने अपनी दिनचर्या की आवश्यकता के लिए नये–नये संसाधनों का विकास किया। मनोरंजन से लेकर उत्पादक संसाधनों का एक नया रूप व्यक्ति के सामने आया और इन संसाधनों ने व्यक्ति को ज्यादा आरामदायक व सुविधावादी बना दिया। साथ ही साथ व्यक्ति को इतना व्यस्त भी कर दिया कि वह अपनी पुरानी परंपरा एवं मनोरंजन के साधन जैसे – मेलों, तीज–त्यौहार आदि के लिए समय ही नहीं निकाल पाता और मनोरंजन के नये–नये साधनों ने उनका स्थान ले लिया, इसलिए व्यक्ति अपनी प्राचीन जड़ों से अलग होता चला गया। आधुनिक चेतना

पुरानेपन का विरोध करती चलती है एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन करती है। भाव के स्थान पर बुद्धि की प्रतिष्ठा आधुनिकता की ही देन है।

परंतु जैसे–जैसे आधुनिकता ने मनुष्य को प्रगति के मार्ग पर अग्रसर किया; वैसे–वैसे वर्ग–विभाजन होता चला गया। इस वर्ग विभाजन ने मनुष्य को शोषक एवं शोषित वर्ग में विभाजित कर दिया। एक वर्ग वह हो गया जो उत्पादन वर्ग था, दूसरा वह वर्ग है जिसको हम भोक्ता की श्रेणी में रख सकते हैं। एक अन्य तीसरा वर्ग मध्य वर्ग है जो दोनों के बीच की कड़ी है। यह अवसरवादी वर्ग है। इस तीसरे वर्ग ने लोक–साहित्य के परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। यह वर्ग आधुनिकता की दौड़ में उच्च वर्ग तक पहुँचने के चक्कर में अपनी परंपराओं से अलग हटकर सोचने लगा और उच्च वर्ग तक पहुँचने के लिए अपने मानव–मूल्यों को ताक पर रखता चला गया।

साहित्य समाज का आलोचनात्मक विवरण हमारे सामने रखता है। भारतेंदु युग के काव्य ने कवियों और आलोचकों को एक नयी दिशा प्रदान की है। इस युग में काव्य सृजन के नये मानव–मूल्य सामने आये। धीरे–धीरे यह काव्यधारा नदी के प्रवाह के समान प्रगतिवाद तक आते–आते आम–जन–जीवन की अभिव्यक्ति बयान करने लगी। जिन मानव–मूल्यों और लोक–जीवन को आधुनिकता की चकाचौंध के वैज्ञानिक युग में मानव भुला चुका था। इन कवियों ने उन्हीं मूल्यों को अपने काव्य में जगह दी, जहाँ निम्न वर्ग शोषकों के चक्कर में पिस गया था या पिस रहा है। उनके अधिकारों की इन कवियों ने मांग की। चूँकि समय परिवर्तनशील है, इसलिए पुरानी जर्जर मान्यताओं को जो एक खास वर्ग द्वारा थोपी गई थी। इन कवियों ने उनका विरोध किया और एक नव चेतना, ऐतिहासिकता व वैज्ञानिक सोच के साथ प्रगतिशील कवियों ने काव्य–सृजन किया। आधुनिकता की चकाचौंध से दूर हटकर इन कवियों ने लोक–जीवन के प्रश्न को उठाया।

लोक–साहित्य के जीवन का संबंध सहजताओं के साथ होता है और औद्योगिकरण ने मनुष्य को सारी सुविधा मुहैया कराई; परंतु उसका स्वाभाविक जीवन औद्योगिकता ने छीन लिया। अब वह कृत्रिम चीजों का आदि हो गया और वह अपने लोक–जीवन से दूर होता गया। पहले मनुष्य की सारी गतिविधियाँ व चिंताएँ लोक परंपराओं द्वारा चालित होती थी, परंतु वैज्ञानिक युग में इनका निर्वाह मशीनीकरण द्वारा चालित होने लगा। अब मशीन ही आदमी का सहारा बन गयी। मैंने पीछे जिक्र किया है कि एक वर्ग ऐसा भी था जो सिर्फ उत्पादक कर्ता था वह आम जीवन जीने के लिए मजबूर था, क्योंकि उत्पादन सामग्री पर बड़े–बड़े उद्योगपतियों का ही अधिकार था। आम आदमी भी अपनी मजदूरी के चक्र में लोक परंपराओं से हटता चला गया। अब उसके पास इतना समय ही नहीं रहा कि वह अपनी लोक परंपराओं को जीवित रख सकता। इसलिए प्रगतिशील कवियों ने आम आदमी के सुख–दुःख जीवन–मरण की तो बात की। साथ में उनके मूलभूत अधिकारों की भी बात की। प्रगतिवादी युग में कवि स्वांतः सुखाय काव्य से हटकर सामाजिकता की बात करने लगा। लोक–साहित्य में जो सामूहिक रागात्मक संबंध था, अब वह बदलकर सामूहिक चेतना में विकसित हो गया। इन कवियों ने संपूर्ण समाज की मुक्ति की बात की। समय के साथ–साथ कवि की दृष्टि में भी बदलाव आने लगा और वह युग के साथ–साथ 'मैं' भावना से हटकर सामाजिकता की बात करने लगा –

"ओ युग / आ, मुझे लिये चल, जरा और
शक्ति औ, प्रेम की गर्व–भरी बाहों में
सादगी के उस सीने पे जो / साधारण छोटी–छोटी दैनिक
बातों में होती है / कि लोक गुनगुनाने लगे
शांत सरल आनंद में।"[126]

आधुनिकता सतत् परिवर्तनशीलता का द्योतक है। जिस प्रकार आधुनिक युग ने कलाओं को बहुत ज्यादा प्रभावित किया है लगभग–लगभग कलाओं के

मूल को तो खत्म सा ही कर दिया है। आधुनिकता ने मनुष्य को चीजों के सही रूप में पहचानने में मदद दी यहाँ तक "जिसे जो रास्ता निकट दीखता है वह उसी पर चल पड़ा।"[127] नैतिकता एवं मानव–मूल्यों को व्यक्ति अपनी नजरों अर्थात् अपने अनुसार तय करता जाता है। अब वह वर्तमान समाज के लिए कितना उचित है या अनुचित, यह प्रश्न उनके सामने नहीं होता। एक ओर तो मनुष्य को प्राचीन परंपराओं की चिंता है; दूसरी ओर आधुनिक मूल्यों की भी अनिवार्यता हो गई है अगर हम आधुनिकता को अपनाते नहीं हैं तो हमारा समाज प्रगति के रास्ते से हट जायेगा और अगर प्राचीन परंपराओं को छोड़ते हैं तो हम अपनी संस्कृति पर संकट के बादल देखते हैं। अब समस्या यह पैदा हो गयी कि हमारी प्राचीन परंपराओं के पास सभी समस्याओं का हल नहीं है। निश्चय ही इस प्रश्न का हल आधुनिकता के पास है। आधुनिकता ने जैसे–जैसे यथार्थ की अभिव्यक्ति की तो जाहिर सी बात है लोक–जीवन के वास्तविक रूप पर प्रभाव पड़ना लाजमी है। जब मनुष्य की आवश्यकता बढ़ती जाती है तो परिवर्तन आवश्यक है। मनुष्य को सुरक्षा के लिए, रोजी–रोटी, उत्पादन और उसके जीवन को प्रभावित करने वाली सुविधाओं ने परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इन परिवर्तनीय कारकों में अनेक तत्व व सोच का बाहरी मिश्रण भी हो गया जिसने पुरानी जर्जर मान्यताओं पर वज्रपात का काम किया। श्यामसुंदर दूबे ने लिखा है – "संस्कृति और परंपरा दोनों मानसिक संकल्पनाएँ हैं। इनका प्रतिरूप या तो समाज या उसके इतिहासकार, साहित्यकार, दार्शनिक और सांस्कृतिक व्याख्याकार स्वयं गढ़ते हैं, या दूसरों के गढ़े प्रतिरूप को ग्रहण कर लेते हैं या उसमें एक से अधिक प्रतिस्पर्धी प्रतिरूप एक साथ अस्तित्व में रहते हैं।"[128] परंतु ऐसे भी कवि व लेखक हुए हैं जो सिर्फ और सिर्फ अपने अनुभवों के माध्यम से समाधान तक पहुँचते हैं। शेखर एक जीवनी के पात्र बाबा मदन सिंह का मानना है कि – "अपने अनुभवों से समाधान तक पहुँचें, औरों के समाधान आपके प्रश्नों के ठीक उत्तर नहीं हो सकते।"[129] जब

अपने अनुभवों ने व्यक्ति को सोचने समझने की शक्ति दी तो वह सामूहिकता का पुजारी नहीं रहा उसने अपने अनुसार समाज के विकास के समाधान का रास्ता निकालना शुरु कर दिया; बल्कि सामूहिकता में अपने विकास का नहीं। इसलिए बदलते समय के अनुसार मनुष्यों ने प्राचीन सामाजिक मानदंडों को भी बदल डाला। इससे प्राचीन परंपराओं में सैंध तो लग ही गई, बल्कि मानव की नवचेतना के साथ–साथ भारतीय संस्कृति में अन्य देशों के भी तत्व समाहित होने लगे। जब विदेशी तत्वों का समावेश हुआ तो नये मानव–मूल्यों का समावेश हुआ। इन्हीं मूल्यों ने लोक–जीवन को बदलने की भूमिका अदा की। इस नयी चेतना ने आम–जन को अपने अधिकारों के प्रति भी सचेत किया। चूँकि साहित्य जीवन की आलोचनात्मक व्याख्या करता है अतः प्रगतिशील कवियों ने सामाजिक यथार्थ को नये तरीके से ही पेश किया।

आधुनिक भावबोध के बारे में मुक्तिबोध ने लिखा है – "आधुनिक भावबोध क्या है, मैं अपनी जिदंगी और दोस्तों की जिंदगी के तजुर्बे से बता सकता हूँ कि अन्याय के खिलाफ आवाज बुलंद करना आधुनिक भावबोध के अंतर्गत है। आधुनिक भावबोध के अंतर्गत यह भी है कि मानवता के भविष्य निर्माण के संघर्ष में हम और भी अधिक दत्तचित्त हों, तथा हम वर्तमान परिस्थिति को सुधारें, नैतिक ह्रास को थामें, उत्पीड़ित मनुष्यता के साथ एकात्मक होकर उसकी मुक्ति की उपाय योजना करें। क्या यह आधुनिक भाव–बोध के अंतर्गत नहीं है कि मैं अपनी लेखनी द्वारा किसी विशेष लोकादर्श के लिए कविताएँ लिखूँ।"[130] "मुक्तिबोध जिस आधुनिक भावबोध पर बल देते हैं वह सच्चे जनवादी मानव–मूल्यों पर आधारित है। आधुनिकता उनके यहाँ इतिहास–विरोध और मानव द्रोह का पर्याय नहीं है, उसे वे एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में ग्रहण करते हैं और मानव–मुक्ति तथा मानव–भविष्य के प्रश्न से जोड़कर देखते हैं।"[131] आधुनिकता मानव–भविष्य के साथ–साथ मनुष्य की सच्ची मुक्ति की आकांक्षा के साथ–साथ वर्तमान का सच्चा

यथार्थ पेश करती है। शमशेर बहादुर सिंह ने 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की भूमिका में लिखा है कि – "अंधेरे में कविता देश के आधुनिक जन–इतिहास का स्वतंत्रतापूर्व और पश्चात् का एक दहकता इस्पाती दस्तावेज है। इसमें अजब और अद्‌भुत रूप से व्यक्ति और जन का एकीकरण है। देश की धरती, हवा, आकाश, देश की सच्ची मुक्ति, आकांक्षी नस–नस इसमें फड़क रही है... और भावनाओं के अनेक गुम्फित स्तरों पर।"[132] मनुष्य की मुक्ति की कामना आधुनिकता की देन है, प्रगतिशील कवियों ने अपने काव्य में इसी मुक्ति का समर्थन किया। चाहे वह पूंजीवादी विरोधी भावना हो या फिर सरकार विरोधी जिसने भी आम जन का शोषण किया उसी का प्रगतिशील कवियों ने विरोध किया। निराला ने सन् 1948 में सरकार की जनविरोधी चरित्र के बारे में लिखा –

"खुला भेद – विजयी कहाये हुए जो
लहू दूसरों का पिये जा रहे हैं।"[133]

निराला ने 'भिक्षुक' कविता में कवि का नायक कोई धीरोदात्त पुरुष नहीं; बल्कि एक गरीब आमजन का चित्र है। जो वर्तमान समय में भारतीय भुखमरी, व जीवनलीला को सामने लाता है। इसका कोई बाहरी शक्ति जिम्मेदार नहीं बल्कि खुद वह राष्ट्र के कर्णधार हैं जो सुविधावादी हो गए हैं। यथार्थ का ऐसा मर्मस्पर्शी चित्रण एक संवेदनशील कवि ही कर सकता है –

"पेट–पीठ मिलकर दोनों हैं एक / चल रहा लकुटिया टेक
मुट्‌ठी भर दाने को / भूख मिटाने को
मुँह–फटी पुरानी झोली को फैलाता / पछताता पथ पर आता।"[134]

यह कविता पूरे समाज का भयावह चित्र उपस्थित कराती है। यह समस्या आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। कहीं गरीब आदमी व किसान भूख से मर जाता है, कहीं पर वह ऋण की समस्या से ग्रस्त होकर आत्महत्या जैसे कदम उठा लेता है। मैनेजर पाण्डेय ने 'हंस' पत्रिका में जिक्र किया है कि "किसानों की

संख्या भारतीय गाँवों में बढ़ी है उनका दुख भी बढ़ा है, उनके शोषण, दमन और लूट की स्थितियों का भी विस्तार हुआ है।"[135] प्रगतिशील कवियों ने किसानों और मजदूरों को शोषण से मुक्त कराने वाले काव्य की रचना की। उनका काव्य किसानों व मजदूरों की मुक्ति का काव्य है। आधुनिक युग ने कवि को नयी दृष्टि दी अब वह एक चली आ रही परंपरा से अलग हटकर काव्य सृजन करने लगा। केदारनाथ अग्रवाल ने आम जन की चिंता करते हुए लिखा है कि – सुविधाभोगी ही कुछ लोग आम जन के विकास में बाधक बने हुए है और उनका यह शोषण चक्र चलता ही रहता है –

"ठाट–बाट से सुविधाभोगी / ये साधक–आराधक धन के
निहित स्वार्थ में लीन निरंतर / बने हुए हैं बाधक जन के
केंद्र–बिंदु पर बैठे ठहरे / चक्र चलाते हैं शोषण के।"[136]

आगे 'गूँज' कविता में केदारनाथ अग्रवाल ने बदलते यथार्थ को भी इंगित किया है, जिसमें समय बदलने के साथ–साथ सामंतवादी प्रवृत्तियाँ भी बदलने लगी हैं –

"आज सामंती पुरानी हो गयी / मौत के मुँह की कहानी हो गयी
जो भलाई थी बुराई हो गई / जो कमाई थी चुराई हो गयी
प्यार वाली आँख कानी हो गयी / मात खायी जिंदगानी हो गयी
आज रानी नौकरानी हो गई।"[137]

केदारनाथ अग्रवाल ने बदलती हुई परिस्थितियों को उपरोक्त कविता में इंगित किया है। माना कि सामंती पुरानी हो गयी, परंतु समय के साथ–साथ परिवर्तन जरूर होता है। सामंती व्यवस्था में शोषण तब भी था, शोषण वर्तमान में भी है परंतु शोषण के तरीके बदल गये हैं; शक्तियों के चेहरे बदल गए हैं। कार्य–प्रणाली वही है जरूरत सिर्फ पहचानने की है।

प्रगतिशील कवियों ने पूर्ण स्वतंत्रता की मांग के साथ–साथ समानता का प्रश्न उठाया है। निराला के संबंध में चर्चा करते हुए रामविलास शर्मा ने ब्रिटिश

साम्राज्यवाद के बारे में लिखा है कि – "एक ओर यह उच्च वर्गों को शासन में भाग लेने का लालच देता था, नए–नए सुधारों की घोषणा करता था, दूसरी ओर जनता के बढ़ते हुए असंतोष को दबाने के लिए वह अधिकाधिक दमन का सहारा लेता था। .... निराला ने ब्रिटिश सुधारों का विरोध किया, पूर्ण स्वाधीनता की मांग का समर्थन किया, दमन की बर्बरता का चित्र खींचकर जनता को संघर्ष के लिए प्रेरित किया।"[138]

प्रगतिशील कवियों ने भी जनता के दमन की बर्बरता का चित्र खींचकर संघर्ष के लिए आह्वान किया है। केदार आमजन को आमजन की ही भाषा में क्रांति के लिए संबोधन करते हैं –

"मरना है तो आज मर / कल है दूर अपार
गोली आँसू गैस की, / कायम है सरकार।"[139]

शमशेर भी अपने काव्य सृजन में किसान–मजदूर को रखते हैं। वह साम्राज्यवाद को अस्वीकार करते हैं, उनका स्पष्ट मानना है कि भारत की भूमि किसान की भूमि है –

"भारती की भारती / देश–देश की स्वतंत्रता देवी
आज अमित प्रेम से उतारती

साम्राज्य पूंजी का क्षत होवे / ऊँच–नीच का विधान नत होवे
साधिकार जनता उन्नत होवे / जो समाजवाद जय पुकारती

यह किसान कमकर की भूमि है / पावन बलिदानों की भूमि है।"[140]

शमशेर समाजवाद में पूर्ण विश्वास रखते हैं और साम्राज्यवादी पूंजी का विनाश चाहते हैं; तब ही आम जन का उद्धार हो सकेगा। आम जन के प्रति शमशेर की कविता चिंता करती है –

"साम्राज्य पूंजी का क्षत होवे / ऊँच–नीच का विधान नत होवे
साधिकार जनता उन्नत होवे / जो समाजवाद जय पुकारती।"[141]

पूंजीवाद का विरोध करते हुए केदारनाथ अग्रवाल आम आदमी की जिंदगी का वर्णन करते हैं। उसका संघर्ष, मेहनत, फिर भी पहनने के लिए कपड़ों तक के लिए मोहताज; यहाँ तक कि मृत्यु के बाद कफन भी नसीब नहीं होता है। इसी आम आदमी की वास्तविकता को बखान करती है केदार की कविता –

"हमारी जिंदगी के दिन / बड़े संघर्ष के दिन हैं।
नहीं मिलता कहीं कपड़ा, / लंगोटी हम पहनते हैं।
हमारी औरतों के तन / उधारे ही झलकते हैं।।
हजारों आदमी के शव / कफन तक को तरसते हैं।
बिना ओढ़े ही चदरा, / खुले मरघट को चलते हैं।"[142]

केदारनाथ अग्रवाल जब भी बात करते हैं तो आम जन की वाणी में बात करते हैं। वह लोक–जीवन के बहुत करीब हैं और इसी लोक वाणी में वह अपने काव्य–सृजन का आगाज करते हैं। उनकी 'मैं' कविता पूर्णतः लोक धुन पर आधारित है, जिसमें कवि किसानों के जीवन को अपना जीवन समझता है।

गीत स्थिति का द्योतक है, कवि अपने को लोक में ही विलीन कर लेता है–

गीत हूँ लेकिन किसानों! / मैं तुम्हारी वेदना हूँ।
बंधनों से मुक्त होने की / तुम्हारी चेतना हूँ।।
चोट पर मैं चोट करने / की तुम्हारी प्रेरणा हूँ।"[143]

शोषण करने वाली शक्तियों के जितने भी वर्ग हैं उनको भी केदार अपनी कविता के माध्यम से चित्रित करते हैं –

"दिनभर अधरम करने वाले / पर नारी को ठगने वाले,
पर सम्पत्ति को हरने वाले / भीषण हत्या करने वाले
धर्म लूटने के अधिकारी / टोली की टोली में निकले।"[144]

यही आधुनिक युग का यथार्थ है। आम लूटपाट, हत्या, धर्म को लूटने वालों की संख्या दिन–पर–दिन बढ़ती ही जा रही है। इन्हीं संदर्भों में केदारनाथ अग्रवाल की कविता कालजयी बन गई हैं।

आम जनता की समस्याओं को नागार्जुन भी अपने काव्य में सपाट बयानी के साथ उठाते हैं। हर उस मनुष्य से घृणा करते हैं जो आम जन का खून चूस रहा है। नागार्जुन किसान के प्रति प्रतिबद्ध हैं। नागार्जुन 'पसीने का गुणधर्म' नामक कविता में रिक्शावाले के प्रति संवेदनात्मक स्तर पर जुड़ाव महसूस करते हैं। कविता साथ–साथ यह भी कह जाती है कि देश को स्वतंत्र होने के बाद मजदूरों की संख्या में इजाफा ही हुआ है। कभी आमजन जिस स्वतंत्रता के सपने देखा करता था वह मात्र कपोल–कल्पित ही रहा। सन् 1913 में प्रकाशित उनकी यह कविता यथार्थ का मर्मस्पर्शी चित्रण करती है–

"रिक्शावाले की पीठ पर फटी बनियाइन
पसीने के अधिकांश गुण–धर्म को
कर रही है प्रमाणित / मेरा मन करता है।"[145]

भारतीय बदहाली का यह जो आलम है, उसके पीछे शोषण शक्तियों का तो हाथ है ही। राजनीति ने भी राष्ट्र की गरीब व आमजन की अवहेलना में कम योगदान नहीं दिया है। नागार्जुन ऐसी राजनीति के प्रति आक्रोश की भावना ही व्यक्त करते हैं –

"शुरु हो गया नेताओं का / मधुर बुझावन मधुर सिखावन
शांत रहे हम / हत्यारे को सजा मिलेगी।
जो भी कुछ करना है सब सरकार करेगी
तत्पर हो सारी साजिश की जांच और पड़ताल करेगी
शांत रहें हम इत्यादि।"[146]

नागार्जुन के हर शब्द में व्यंग्य छिपा रहता है। तो केदारनाथ अग्रवाल अपनी बात को सीधे–सीधे कह देते हैं; उनकी कविता में व्यंग्य तो नहीं है परंतु राजनीति पर लिखी गयी सपाट बयानी शैली तिलमिला देने वाली है –

राजनीति नंगी औरत है / कई साल से जो यूरुप में

.....

ऐसा पागल लड़वाती है / आबादी में बम गिरते हैं
दल की दल निर्दोषी जनता / गिनती में लाखों मरती हैं।"[147]

केदारनाथ अग्रवाल द्वारा सन् 1946 में लिखा गया गीत 'भारत माँ का गीत' आज भी समय–समय पर चरितार्थ हो जाता है। इस सांप्रदायिकता की मांग से भारत आज भी ग्रस्त है। यह सिर्फ राजनीति का खेल है। इसी सांप्रदायिकता से ग्रस्त होकर केदारनाथ अग्रवाल ने यह गीत लिखा है जो वर्तमान में भी प्रासंगिक बना हुआ है –

"हिंदुओं मुस्लिम न जूझो / व्यर्थ बहता खून मेरा
हिंदुओं मुस्लिम सुनो मैं / रक्त की प्यासी नही हूँ।"[148]

मुक्तिबोध अपनी कविता में आधुनिक यथार्थ को एक अलग अंदाज में लाते हैं। मुक्तिबोध का स्वयं का कहना है कि – "हम समाज, संस्कृति, परंपरा, युग और ऐतिहासिक आवर्त में रह रहे हैं, उन सबका प्रभाव हमारे हृदय का संस्कार करता है। हमारी आस्था में जो कुछ है, वह समाज प्रदत्त है – चाहे वह निष्कलुष अनिंद्य सौंदर्य का आदर्श ही क्यों न हो। हमारा सामाजिक व्यक्तित्व हमारी आत्मा है। आत्मा का सारा सारतत्व प्रकृत रूप में सामाजिक है।"[149] मुक्तिबोध ने मार्क्सवाद रूपी थाली में अपने संघर्ष के बीज बोये थे, जो पूर्णरूपेण सामाजिक चेतना से युक्त हैं। इसलिए मुक्तिबोध की कविता समाज की अभिव्यक्ति है वह समाज के अधिकारों से सुसज्जित है। अपने अनुभव के आधार पर मुक्तिबोध समाज के परिप्रेक्ष्य में कविता का ताना–बाना बुनते हैं। उनकी संवेदना केवल मध्यवर्ग के साथ ही नहीं बल्कि आमजन के साथ भी जुड़ी हुई है जैसे –

"विवेक पीड़ा की गहराई बेचैन
डूबा है जिसमें श्रमिक का संताप।"[150]

त्रिलोचन का भी अनुभव बहुत ही व्यापक है। गाँव से लेकर शहर तक किसान–मजदूर व कारखानों के मजदूर तक उनका अनुभव फैला है। उनकी शैली गद्य प्रधान है। वह आम बोलचाल की भाषा में बात करते हैं जो आज की जिंदगी के विविध आयामों की कथा कहती है उनकी कविता –

"नगई कहार था / अपना गाँव छोड़कर
चिरानी पट्टी आ बसा / पूरब की ओर
जहाँ बाग या जंगल था / बाग में
पेड़ आम, जामुन या चिलबिल के
जंगल में मकोय, हैंस, रिसवल की बंवर
झाडियाँ झरबेरी की।"[151]

काव्य संवेदना के बदलते धरातल और लोक–जीवन की अभिव्यक्ति

"साहित्य का मनुष्य के संपूर्ण जीवन से संबंध है। आर्थिक जीवन के अलावा मनुष्य एक प्राणी के रूप में भी अपना जीवन बिताता है। साहित्य में उसकी बहुत सी आदिम भावनाएँ प्रतिफलित होती हैं, जो उसे प्राणी मात्र से जोड़ती हैं। इस बात को बार–बार कहने में कोई हानि नहीं है कि साहित्य विचारधारा मात्र नहीं है। उसमें मनुष्य का इंद्रियबोध, उसकी भावनाएँ, आंतरिक प्रेरणाएँ भी व्यंजित होती हैं।"[152]

अरस्तु के शब्दों में कहें तो 'मनुष्य सामाजिक प्राणी है' जब मनुष्य सामाजिक प्राणी है तो समाज ही मनुष्य के लिए परिवेश तैयार करता है। मनुष्य जिस समाज एवं समय में रहता है उसी के अनुसार अपने आपको ढालता है। चाहे वह अच्छा परिवेश हो या बुरा। जैसे–जैसे मानव की संवेदना विकसित होती जाती है वह कुछ सामाजिक परंपराओं का बहिष्कार भी कर देता है चाहे उसके पीछे

कारण कुछ भी हों। साहित्य समाज का आईना है, आईना इसलिए कि कवि या लेखक जिस समाज व समय का चित्रण करता है। वह उसी समाज का प्राणी है और कवि को जितना समाज का अनुभव होगा उतना ही उसका काव्य श्रेष्ठ होगा। चूँकि समय परिवर्तनशील है इसलिए समय के अनुसार मनुष्य अपने–आपको ढालता जाता है। मनुष्य का परिवर्तन रूप ही समाज में बदलाव लाता रहता है। जैसे–जैसे मनुष्य नयी–नयी चीजों के संपर्क में आता है वैसे–वैसे उसके ज्ञान में वृद्धि होती जाती है। इस ज्ञानात्मक संवेदना के कारण उसकी प्राचीन परंपरा नया रूप धारण करती चली जाती है। इसलिए जब हम काव्य परंपरा को देखते हैं तो समय एवं परिस्थितियों के अनुसार काव्य में परिवर्तन होते रहते हैं। प्रत्येक युग के काव्य संवेदना की पृष्ठभूमि अलग–अलग होती है। जैसे–जैसे काव्य बदलता है तो लोक–जीवन का चित्रण भी अपना रूप बदलता रहता है। साहित्य लोक–जीवन की प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में अभिव्यक्ति है। हिंदी कविता की परंपरा रही है कि उसने समान्य जन की कभी भी उपेक्षा नहीं की। हालांकि आदिकालीन कविता की मूल प्रवृत्ति सामंतवादी युग का चित्रण करना है, कवियों का जमघट राजदरबार की शोभा बढ़ाता था। राजाओं की प्रशंसा में वीररस प्रधान काव्य का सृजन किया गया, परंतु इस समय में ऐसे भी कवि हुए हैं, जिनका काव्य लोककथाओं पर आधारित है। ऐसे कवियों ने अपने समय के लोक–जीवन को अपनी कविता में प्रमुख स्थान दिया है। हालांकि कविता शुरुआती दिनों में संपन्न वर्गों को चित्रित करती थी, परंतु अपनी मूल संवेदना में कविता सामान्य मानवता का विरोधी नहीं रही। हम उन अमर कवियों को जानते हैं जो जनता की जुबान पर आज भी जीवित है और आम जन के द्वारा उनके लिखे गीत व कविता आज भी गायी जाती है। जैसे – सरहपा, मेरुतुंग, नरपतिनाल्ह, चन्दबरदाई, कबीर, जायसी, तुलसी व सूरदास, मीराबाई ये सभी कवि उस समय के हैं जब जनता को तीव्र राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक व आर्थिक एहसास नहीं था। परंतु इन कवियों

का काव्य–सृजन इनको अपनी सांस्कृतिक विरासत के साथ–साथ अपने जीवन के प्रति भी सचेत कर रहा था। आदिकाल से ही कविता में सामाजिक यथार्थ का चित्रण मिलता है। आदिकालीन कवियों ने लोक–भाषा में लोकजीवन को जीवंत किया था। कवियों ने लोकोक्तियों, सुक्तियों, मुहावरों, लोकजीवन से उठाए गए संस्कारों के गीत, कृषि जन्य गीत, पारिवारिक संबंधों की चर्चा करने वाले गीत व अंधविश्वासों के सहारे जीवित समाज व समाज में लोक–मान्यताएँ गहरी पैठ जमाए हुए हैं, जिनको आदिकालीन कविता ने समेटा है। लोक कथाओं को आधार बनाकर ही इस काल में अनेक काव्यों की आधारशिला रखी गई जैसे – 'ढ़ोला मारु रा दूहा', 'खुसरो को पहेलियाँ' आदि अर्थात् साहित्य आम जनता को ध्यान में रखकर लिखा जा रहा था। इन कवियों का प्रयास समाज को प्रगति के रास्ते पर लाना था। साहित्य समाज में फैले अंधविश्वासों, बुराइयों, धार्मिक आडम्बरों का विरोध कर रहा था, जिससे सामान्य जनता का भला हो सके। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है प्रगतिशील साहित्य वह होता है जो समाज को आगे बढ़ाता है। आदिकालीन कविता में प्रगतिशीलता के तत्व समाहित थे या समाहित हैं। सरहपा समाज में फैले भेदभाव और पाखण्ड का खण्डन कर सहज जीवन बिताने पर बल देते हैं–

ब्रह्मणहिं म जाणंत हि मेऊ। / खई पढ़िअउ ए चउ वेउ।।
मट्टि पाणि फुसलई पठन्त। / घर हीं वइसी अग्नि हुणंत।।"[153]

विद्यापति लोक भाषा पर जोर दे रहे थे। उन्होंने तो कहा कि देशी भाषा सब जनों को मीठी लगती है –

"देसिल बयना सब जन मिट्ठा।"[154]

कबीर ने भी ब्राह्मणों द्वारा फैलाये गए समाज में पाखण्डों की निंदा की है। उनका मुख्य जोर शुद्ध हृदय भावना पर रहा है –

"पोथी पठि जग मुआ पंडित भया न कोय
एकै आखर पीव का पढ़े सु पंडित होय।"[155]

कबीर तो अपने समाज के प्रति इतने जागरूक थे कि वह समाज में किसी को भी भूखा नहीं देखना चाहते थे। वह आम–जन की दशा देखकर बेताब हो जाते थे यही कबीर की लोक चेतना है –

"सुखिया सब संसार है खावे अरु सौवे
दुखिया दास कबीर है जागे अरु रोवै।"[156]

भक्त कवि तुलसीदास ने आमजन को अपने काव्य में जगह दी। वह दीन–दुखियों की पीड़ा को राम की भक्ति के माध्यम से दूर करना चाहते हैं; क्योंकि भक्तिकाल में भारतीय राजनीतिक एकीकरण तो संभव नहीं था। आम जन के पास एक भक्ति का ही मार्ग बचा था। जिस तरह जनता दिन पर दिन दरिद्र होती जा रही थी, उसकी व्यथा को भक्तियुग के कवियों ने अपने काव्य में जगह दी है –

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि
वनिक को बनिज, न चार को चाकरी।
जीविका बिहीन लोग सीद्यमान सोच बस
कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाई का करी।"[157]

भक्तियुग की महत्वपूर्ण समस्या थी सामाजिक सांस्कृतिक विघटन की प्रक्रिया, आम–जन की चिंता चूँकि राजा–महाराजा व सामंत आपसी लड़ाई–भिड़ाई पर ही जोर दे रहे थे, एक बाहरी शक्ति का संकट और दूसरी जनता भी आपस में उलझ रही थी इसलिए इन कवियों ने सांस्कृतिक समन्वय का बीड़ा उठाया। मलिक मुहम्मद जायसी ने तो पद्मावत में लोक में प्रचलित काव्य–रूढ़ियों का खूब प्रयोग किया, जायसी आम–जन में प्रेम के माध्यम से सांस्कृतिक सहअस्तित्व की भावना पैदा करना चाह रहे थे। जायसी ने पद्मावत में आम जीवन के ही बिम्बों

को समेटा है। वह लोक का मोह त्याग नहीं सके हैं जैसे एक उदाहरण दृष्टव्य है –

"नवौ पँवरि पर दसौं दुआरु तेहि पर बाज राज धरिआरु।।
घरी सौ बैठि गै घरिआरी। पहर–पहर से आपन बारी।
जबहि घरी पूजी वह मारा। घरी–घरी घरिआर पुकारा
परा जो डाँड जगत का सब डाँटा। का निचिंत माटो का भाँडा।।
तुम्ह तेहि चाक चढ़े हो काँचें। आएहु फिरे न थिर होई बाँचे।
घरी जो भरै घटे तुम्ह आऊ। का निचिंत सोवहि रे बटाऊ
पहरहि पहर गजर नित होई। हिआ निसोगा जाग न सोई।"[158]

भक्तिकालीन कविता सामाजिक–सांस्कृतिक चिंता की गाथा है, जिसमें लोक–जीवन का कवियों ने पूरा–पूरा ध्यान रखा है। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है – "मार्क्सवाद संस्कृति किसी समाज–व्यवस्था का मानसिक प्रतिबिंब है। आर्थिक व्यवस्था अगर नींव है तो संस्कृति उसके ऊपर की इमारत है।"[159]

इस तरह से काव्य संवेदना के बदलते हुए धरातल में लोक–जीवन का भिन्न–भिन्न रूप में अभिव्यक्ति हुई है। 'रीतिकाल' में कवियों ने दरबार में ही रहकर काव्य–सृजन किया जिसमें सामंतों की भोग–विलास का ही अधिकांश चित्रण है; इसलिए आम–जन–जीवन तक तो कवियों की दृष्टि ही नहीं पहुँच पाती थी। अतः लोक–जीवन के प्रति कवि का उपेक्षित भाव ही रहा है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मानना है कि – "रीति ग्रंथकार रसवादी नहीं थे वरन् चमत्कारवादी थे।"[160] लगभग–लगभग शुक्ल जी का मानना सत्य है क्योंकि लोक–जीवन के प्रति रीतिकालीन कविता का उदासीन चरित्र ही रहा है। भारतेंदु व द्विवेदी युगीन साहित्य ने समाज सेवा का काम जरूर किया। समय की मांग है कि उसके अनुसार साहित्य में भी परिवर्तन आवश्यक है। इस दौर में इतिहास भी करवटें ले रहा था। सामाजिक–राजनीतिक और धार्मिक व आर्थिक परिस्थितियाँ धीरे–धीरे बदल रही थीं। देश में स्वतंत्रता की भावना प्रबल होती जा रही थी,

जिस भावना को छायावाद ने मुख्य स्वर दिया। मनुष्य के भविष्य की चिंता करने वाला छायावादी कवि गरीबों के प्रति भी सजग रहा है., गरीब जनता को जो भार गरीबी का वहन करना पड़ रहा है, वह गरीब भी अपना जवाब जानना चाह रहा है यह गरीब ही नहीं बल्कि हर शोषित व पराधीन मनुष्य जानना चाहता है –

"ढोता जो वह, कौन सा शाप / भोगता कठिन, कौन–सा पाप
यह प्रश्न सदा ही है पथ पर / पर सदा मौन इसका उत्तर।"[161]

किसानों की दीन दशा का भान इन कवियों को पहले से ही था इसलिए उन्होंने किसानों की समस्याओं को अपने काव्य में जगह दी एवं उनकी दरिद्रता का चित्रण किया। कवियों के लिए देश प्रेम था आमजन को शोषण के बंधनों से मुक्त कराना निराला ने लिखा है –

"रुद्ध कोष है क्षुब्ध तोस
अंगना–अंग से लिपटे भी
आतंक अंक पर कांप रहे हैं
घनी, वज्र, गर्जन से बादल।
त्रस्त्र–नपन–मुख काँप रहे हैं।
जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर।"[162]

आम जन के प्रति निराला की इतनी सघन संवेदना उनके कवित्य को पूर्ण रूप से लोक–जीवन के प्रति जोड़ती है, चाहे उनके भाषिक संरचना आम–जन की नहीं हो; लेकिन भाव के स्तर पर वह लोकवादी कवि हैं। छायावादी कवि के लिए राष्ट्रीयता का मतलब देश को ब्रिटिश शासन से मुक्त कराना ही नहीं; बल्कि उन शोषण शक्तियों से भी मुक्त कराना था जो आम–जन का खून चूस रही थी। छायावादी कवि ने समाज में फैली सभी रूढ़ियों का विरोध किया, जो आम–जन को अपनी गिरफ्त में ले रही थी। उत्तरार्द्ध में छायावादी कविता तो सघन रूप से

लोक से जुड़ जाती है, कविता में पहली बार किसान–मजदूरों में सौंदर्य देखा गया–

"देख रहा हूँ आज विश्व को मैं ग्रामीण नयन से
सोच रहा हूँ जटिल जगन पर जीवन पर जन मन से।"[163]

निराला जी भी ग्रामीण जन में सौंदर्य देखते हैं। उनका मानना है कि आम–जन को अब ज्यादा दिनों तक नहीं दबाकर रखा जा सकता। निराला कर्म सौंदर्य में विश्वास करते हैं। एक किसान का चित्रण जो खेत में श्रम के बाद घर आता हुआ, बैलों के कंधों पर 'माची' रखे हुए 'माची' शब्द ग्रामीण शब्द है जिसको किसी–किसी प्रांत में 'जूड़ा' भी कहा जाता है, यह वह लकड़ी होती है जो दोनों बैलों के कंधों पर रखी जाती है तब उसके मध्य में 'हल' लगाया जाता है। यहीं से ग्रामीण जीवन की पकड़ जहाँ पर कवि को होने लगी तो कविता का धरातल भी बदल गया। उदाहरण के लिए –

"खेत जोत कर घर आए हैं / बैलों के कंधों पर माची
माची पर उल्टा हल रखा / बद्वी हाथ, अधेड़ पिताजी
माताजी, सिर गट्ठल पक्का / पुए लगा कर बड़ी बहू ने
मन्नी से पर पकवाये हैं।"[164]

कविता की भाषा गद्य, सामान्यजन के बिलकुल करीब, लोक–जीवन की शब्दों में धुन, कविता में मिट्टी की खुशबू, किसानी जीवन का चित्रण करती हुई कविता पूरे भारतीय किसान की तस्वीर सामने ला देती है। ये एक सफल कवि की प्रतिभा ही है जिसने अपने सृजन के माध्यम से भारतीय किसान के पूरे चरित्र को उद्घाटित कर दिया। यहाँ से ही आगे कविता की संवेदना का विकास पूर्णतः लोक पर आधारित हो गया, सन् 1936 से प्रगतिवादी कविता के शुरुआत के साथ–साथ ही कविता का धर्म रहा है आम जीवन को उद्घाटित करना। अब सृजन कार्य का एक ही मकसद था अर्थात् कवि का एक ही मकसद था जनता के सुख–दुख, अमीरी–गरीबी व शोषित लोगों की पक्षधरता। इस समय कविता का

रूझान लोक के प्रति हो गया। कवि अब किसी कल्पना या स्वप्न की बात नहीं करके यथार्थ की बात करने लगा हालांकि बदलते परिवेश के साथ–साथ, निराला, पंत की कविता में भी यथार्थ की अभिव्यक्ति हैं परंतु प्रगतिशील कवियों ने कविता की नींव ही यथार्थ के चित्रण पर रखी। प्रगतिशील कवि यथार्थ के साथ–साथ आशावादी है। केदारनाथ अग्रवाल द्वारा लिखी गई सन् 1932 में 'आधुनिक शंकर' जिस पर गांधीजी का प्रभाव है और जिसमें उस समय के यथार्थ को अंकित किया गया है। इतिहास में भी सन् 1932 के आस–पास गांधीवाद का बोल–बाला था। गांधीजी की लहर पूरे भारत में थी, राजनीतिक आंदोलन से ग्रामीण जनता तक हर जगह गांधीजी ने कमान सम्भाल रखी थी। गांधी जी के चरखे, विदेशी कपड़ा का बहिष्कार आम–जीवन को दासता के बंधनों से मुक्ति की आशा 'आधुनिक शंकर' गांधी का ही प्रतीक है और यही काव्य के बदलते यथार्थ की अभिव्यक्ति है। केदारनाथ अग्रवाल के माध्यम से –

"सारा पापाचार नष्ट होगा शीघ्र भारत का,
सत्यता–विमल वर गंगा तू बहावेगा
कपड़ा विदेशी आना बंद होगा भारत में
चरखा त्रिशूल लिए पहरा लगावेगा
दूर कर दासता पछाड़, पराधीनता को
सत्याग्रह लोचन से आग बरसावेगा
होके नौजवान वीर भारतीय सरदार
शंकर का रौद्र रूप अब तू कहावेगा।"[165]

सीधे–सीधे केदारनाथ अग्रवाल दासता के बंधनों से मुक्ति की बात करते हैं। भाषिक स्तर पर इस कविता का कोई सांकेतिक अर्थ नहीं है, हर शब्द में भाषा का आधुनिकतापन है, जो कविता को लोक के और भी करीब कर देती है। कविता को लोक–धुनों में गाया भी जा सकता है। इस समय तक कविता गद्य का रूप ले

चुकी थी। कवि ईश्वर के प्रति भी श्रद्धा भाव रखता है, परंतु अपने लिए नहीं। उस भक्ति में भी लोक की मुक्ति की भावना छिपी हुई है, कवि ईश्वर से पूछ रहा है –

"मुझे बता दे मेरे ईश्वर। कष्ट न क्या कम होंगे।
बाधक और विरोधी पर्वत क्या न कभी सम होंगे।
रपटीला है पथ दुर्गम है, निर्बल में चलता हूँ
आगे को लख, तब पीछे से पांव उठा हटता हूँ
एक नहीं दायें–बायें है खाई खाई
जिनमें दानव जीव–जंतुओं की हैं गूंज समाई।"[166]

केदारनाथ अग्रवाल की 'देखो स्वाँग अमीरों वाला' कविता में गरीबों का शोषण कर अमीरों के ऐसो–आराम का यथार्थ चित्रण है –

"दोखो स्वाँग अमीरो वाला
मोटे ताजे गद्दे पर वह
बैठा है टेढ़े मुँह वाला
काला है मुँह, सुंदर कपड़े
डाले हैं, मोती की माला।"[167]

कविता में जो लोक–जीवन की परंपरा चली आ रही थी, वह प्रगतिवादी कविता में आकर पूरी होती है। लोक–जीवन का कविता में क्या रूप होना चाहिए उसका सबसे अच्छा उदाहरण प्रगतिशील कविता ही हो सकती है। केदारनाथ अग्रवाल की 'आदमी' कविता मजदूर के जीवन को उद्घाटित करती है –

"भरा ठेला खींचता हूँ / हाथ में गट्ठे पड़े हैं
पांव में ठट्ठे पड़े हैं /
और इस पर तर पसीने से अकेला खींचता हूँ।"[168]

यही मजदूर अपने श्रम से 'नव इतिहास' बनाता है जिससे आने वाला इतिहास नया होगा, परंतु एक श्रमिक के सपने मरते भी हैं और आने वाले अच्छे कल के लिए बनते भी हैं –

नित्य नव इतिहास बनता / आज यह कल से नया है
आज से यह कल नया है
रक्त धारा का प्रखर आवेग बंधन तोड़ बहता।"[169]

कवि को मिट्टी का रंग भी लाल दिखाई देता है; क्योंकि जब भी क्रांति का बिगुल बजेगा तो वह किसान–मजदूर से ही –

"आज मिट्टी लाल दिखती / कालिमा सब धो गई है
हेय जड़ता खो गई है
रणु के परिमाणुओं में विकट शोषित–ज्वाल जलती।"[170]

'यही धर्म' नामक शीर्षक कविता में श्रमिक के स्वाभिमान को दर्शाया गया है जिसमें वह शोषक शक्तियों का विरोध करता है –

"यही ध्येय है – यही धर्म है।
मैं हिम्मत से शीश उठाऊँ
नत मस्तक जीते रहने में बहुत शर्म है, बहुत शर्म है।"[171]

'ऐसा तन' कविता में केदारनाथ अग्रवाल दुबले–पतले मजदूर की शक्ति को विद्युत की धाराओं और ज्वालाओं के समान बताता है –

"ऐसा तन है
विद्युत अगणित धाराएँ
शत सहस्र जागृत ज्वालाएँ
नित इसके अणु–अणु में करती नव नर्तन है।"[172]

"केदारनाथ अग्रवाल जी धरती के कवि हैं। खेत खलिहान, कारखाने और कचेहरी के कवि हैं। वे सबकी पीड़ा, दुःख–दर्द, संघर्ष और हर्ष के कवि हैं। वह पीड़ित और शोषित मनुष्य के पक्षधर हैं। वे मनुष्य के कवि हैं। कविता में मनुष्य तथा मनुष्यता के तलाश के कवि हैं। वह मनुष्य बनना चाहते हैं – देवत्व उनकी कामना नहीं है क्योंकि 'परम् स्वारथी देव सब।' मनुष्य बनना और मनुष्य बनाना ही उनके जीवन की तथा कवि–कर्म की सबसे बड़ी साध है तथा साधन भी।"[173]

नागार्जुन की साधना भी आम–जन की मुक्ति की साधना है, उनकी कविता लोक–धर्म की भूमि पर आधारित है अर्थात् नागार्जुन का लोक–धर्म आम–जन जीवन को चित्रित करना है। उनके काव्य–सृजन का एक ही प्रयोजन आमजन की खुशहाली, नागार्जुन सच्चे लोक के कवि हैं। उनका सारा का सारा सृजन कर्म आम जनता को शोषण से बचाना है चाहे वह, किसान–मजदूर पर कविता हो या फिर कांग्रेसी नेताओं पर व्यंग्य के रूप में लिखी गई कविता। कांग्रेसी नेताओं को लक्ष्य करके लिखी गई कविता –

"आज जो तुम मिल गये थे दुश्मनों से, गुनाहगारों से,
छोड़कर संघर्ष का पथ / भूल कर अंतिम विजय की घोषणाएँ
शोक कर लंबा छुरा तुम सर्वहारा जनगणों की पीठ में।"[174]

प्रगतिशील कवि नागार्जुन को गरीबों का दुख सताता है और उनकी करूण चीत्कार भी सुनाई देती है। उस गरीब का चित्रण देखिए, जो गरीबी के कुचक्र से नहीं निकल पा रहा है –

"सुने मैंने हाल ही / उस गरबी की चीत्कार
सांप के जबड़ों में फंसा था वो / कर रहा था
चीत्कार निरंतर / मेढ़क बेचारा।"[175]

लोक का अनुभवजन्य दर्द जितना नागार्जुन को सताता है उतना अन्य किसी कवि को नहीं। एक गरीब की तुलना साँप के जबड़ों में फंसे मेढ़क से करना और उस मेंढक की क्या स्थिति होती है जग–जाहिर है। कविता में ये उपमान सच्चे कवि की लोक–संवेदना की उपज है। इससे पहले ऐसे शब्द जो सीधे–सीधे लोक से उठाए गए हों कविता में नहीं मिलते थे जैसे साँप, मेंढ़क, तलइया, बेचारा, चीत्कार, हाय राम, ये ऐसे शब्द हैं जो लोक का चित्रण करते हैं। जब साहित्य समाज की यथार्थ अभिव्यक्ति है तो कवि–कर्म यह भी है कि वह जैसा समाज है उसका वैसा ही चित्रण करें और यही सच्चे कवि की पहचान है। कवि की संवेदना को उसका परिवेश निर्मित करता जो महलों में रहने वाला हो,

उस आम–जन के सुख–दुख का क्या अनुभव। अनुभवगत सौंदर्य तो उसी मनुज को होता है जो उनके बीच में रहता हो और इसी संवेदना की उपज है नागार्जुन की कविता –

"कुली–मजदूर है / बोझ ढोते हैं, खींचते हैं ठेला
धूल–धुआँ भाप से पड़ता है सबका
थके–मांदे जहाँ–तहाँ हो जाते हैं ढेर।"[176]

चाहे वह किसान–मजदूर हो या फिर कारखाने में काम करने वाला, या फिर कुली–मजदूर सभी का दर्द समझते हैं। यह कह पाना मुश्किल है कि नागार्जुन ने मजदूर के जीवन का अनुभव नहीं किया हो, मजदूरों की पीड़ा खुद की पीड़ा बनकर नागार्जुन के काव्य में उभरकर आती है। नागार्जुन आम–जन के कवि हैं चाहे उनकी ग्रामीण–मजदूर से संबंधित कविता हो या फिर शहरी जिदंगी जी रहे मजदूरों से। गाँव से लेकर शहर तक धरती से लेकर आसमान तक ग्रामीण प्रकृति से लेकर हिमालय की प्रकृति तक सभी के कवि हैं नागार्जुन। जहाँ तक मैं सोचता हूँ अगर कोई जन कवि की उपाधि का हकदार होगा तो वह नागार्जुन ही होगा।

त्रिलोचन धरती के कवि हैं। उनकी काव्य–सृजना समाज से गहरे संवेदनात्मक स्तर पर जुड़ती है। एक श्रमिक का सौंदर्य उनकी कविता में गहरे स्तर तक जुड़ा हुआ है। उनकी कविता की बुनावट आम–जन को लेकर हैं चाहे मजदूर का जीवन हो या किसान का या प्रकृति का चित्रण हो या फिर गाँव के जीवन का यथार्थ चित्रण। सभी विशेषताओं के साथ उनकी कविता सहजता के आकाश को छूती नजर आती है।

'अंतर' कविता में त्रिलोचन ने समय के साथ–साथ जो कविता में बदलाव आया है, उसको दिखाया है यह समय की मांग है; क्योंकि समाज में नयेपन से

प्रगतिशीलता आती है। त्रिलोचन का भी मानना है कि समय के अनुसार काव्य का धरातल बदलता रहता है त्रिलोचन ने नयेपन का समर्थन किया है –

"तुलसी और त्रिलोचन में अंतर जो झलके
वे कालांतर के कारण है। देश वही है,
लेकिन तुलसी ने जब–जब जो बात कही है,
उसे समझना होगा संदर्भों में कल के।

.....

अब आज पुराना नहीं बजेगा
उसके मन का। मान चाहिए, सबको सबका।"[177]

प्रगतिशील कवि अपनी 'राह' चलता है और वही उसका जीवन संघर्ष होता है। कवि त्रिलोचन ने भी समय के दबाव के सामने अपने कवि–कर्म को नहीं रुकने दिया। क्योंकि त्रिलोचन की आँखों में तो अनोखा सपना है –

"अपनी राह चला। आंखों में रहे निराला,
मानदंड मानव के तन के मन के तो भी
पीस परिस्थितियों न डाला। सोचा जो भी
हो आंखों की करुणा का वह शीतल पाला
मन को हरा नहीं करता है। पहले खाना
मिला करे तो कठिन नहीं है बात बनाना।"[178]

डा. गोबिन्द प्रसाद ने त्रिलोचन के पहले कविता संग्रह 'धरती' के बारे में लिखा है – "कविताओं में काव्य के प्रत्यक्ष व्यापार पर बल है, जिसमें किसानी जीवन के सामूहिक श्रम व संघर्ष के चित्रों को सहज और अनलंकृत ढंग से बेबाकी के साथ रखा गया है।"[179]

"हे धूप कठिन सिर ऊपर / थम गयी हवा है जैसे
दोनों दूबों के ऊपर / रख पैर सींचते पानी
उस मलिन हरी धरती पर / मिलकर वे दोनों पानी
दे रहे खेत में पानी।"[180]

त्रिलोचन की चाहे प्रेम संबंधी कविता हो या फिर किसानी–मजदूरों से संबंधित या सॉनेट हो; सभी में सामाजिक उत्तरदायित्व का आभास होता है। 'धरती' कविता संग्रह के बारे में डॉ. गोबिन्द प्रसाद का मत है कि – धरती सामाजिक उत्तरदायित्व की रचना है। 'धरती ही क्या अन्य रचनाओं में भी यत्र–तत्र त्रिलोचन की कविताओं में ढेरों चरित्र बिखरे पड़े हैं। इनमें अपढ़ बच्ची चम्पा है, चित्रा जाम्बेकर है, नगई महरा है, भोरई केवट हैं, अछूत निषाद मंगल, निरहू, सोनी और सुकनी है तो सब्जी बेचने वाली बुढ़िया है इन कविताओं में भारत के किसान–मजदूरों और दुःख–सुख को सहती संघर्षशील जनता का मुँह से बोलती तस्वीर अपने सरल रूपों में सामने आती है। इन चरित्रों में कवि की वर्गीय दृष्टि और विचारधारा को देखा जा सकता है।"[181]

सामान्य जनता के जन–जीवन रूपी लोक–संग्राम को कवि ने मानवीय–दृष्टिकोण से देखा है। लोक के प्रति ईमानदारी और कर्त्तव्य का मानदंड स्थापित करती है त्रिलोचन की कविता। त्रिलोचन जब सृजन–कर्म के माध्यम से लोक में उतरते हैं तो जिंदगी के सारे अनुभव के साथ और यह अनुभव तब ही संभव है, जब कवि आम–जन के बीच रहा हो। अन्यथा इतनी बारीकी से लोक का यथार्थ चित्रण संभव नहीं हो पाता। त्रिलोचन की कविताओं में उदासी एवं अकेलापन है –

"अपना बस क्या, जीवन है दुनिया का सपना
जब तक आंखों में है तब तक जयोति बना है
अलग हुआ तो आंसू हैं या तिमिर घना है
बने ठीकरा तो भी मिट्टी को है तपना।"[182]

निराशापन –

"हाथों के दिन कब आएँगे। कब तक आएँगे,
यह तो कोई नहीं बताता।"[183]

आत्म संवाद शैली में लिखी गई इन कविताओं में जो निराशा, अवसाद, व अकेलापनं छिपा है, वह अपने आपको लेकर नहीं है; बल्कि समाज को लेकर है। यहाँ पर यह सभी सामाजिक समस्याओं की उपज है।

सामाजिक समस्याओं के साथ–साथ त्रिलोचन ने राजनीतिक यथार्थ को भी अपने काव्य के माध्यम से उद्‌घाटित किया है। चुनाव में नेताओं के दो चेहरों वाली तस्वीर है जिसको 'त्रिलोचन' अच्छी तरह से जानते हैं –

"ये चुनाव के दिन हैं और तमाशे
नए–नए होंगे, ठनकेंगे ढोलक, ताशे।"[184]

त्रिलोचन की प्रकृति संबंधी कविताएँ भी सामाजिक जीवन को ही उद्‌घाटित करती हैं –

"वातावरण बसा है, जनपथ पत गया
बिजली की आभा से, कुहरा क्षीण है
अस्ति नास्ति के बीच लोग आ जा रहे हैं
पैदल या सवारियों से आवाज की।"[185]

चाहे किसी भी काल की कविता हो कविता काल के अनुसार अपने वस्तु एवं रूप में परिवर्तन जरूर लाती है। यह सब कवि की संवेदनशीलता के ऊपर है।

शमशेर व मुक्तिबोद्ध की पीड़ा नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन की पीड़ा से भिन्न तरह की पीड़ा हैं। शमशेर व मुक्तिबोध में शमशेर जहाँ बिम्बों व प्रतीकों का सहारा समाज के चित्रण में ज्यादा लेते हैं; वहीं पर कवि मुक्तिबोध फेंटेसी के माध्यम से यथार्थ को उद्‌घाटित करते हैं। सभी ने अपने–अपने तरीके से समाज के सत्य को उद्‌घाटित किया है,

मजदूरों से संबंधित त्रिलोचन की कविता का उदाहरण –

"आज फिर देर से लौटा हूँ, बड़ी रात गये,
ताक पर ही मेरे हिस्से की धरी शायद।"[186]

उन्होंने सामाजिक एकता पर बहुत बल दिया है। शमशेर का मानना है कि अगर सभी सामाजिक प्राणी एक हो जाएँ तथा एक दूसरे के सुख–दुख में शामिल हो जाएँ तो सारी समस्याओं का अपने आप समाधान निकल जाएगा यही शमशेर की सामाजिकता है –

"सूरज/उगाया जाता/फूलों में/यदि हम/एक साथ
हँस पड़ते / चाँद/आँगन बनता है/आँखों में रास भूमि यदि
सौर मण्डल की मिलती।"[187]

शमशेर ने काव्य–संवेदना के बदलते धरातल को अमन का राग नामक शीर्षक कविता में बहुत अच्छे से बतलाया है –

"ये आँखें हमारे इतिहास की वाणी
और हमारी कला का सच्चा सपना है।"[188]

मुक्तिबोध की काव्य–प्रक्रिया सामान्य–लोक के करीब है। उन्होंने अपने प्रतीक 'लोक' से ही लिए हैं। उनकी कविता अर्थ स्तर पर साधारण जन की समझ से बाहर होते हुए भी सामान्य लोक की ही बात करती है जैसे –

"बावाड़ी की उन घनी गहराइयों में शून्य
ब्रह्मराक्षस एक पैठा है,
व भीतर से उमड़ती गूँज की भी गूँज
हड़बड़ाहट–शब्द पागल से।"[189]

'बावड़ी', 'घनी', 'ब्रह्मराक्षस', गूंज, हड़बड़ाहट, इत्यादि सभी शब्दों को मुक्तिबोध ने लोक से उठाकर कविता के माध्यम से नये अर्थरूप में ढाला है। कवि की चिंतन प्रक्रिया के साथ–साथ कविता में परिवर्तन तो आता ही है। मुक्तिबोध का काव्य समाज में क्राति की प्रेरणा देता है –

"रस्सी के पुल पर चलकर
दूर उस शिखर–कगार पर स्वयं ही पहुँचो।"[190]

मुक्तिबोध की काव्य–प्रक्रिया काल के अनुसार बदलती हुई संवेदना का उदाहरण है। जब तक शोषक रूपी सत्ता पर काबिज लोग विराजमान रहेंगे तब तक मुक्तिबोध की कविता सफर में ही होगी अर्थात् आम–जन का शोषण करने वाली शक्तियों का विरोध करती ही रहेगी।

हिंदी कविता की एक लंबी परंपरा रही है, जो राजदरबारों से चलती हुई ऊबड़–खाबड़ रास्तों का अनुभव लेकर सीधे प्रगतिशील कवियों तक आकर लोक में विचरण कर रही है। हिंदी कविता उस गंगा नदी के समान है जो हिमालय पर्वत से चलकर किसानों के खेतों को हरा–भरा कर सामान्य लोक के बीच समा जाती है। उसके रास्ते में उतार–चढ़ाव भी हैं और समतल भूमि भी। फिर भी वह ऊँचे–नीचे पहाड़ों से अपनी राह बदलती हुई अपने गंतव्य स्थान पर पहुँचती है। इसी गंगा नदी के समतुल्य हिंदी कविता संवेदना के धरातल पर अवस्थित है।

संदर्भ संकेत

---

[1] आचार्य रामचंद्र शुक्ल – चिंतामणि, भाग–1, पृ.227

[2] मैनेजर पाण्डेय – साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ.311

[3] नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ.90

[4] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ, (सं. नामवर सिंह), पृ.28

[5] गोबिन्द प्रसाद – कविता के सम्मुख, पृ.64

[6] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ, (सं. नामवर सिंह), पृ.35

[7] रामविलास शर्मा – नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ.153

[8] जनकवि नागार्जुन – (सं. प्रकाशन विभाग), पृ.9

[9] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ, (सं. नामवर सिंह), पृ.141

[10] वही, पृ.64

[11] त्रिलोचन – ताप के लाए हुए दिन, पृ.62

[12] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ, (सं. नामवर सिंह), पृ.72

[13] वही, पृ.32

[14] वही, पृ.104

[15] वही, पृ.134

[16] वही, पृ.135

[17] नागार्जुन – रचनादृष्टि और प्रसंग (सं. रमनिहाल गुंजन), पृ.92

[18] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ, (सं. नामवर सिंह), पृ.104

[19] नागार्जुन – रचनावली, भाग–1, पृ.

[20] त्रिलोचन : अरधान, पृ.13

[21] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ, (सं. नामवर सिंह), पृ.16

[22] वही, पृ.117

[23] नागार्जुन – रचनादृष्टि और प्रसंग (सं. रमनिहाल गुंजन), पृ.87

[24] रामविलास शर्मा – नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ.110

[25] अजय तिवारी – समकालीन कविता और कुलीनतावाद, पृ.234

[26] वही, पृ.234

[27] वही, पृ.234

[28] वही, पृ.237

[29] वही, पृ.238

[30] रामविलास शर्मा – नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ.153

[31] केदारनाथ अग्रवाल – कहें केदार खरी–खरी, पृ.52

[32] वही, पृ.41

[33] वही, पृ.153

[34] प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल, पृ.37

[35] केदारनाथ अग्रवाल – कहें केदार खरी–खरी, पृ.11

[36] वही, पृ.17

[37] वही, पृ.21

[38] वही, पृ.23

[39] नागार्जुन रचनावली – भाग–2, पृ.386

[40] केदारनाथ अग्रवाल – कहें केदार खरी–खरी, पृ.95

[41] केदारनाथ अग्रवाल – गुलमेंहदी, पृ.133

[42] केदारनाथ अग्रवाल – कहें केदार खरी–खरी, पृ.34

[43] केदारनाथ अग्रवाल – फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ.32

[44] केदारनाथ अग्रवाल – कहें केदार खरी–खरी, पृ.95

[45] वही, पृ.99

[46] रामचंद्र शुक्ल – प्रतिनिधि संकलन (सं. निर्मला जैन), पृ.69

[47] त्रिलोचन – ताप के ताए हुए दिन, पृ.62

[48] वही, पृ.39

[49] त्रिलोचन – तुम्हें सौंपता हूँ, पृ.82

[50] त्रिलोचन – अरघान, पृ.71

[51] त्रिलोचन – ताप के ताए हुए दिन, पृ.31

[52] त्रिलोचन – किंवदंती पुरुष (सं. महावीर अग्रवाल), पृ.188

[53] अज्ञेय द्वारा संपादित 'दूसरा सप्तक', पृ.108

[54] शमशेर – कुछ और कविताएँ, पृ.32

[55] शमशेर – प्रतिनिधि कविताएँ, (सं. नामवर सिंह), पृ.55

[56] शमशेर – कुछ और कविताएँ, पृ.81

[57] शमशेर – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.45

[58] मुक्तिबोध रचनावली, भाग–2, पृ.27

[59] मुक्तिबोध – चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ.37

[60] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.98

[61] केदारनाथ अग्रवाल – कहें केदार खरी–खरी, पृ.55

[62] वही,, पृ.114

[63] वही, पृ.116

[64] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.115

[65] नागार्जुन – सतरंगे पंखों वाली, पृ.291

[66] अजय तिवारी – प्रगतिशील कविता के सौंदर्य मूल्य, पृ.146

[67] मुक्तिबोध – चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ.268

[68] वही, पृ.267

[69] वही, पृ.31

[70] केदारनाथ अग्रवाल – जो शिलाएँ तोड़ते हैं, पृ.153

[71] वही, 112

[72] वही, 113

[73] वही, 185

[74] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.35

[75] शमशेर – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.41

[76] केदारनाथ अग्रवाल – कहें केदार खरी–खरी, पृ.134

[77] शमशेर – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.43–44

[78] गोबिन्द प्रसाद (सं.) – त्रिलोचन के बारे में, पृ.96

[79] वही, पृ.96

[80] कार्ल मार्क्स फ्रेडरिक एँगेल्स – कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र, (अनु. – रमेश सिन्हा), पृ.34

[81] लूशुन – आत्म विडंबना 'कविता', ग्रंथावली, जिल्द–7

[82] गोबिन्द प्रसाद (सं.) – त्रिलोचन के सम्मुख, पृ.96

[83] नागार्जुन – नया 'साहित्य', अक्तूबर, 1950

[84] नंदकिशोर नवल (सं.) – मुक्तिबोध – कवि छवि, पृ.142

[85] वही, पृ.245

[86] वही, पृ.115

[87] मुक्तिबोध – चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ.252

[88] वही, पृ.93

[89] शमशेर सिंह – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.80

[90] मुक्तिबोध – चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ.41

[91] नागार्जुन – रचनावली, भाग–1, (सं. शोभाकांत), पृ.18

[92] वही, पृ.66

[93] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.36–37

[94] आलोचना – अक्तूबर–दिसंबर, 2001, जनवरी–मार्च, 2002, पृ.133

[95] वही, पृ.134

[96] वही, पृ.134

[97] वही, पृ.135

[98] नंदकिशोर नवल – (सं.) मुक्तिबोध कवि छवि, पृ.21

[99] वही, पृ.21

[100] वही, पृ.24

[101] श्यामाचरण दूबे – समय और संस्कृति, पृ.124

[102] सुमित्रानंदन पंत – युगवाणी, पृ.49

[103] दूधनाथ सिंह – निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ.175

[104] वही, पृ.

[105] सुरेन्द्र प्रताप सिंह – मुक्तिबोध, विचारक कवि और कथाकार, पृ.10

[106] नागार्जुन – युगधारा, पृ.12

[107] नागार्जुन – रचनावली, भाग–1 (सं. शोभाकांत), पृ.28

[108] वही, पृ.33

[109] त्रिलोचन – अरघान, पृ.54

[110] वहीन, पृ71

[111] केदारनाथ अग्रवाल – आग का आईना, पृ.39

[112] केदारनाथ अग्रवाल – गुल मेंहदी, पृ.131

[113] वही, पृ.108

[114] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह),, पृ.140

[115] वही, पृ.140

[116] वही, पृ.140–141

[117] केदारनाथ अग्रवाल – कहें केदार खरी–खरी, पृ.146

[118] वही, पृ.132

[119] वही, पृ.179

[120] समय साम्यवादी, 'दूसरा सप्तक', पृ.102

[121] शमशेर – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.41

[122] नंद किशोर नवल (सं.) – मुक्तिबोध : कवि छवि, पृ.61

[123] वही, पृ.69

[124] मुक्तिबोध – चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ.133

[125] श्यामाचरण दूबे – समय और संस्कृति, पृ.63

[126] शमशेर – चुका भी हूँ नहीं मैं, पृ.96

[127] पुरुषोत्तम अग्रवाल – वर्चस्व एवं संस्कृति, पृ.54

[128] श्यामाचरण दूबे – समय और संस्कृति, पृ.132–33

[129] रामदरश मिश्र – हिंदी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा, पृ.116

[130] मुक्तिबोध – नयी कविता का आत्मसंघर्ष, पृ.32–33

[131] द्वारिका प्रसाद चारुमित्र – नई कविता और मानवतावाद, पृ.121

[132] मुक्तिबोध – चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ.27

[133] हंस, अगस्त, 1947, मुखपृष्ठ

[134] दूधनाथ सिंह – निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ.170

[135] हंस (सं. राजेंद्र यादव), अगस्त 2006, पृ.214

[136] केदारनाथ अग्रवाल – कहें केदार खरी–खरी, पृ.163

[137] वही, पृ.165

[138] नंदकिशोर नवल (सं.) बीसवीं शती : हिंदी की कालजयी कृतियाँ, पृ.342

[139] केदारनाथ अग्रवाल – कहें केदार खरी–खरी, पृ.93

[140] दूसरा सप्तक, पृ.98

[141] शमशेर – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.70

[142] केदारनाथ अग्रवाल – कहें केदार खरी–खरी, पृ.31

[143] वही, पृ.96

[144] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.135

[145] नागार्जुन – रचनावली, भाग–1 (सं. शोभाकांत), पृ.48

[146] केदारनाथ अग्रवाल – कहें केदार खरी–खरी, पृ.35

[147] केदारनाथ अग्रवाल – कहें केदार खरी–खरी, पृ.35

[148] मुक्तिबोध – नई कविता का आत्मसंघर्ष, पृ.57

[149] वही, पृ.57

[150] नंदकिशोर नवल (सं.) बीसवी शती हिंदी की कालजयी कविताएँ, पृ.101

[151] त्रिलोचन – ताप के ताए हुए दिन, पृ.66

[152] रामविलास शर्मा – परंपरा का मूल्याँकन, पृ.11

[153] राहुल सांकृत्यायन – हिंदी काव्यधारा, पृ.4

[154] शिवप्रसाद सिंह – कीर्तिलता और अवहटभाषा, प्रथम संस्करण, पृ.32

[155] माता प्रसाद गुप्त – कबीर ग्रंथावली, पृ.26

[156] रामानारायण अग्रवाल – बीजक, पृ.310

[157] कवितावली, पृ.112

[158] विजयदेव नारायण 'साही' – जायसी, पृ.102

[159] रामविलास शर्मा – परंपरा के मूल्यांकन, पृ.75

[160] वही, पृ.97

[161] नामवर सिंह – छायावाद, पृ.79–80

[162] वही, पृ.80

[163] नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ.72

[164] दूधनाथ सिंह – निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ.177

[165] केदारनाथ अग्रवाल – जो शिलाएँ तोड़ते हैं, पृ.40

[166] वही, पृ.64

[167] वही, पृ.93

[168] वही, पृ.112

[169] वही, पृ.113

[170] वही, पृ.114

[171] वही, पृ.115

[172] वही, पृ.116

[173] केदारनाथ अग्रवाल – कहें केदार खरी–खरी, (भूमिका से), पृ.12

[174] नागार्जुन – हजार–हजार बाहों वाली, पृ.44

[175] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ, (सं. नामवर सिंह), पृ.60

[176] वही, पृ.36

[177] त्रिलोचन – ताप के ताए हुए दिन, पृ.51

[178] त्रिलोचन – दिगंत, पृ.17

[179] गोबिन्द प्रसाद (सं.) – त्रिलोचन के बारे में, पृ.9

[180] वही, पृ.9–10

[181] वही, पृ.10

[182] त्रिलोचन – दिगंत, पृ.12

[183] त्रिलोचन – फूल नाम है एक, पृ.98

[184] त्रिलोचन – ताप के ताए हुए दिन, पृ.54

[185] त्रिलोचन – अरधान, पृ.31

[186] समय साम्यवादी 'दूसरा सप्तक', पृ.102

[187] शमशेर – कुछ और कविताएँ, पृ.28

[188] विजय बहादुर सिंह (सं.) जन–कवि, पृ.241

[189] मुक्तिबोध – चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ.38

[190] वही, पृ.258

चौथा अध्याय

प्रगतिशील कविता और प्रकृति सौंदर्य

4.1 प्रगतिशील कविता में प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण

4.2 प्रगतिशीलता और प्रकृति–रूपों का संबंध

4.3 प्रगतिशीलता तथा प्रकृति बनाम टैक्नालॉजी

4.4 प्रगतिशील कविता में प्रकृति के विविध धरातल

मनुष्य, प्राचीन समय से ही प्रकृति का पुजारी रहा है। मनुष्य प्रकृति के प्रति आस्थावादी व भोगवादी दोनों दृष्टि रखता है। यही दोनों कारण मनुष्य में प्रकृति के प्रति आसक्ति पैदा करते हैं। उसका प्रकृति से असीम प्रेम और अटूट संबंध रहा है। यहाँ तक कि प्राचीन समय में ईश्वरीय बुद्धिद्वेववादी व्यवस्था के अंतर्गत देवताओं का भी विभाजन था। मनुष्य का प्राचीन समय में जंगलों में बसेरा था, वह पूर्णतः प्रकृति पर ही निर्भर था। वह उसकी पूजा भी करता था और उसी से अपने जीवन–यापन की वस्तुएँ भी प्राप्त करता था। इसी समय अनेक प्राकृतिक देवताओं का जन्म हुआ, क्योंकि प्रकृति ही मनुष्य की दिनचर्या का नियामक व नियंत्रणकर्ता थी। जैसे–जैसे समय बदलता गया और नगरीकरण आता गया वैसे–वैसे मनुष्य जंगलों से नगर में रहने लगा। इस तरह प्रकृति के प्रति मनुष्य का पहले जैसा दृष्टिकोण नहीं रहा। अतः इन प्राकृतिक देवताओं का भी लोप होता चला गया और मनुष्य ने अपने स्वार्थ की खातिर प्रकृति का भी हनन शुरू कर दिया।

आधुनिक वैज्ञानिक दौर ने प्रकृति को विनाश के कगार पर पहुँचा दिया, परंतु संस्कृत काव्यशास्त्र से लेकर आधुनिक हिंदी काव्य तक कवियों ने प्रकृति को यथोचित अपने काव्य में जगह एवं सम्मान दिया। वैसे समयानुसार प्रकृति का रूप काव्य में बदलता रहा है।

प्रगतिशील कविता में प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण

प्रकृति से मानव का प्राचीन समय से अटूट संबंध रहा है। मानव का मानवीय बोध प्रकृति से जुड़ा है। सभी प्राणियों में मानव एक मात्र ऐसा प्राणी है; जो प्रकृति के प्रति अति संवेदनशील रहा है। वास्तव में मनुष्य का अस्तित्व प्रकृति से ही है। प्रकृति से आम आदमी का लगाव ही नहीं बल्कि वैज्ञानिक और सभी वर्गों का इसके प्रति लगाव रहा है। प्रकृति के प्रति मनुष्य इतना संवेदनशील है

कि अब उसके प्रकृति से संबंध स्वाभाविक नजर आते हैं। प्रकृति और मनुष्य के स्वाभाविक संबंधों को लेकर ही डा. रामविलास शर्मा ने लिखा है –

"कहीं भी अब तक कोई ऐसा बड़ा मानव प्रेमी नहीं हुआ, जो प्रकृति का भी प्रेमी ना रहा हो।"[1]

आदिकालीन कविता से ही कविता में प्रकृति अपना स्थान बनाती आ रही हैं, परंतु छायावादी कविता में प्रकृति का एक अलग रूप देखने को मिलता है। जब सामाजिक रूढ़ियों और साम्राज्यवादी शक्तियों ने व्यक्ति को बंधनों के जाल में जकड़ दिया तो कवि ने प्रकृति की गोद में ही स्वतंत्रता की सांस ली। इसलिए प्रकृति छायावादी काव्य में स्वतंत्रता के प्रेरक रूप सामने आयी। मनुष्य पर जब भी संकट आता है तो वह प्रकृति का ही सहारा लेता है या प्रकृति की कोख में जाकर छिपता है।

प्रगतिशील काव्य प्रकृति के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखता है। अजय तिवारी के शब्दों में कहें तो – "काव्य में यह निषेधात्मक प्रतिक्रिया नहीं है। उसका काव्य बोध अधिक वैज्ञानिक और जीवनोन्मुख है।"[2]

प्रगतिशील कविता में प्रकृति का जो स्वच्छंद एवं सुंदर रूप हमारे सामने आता है, उसका एक कारण उन्होंने प्रकृति के उद्दीपन रूप को काव्य में जगह कम दी है – "प्रगतिशील कविता में प्रकृति चित्रण की मुख्य विशेषता यह है कि उसमें प्रकृति को उद्दीपन के रूप में सहज स्वाभाविक रूप में आकर्षित करती है, जीवन पर प्रभाव डालती है उसमें हमारी आस्था को दृढ़ करती है। बार–बार हमारे जीवन की याद दिलाती है। इसलिए वह परिपाटी निर्वाह के रीतिवाद से भी भिन्न है। वह छायावाद की भांति प्रकृति की विराट शक्तियों से भी अक्रांत नहीं है।"[3]

वस्तुतः ऐसा नहीं है कि प्रगतिशील कविता में विराट भावना नहीं; बल्कि विराटता के साथ–साथ स्वतंत्रता की भावना भी प्रबल रूप में अभिव्यक्त हुई है। नागार्जुन की 'सिंधनद' कविता में स्वतंत्रता की भावना का उद्‌घोष है –

"हम पराधीन तुम हो स्वतंत्र / सिखलाओ जाओ नया मंत्र
हे हिमगिरि के साकार भाव / डूबे ने हमारी भरी नाव।"[4]

शायद ही इससे भव्य प्रकृति के माध्यम से स्वतंत्रता की भावना का अलख कहीं पर ही मिले। कवि प्रकृति से ही स्वतंत्रता का मंत्र जानना चाहता है। कवि का आस्था भाव प्रकृति के प्रति है – "डूबे ने हमारी नाव।" भरी नाव और कुछ नहीं संपूर्ण भारतीय समाज है, जो आज भी अपने मूलभूत अधिकारों से वंचित है। वह शोषक शक्तियों से मुक्ति चाहता है, जमींदारों से मुक्ति चाहता है। साम्राज्यवाद के शोषण से 'सिंधनद' और 'हिमगिरि' शब्द यहाँ पर स्वतंत्रता और विराट भावना के प्रतीक हैं।

'पुरानी जूतियों का कोरस' में नागार्जुन ने रंग–बिरंगी प्रकृति की स्वाभाविकता और कोमलता का चित्र प्रस्तुत किया है –

"रंग बिरंगी फूलों वाली / हरियाली से ढकी पहाड़ी
देवदारू की सरो–चीड़ की / कोसों फैली हुई कतारें
उन ऊँचे हिमालय शिखरों के / अद्‌भुत और विचित्र नजारें
इन दृश्यों के बीच बैठ जब।"[5]

प्रगतिशील कवियों का प्रकृति–चित्रण मानव–प्रेम के साथ–साथ समाज प्रेम के रूप में ही विस्तार पाता है। उसका प्राकृतिक सौंदर्य कवि के आस–पास के लोक का ही चित्र प्रस्तुत करता है। गाँव के पेड़–पौधों, खेत–खलिहानों को ही अंकित करता है।

प्रगतिशील कवि त्रिलोचन 'आँखों के आगे' कविता में जीवन और प्रकृति के सादृश्य विधान के माध्यम से मानव जीवन को पुष्ट करता है –

"हरा–भरा संसार है आँखों के आगे
ताल भरे हैं खेत भरे हैं / नयी–नयी बालें लहरायें
झूम रहे वे धान हरे है / धरती की झीनी मन्जरियाँ
खेल रही है खेल लहरियाँ /
जीवन का विस्तार है आँखों के आगे।"[6]

मानव जीवन का विस्तार प्रगतिवादी कविता में ही अधिक गहराई के साथ समाया हुआ है। मानव का जीवन प्रकृति से अनंत समय से जुड़ा चला आ रहा है और इस प्रकृति का मूल्य बोध जितना काव्य ने बढ़ाया उतना अन्य कलाओं ने नहीं।

प्रगतिशील कविता में मानव निरपेक्ष प्रकृति का वर्णन बहुत कम मिलता है। उसका संदर्भ मानवीय है। वह मानव की उपज है; क्योंकि प्रगतिशील काव्य का निर्माण मानव–चिंतन को लेकर हुआ है। इसलिए इन कवियों ने प्रकृति का सहारा भी इसी संदर्भ में लिया। अगर प्रकृति इनके काव्य में है तो वह प्रेरणा रूप में उपस्थित होती है, अधिकतर कवि खेत–खलिहानों से जुड़कर ही बात करता है। अगर कहीं पर 'हिमालय' या 'सिंधुनद' का वर्णन आता है तो वह मानव–मुक्ति के प्रतीक रूप में उपस्थित होते हैं और मानव मुक्ति के लिए संघर्ष करते नजर आते हैं। इन कवियों का मुख्य प्रयोजन प्रकृति के माध्यम से हो या अन्य किसी माध्यम से, मूलतः उसका आह्वान मानव स्वतंत्रता से ही है –

"अगणित कुंज है आम्रकूट की घाटियों में
करती होगी विहार जंगली तरूणियों
रुक जाना तुम भी वहाँ घड़ी भर
बरसने से बदन को चुकेगा हल्का / अब और आगे बढ़ना।"[7]

प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ने का आह्वान प्रकृति के माध्यम से छायावादी कविता में भी है और प्रगतिवादी कविता में भी। प्रगतिवादी कविता में प्रकृति पूर्णरूपेण मानव की सहचरी व प्रेरणा बनकर आयी है। प्रकृति मानव जीवन से

इतनी गहनता से जुड़ी है कि उसे अपने स्वस्थ जीवन को जगाने और उनका व्यापक विस्तार करने के लिए प्रकृति का सहारा लेना पड़ता है। प्रगतिशील सभी कवियों के साथ प्रकृति उनकी संवेदना की विशद् समीक्षा करती है।

मनुष्य का जीवन परिवार से शुरु होकर गाँव, जनपद, नगर एवं जातीय प्रदेश व देश तक पहुँचता है – "प्रगतिशील कवियों की सौंदर्य दृष्टि का वैशिष्ट्य यह है कि उसने व्यक्तिगत स्नेह संबंधों को व्यापक भाव–भूमि पर रूपायित किया है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि अपने ग्राम, जनपद व प्रदेश आदि की प्रकृति से प्रेम प्रगतिशील कविता के देश प्रेम और मानव प्रेम की ही अभिव्यक्ति है।"[8]

प्रगतिशील काव्य में प्रकृति का समय और परिस्थितियों के साथ–साथ वर्णन हुआ है। सभी कवियों का प्रकृति के प्रति अलग–अलग दृष्टिकोण है। शमशेर का प्रकृति के प्रति अलग नजरिया है तो मुक्तिबोध प्रकृति के प्रति अलग दृष्टिकोण रखते हैं। मुक्तिबोध के काव्य में प्रकृति की यह विशेषता है कि उनके काव्य में प्रकृति का पुराना रूप बिम्ब एवं प्रतीक के रूप में सामने आते हैं। शमशेर ने अपनी कविता में पारिवारिक संवेदनाओं के धरातल पर प्रकृति को उकेरा है। 'उषा' का चित्र –

"प्रातः नभ का बहुत नीला शंख जैसे
भोर नभ का। (राख से लीपा हुआ चौका)
अभी गीला पड़ा है/बहुत काली सिल जरा–से लाल केसर से
कि मानो धुल गई।"[9]

शमशेर का प्रकृति चित्रण परंपरा से मुक्ति का आह्वान करता नजर आता है। वे प्रकृति के माध्यम से अपनी दर्द भरी संवेदनाओं को व्यक्त करते हैं। समाज की स्थितियों का भी परिचायक है। शमशेर की कविताओं में प्रकृति अपने सहज रूप में उपस्थिति का आभास कराती है जो जन चेतना से जुड़ाव लिए हुए है –

"आठ पहर के टिप–टिप / सड़क भीग गई हैं
पेड़ों के पत्तों से बूंदे / गिरती हैं टप्–टप्–टप्
हवा सरसराती है / चिड़िया समेटे पंख यहाँ वहाँ बैठी हैं
ऐसे लोग आते हैं जाते हैं / जो काम टाल नहीं सकते
किसी तरह।"[10]

प्रकृति मूलतः मानव पर केंद्रित है। प्रकृति का जो चित्रण त्रिलोचन ने 'सड़क भीग गई है ... ऐसे लोग आते–जाते हैं... जो काम टाल नहीं सकते। आम आदमी जिसके लिए मजदूरी अनिवार्य शर्त है। मौसम कैसा भी हो ऐसा आम आदमी का चित्रण त्रिलोचन की कविता में ही मिल सकता है, क्योंकि मौसम के अपने अनुकूल नहीं होने पर भी आम आदमी की यह नियति बन गई है। उसे अपना पेट भरने के लिए काम पर जाना ही पड़ता है।

त्रिलोचन के काव्य में प्राकृतिक माध्यम से दर्शन भी समाया हुआ है –

"साँसे फिसलती हैं / समय की / भूमि पर।"[11]

त्रिलोचन ने प्रकृति को मनुष्य की अंतरंग उपज बताया है जिस प्रकार –

"उषा की / आभा जाल के भीतर / घुलती है।"[12]

इसी प्रकार प्रकृति का सौंदर्य भी मनुष्य के अंतरंग ही है, लेकिन प्रमुख बात यह है कि कविता फिर भी प्रकृति के उद्दीपन रूप से बच जाती है। इन कवियों के प्रकृति चित्रण का उद्देश्य लोक के साथ सामंजस्य है, इनके यहाँ प्रकृति के माध्यम से कविता में आम भारतीय लोगों के जीवन की झांकी दिखाई देती है। चाहे व्यक्तिगत प्रेम का चित्रण हो या सामाजिक प्रेम का, त्रिलोचन का प्रकृति प्रेम सहज, स्वाभाविक ही है।

प्रकृति का अंदाजे–बयाँ केदारनाथ अग्रवाल की कविता में दूसरे रूप में है; क्योंकि केदारनाथ अग्रवाल मूलतः रूमानी कवि है। प्रकृति का चित्रण उनकी नैतिकता व अनैतिकता के सवाल के बजाय वह प्रकृति को सौंदर्य की दृष्टि देखते

हैं। केदारनाथ अग्रवाल का मानना है कि – "सौंदर्य नैतिक व अनैतिक से परे होता है। नैतिक होकर ही आदमी ने सौंदर्य देखा और पाया है। जब बिजली चमकती है तो कटाक्ष करती है, और नैतिक–अनैतिक कुछ नहीं होता। तब–तब आदमी कटाक्ष से विभोर होता है।"[13]

केदारनाथ अग्रवाल का सौंदर्य वैभव उनकी प्रकृति संबंधित कविताओं में ही है। उनकी प्रकृति स्वतंत्र है। वह प्रकृति के स्वतंत्रता के हिमायती हैं। कवि प्राकृतिक स्वतंत्रता प्रेमी हैं, उनका प्रकृति–बोध लोक चेतना एवं जन–चेतना से जुड़ा है। केदारनाथ अग्रवाल प्रकृति को एक चित्र के रूप में देखते हैं। यह विशेषता शमशेर में भी मिलती है। केदारनाथ अग्रवाल एक दो कदम शमशेर से आगे हैं। लोक–जीवन और प्रकृति से संबंधित प्रगतिशील कविता के संदर्भ में रामदरश मिश्र का वक्तव्य है कि – "प्रगतिवाद ने प्रकृति के क्षेत्रों में बिखरे असीम जीवन उत्साह को देखा है। प्रकृति का एकांत रूप नहीं, जनसंकुल जीवन का रूप उसे पसंद आया। गाँव खेत–खलिहान विविध मौसम नदी नाव, आस–पास के परिचित पेड़–पौधे प्रगतिवादी काव्य के उपकरण हुए हैं। प्रगतिवादी कवि दूर की किसी काल्पनिक वन्य छवि में नहीं भटकता, वह अपने गाँव या नगर के बीच और आस–पास फैले हुए जाने–पहचाने प्राकृतिक सौंदर्य और उसके माध्यम से सामाजिक जीवन के हर्ष–विषाद को चित्रित करता है।"[14]

प्रगतिशील कवियों की विशेषता है कि वह प्रकृति में प्रवेश करके ही प्रेम की व्यंजना करता है, जैसे –

"तुम हो / दिन में / सूर्यमुखी नदी की
नटखट देह / खुश मिजाज धूप / तुम हो /रात में
गुलाब–फूलों की नाव / चाँदनी के चुम्बनों की /
कल हंसी देह / बांहों में बिछलती / नाचती
स्वप्न मयूरी तरंग।"[15]

केदारनाथ अग्रवाल की कविता में प्रकृति का रूप बड़ी जीवंतता के साथ उपस्थित है। उनकी एक खास विशेषता है कि जो प्रकृति उनके काव्य में है वह अधिकतर किसानों की खेतों की प्रकृति है जो गाँव के आस–पास दस्तक देती है। और उसकी सामाजिक भावना को अभिव्यक्त करती है जैसे कवि के गेंहूँ को ही देखा जा सकता है –

"आर–पार चौड़े खेतों में / चारों ओर दिशाएँ घेरे
लाखों की अगणित संख्या में / ऊँचा गेंहूँ डटा खड़ा है
ताकत की मुट्ठी बांधे है / नोकीले भाले ताने है।
हिम्मत वाली लाल फौज–सा / मर मिटने को घूम रहा है।"[16]

मुक्तिबोध की कविताओं में उनका लोक प्रकृति के माध्यम से आया है। वे प्राचीन प्रकृति के माध्यम से नये लोक की कल्पना करते हैं, जिसका संदर्भ या तो मध्यम वर्ग से जुड़ा है या शोषित वर्ग से। 'लकड़ी का बना रावण' में कवि ने वर्ग विभाजन में गुणात्मक व परिणात्मक अंतर बताया है, जैसे –

"दीखता / त्रिकोण इस पर्वत शिखर से
अनाम अरूप और अनाकार / असीम एक कुहरा
भस्मीला–अंधकार / फैला है कटे–फटे पहाड़ी प्रसारों पर
लटकती है मटमैली / ऊँची–ऊँची लहरें
मदानों पर सभी ओर।"[17]

कविता में प्रकृति फैंटेसी का रूप धारण कर लेती है –

"कंदरा–गुहाओं को तालों को
वृक्षों के मैदानी दृश्यों के प्रसार को
अकस्मात / दोनों हम / मैं व शून्य
देखते कि कम्बल की कुहरीली लहरें
हिल रहीं, मुड़ रहीं।"[18]

मुक्तिबोध के काव्य में प्रकृति चित्रण का उतना सहज और स्वाभाविक चित्रण नहीं है। यहाँ पर प्रकृति बिंब, एवं प्रतीक रूप में और फैंटेसी के रूप में

सामने आती है। अन्य प्रगतिवादी कवियों का प्रकृति चित्रण उतना जटिल नहीं है; जैसा मुक्तिबोध के यहाँ मिलता है।

प्रगतिवादी कवियों के संपूर्ण काव्य में प्रकृति के माध्यम से समाज की ही अभिव्यक्ति है; उसमें ग्राम–जीवन समाया हुआ है। यहाँ प्रकृति को जीवन संघर्ष से जुझता हुआ दिखाया गया है, वह कवि को प्रेरणा देती है, शोषक शक्तियों से लड़ने के लिए प्रेरित करती है। प्रकृति सहज व स्वाभाविकता के साथ–साथ अपनी विराटता के साथ उपस्थित है। प्रकृति का संपूर्ण सौंदर्यांकन समाज के सौंदर्य के लिए है। कवि को प्रकृति के सौंदर्य के लिए समाज या अपने ग्राम से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। कवियों ने अपने आस–पास की प्रकृति का ही मानवीकरण करके संवेदनशील और जीवंत बना दिया है। यह विशेषता प्रगतिशील कवियों के अलावा नहीं देखी जाती। प्रगतिशील कवियों के काव्य में प्रकृति अनेक मुद्राओं में उपस्थित है।

प्रगतिशीलता और प्रकृति रूपों का संबंध

सौंदर्य का क्षेत्र मुख्यतः प्रकृति को माना गया है। जब इस बात को हम प्रगतिशील कवियों के संदर्भ में करते हैं तो यह बात और भी सत्य हो जाती है। इन कवियों की जो सामाजिक सौंदर्य भावना काव्य में प्रकट होती है; उसका मुख्य आधार प्रकृति ही बनी है। इन कवियों की प्रकृति–पर्यवेक्षण–प्रतिभा यथार्थ को आत्मसात कर सुंदर प्राकृतिक दृश्यों की नियोजन करने में सफल है। ये कवि अनुभूतिजन्य चित्रों को खींचने में सफल हुए हैं। केदारनाथ अग्रवाल का प्रकृति के संबंध में वक्तव्य है कि – "मैंने प्रकृति को चित्र रूप में देखा है उसके संपर्क में मुझे जीने के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ा। अतएव प्रकृति का मेरा निरूपण चित्रोपम निरूपण है। उसमें कलाकारिता है। शब्दों का सौंदर्य है। ध्वनियों की धारा है, कहीं–कहीं क्लासकीय अभिव्यक्ति है।"[19]

नागार्जुन की कविता प्रकृति सौंदर्य के माध्यम से जीवन को जैसे परिभाषित करती नजर आती है। कविता अपने–आप प्रकृति के माध्यम से कई रूपों को धारण करती चली जाती है। डा. गोबिन्द प्रसाद जी का मंतव्य है कि – "नागार्जुन की प्रकृतिपरक कविताओं और गीतों की भी कमी नहीं है प्रकृति में सबसे अधिक कवि को बादल आंदोलित करते हैं और हिमालयीन प्रकृति तो जैसे कवि की प्रकृति कविताओं में चार चाँद लगा देती है। अमल–धवल गिरि के शिखरों पर बादल को घिरते देखा या अमल–धवल के गिरि शिखरों पर। प्रियवर तुम कब तक रोए थे या उन पुष्करावर्त मेघों का साथी बनकर उड़ने वाले जैसे पंक्तियों को देखकर लगता है कि घन–कुरंगो के बीच सब भूल जाता है प्रकृति–चित्रण में भी नागार्जुन के यहाँ पर्यटक भाव की उपेक्षा ठेठ किसानों और यथार्थवादी रूझान ही अधिक मिलेगा।"[20]

नागार्जुन की कविता में प्रकृति प्रेम कवि की आत्मा से उत्पन्न होता है। इनके यहाँ प्रकृति जीवन से साक्षात्कार करती नजर आती है। ऐसा लगता है कि जीवन का अस्तित्व प्रकृति से ही जुड़ा है। नागार्जुन की कविता में प्रकृति ही 'पावस' के आगमन की सूचना देती है। हवा भी अविरल गति से, जीवन की तरह लगातार चलती रहती है। कवि ने पवन का बहुत ही सुंदर मानवीकरण रूप प्रस्तुत किया है–

"उड़ी जा रही नील गगन में / पवन–पंख पर विमल वलाका
मानो विस्तृत कालिंदी के / श्याम सलिल में अवरिल गति से
बहती चली जा रही है कोई /खेत सहस्र पत्र–पद्मों की
बनी बनाई लम्बी माला / पावस की आगमन सूचना
देने आई प्रकृति सुंदरी।"[21]

इसी कविता में आगे नागार्जुन ने बादलों का बड़ा मोहित एवं सुहावना वर्णन या चित्र प्रस्तुत किया है –

"हाथी – जैसे झूम–झूमकर / काले बादल उड़े जा रहे
विरही कालिदास के मन में / मेघदूत के ध्यान आ रहे।"[22]

हाथियों से बादलों की उपमा देकर कवि ने यह बता दिया है कि प्रकृति में पेड़–पौधों, वायु का ही स्थान नहीं बल्कि पशु–पक्षियों का भी उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है। प्राकृतिक उल्लास का यह बड़ा ही भव्य चित्र है। परंतु अगली ही पंक्ति में कवि नागार्जुन ने विरही कालिदास के मन की वेदना को कवि ने समाज की वेदना में बदल दिया है। यह ढंग ही समाज से प्रकृति को जोड़कर देखना, इन कवियों को दूसरे कवियों से अलग करता है।

कवि प्रकृति के माध्यम से ही अंधकार को दूर करना चाहता है; क्योंकि अंधेरे के बाद ही सवेरा होता है। नागार्जुन को इसकी अच्छी तरह से समझ है–

"देख चुका हूँ मैं ज्योति निराली / अंधकार में ठोकर खाकर
गिरते–पड़ते ऊपर जाकर / बैठ हिमालय की गोदी में
.....
रात गई अब हुआ सबेरा / दीख रही पूरब में लाली।"[23]

कवि पहले अंधकार में था, परंतु वह सवेरा होते ही अंधकार छट जाता है और फिर –

"ऋतु बसंत का सुप्रभात था / मंद–मंद था अनिल बढ़ रहा
बालारूण की मृदु किरणें थी/अगल–बगल स्वर्णाभ शिखर थे।"[24]

सूर्योदय के साथ ही कवि के जीवन में बसंत का आगमन हो जाता है, मंद–मंद हवा का बहना मानों प्रकृति पूरी सृष्टि में अपनी मिठास घोल देना चाहती है।

प्रगतिशील कवि नागार्जुन की कविता में प्रकृति का चित्रण एक संगिनी, प्रकृति का कोमल रूप, प्रेरणा रूप ही अधिकांश सामने आते हैं; जो समाज की यथार्थ परतों को खोलता चला जाता है।

संपूर्ण सृष्टि को प्रकृति अपनी तरह स्वच्छ करना चाहती है। 'रजनीगंधा' कविता में 'रात की रानी' का चित्र बड़ा ही भव्य बन पड़ा है। कवि को अपने जीवन पर म्लान नहीं है परंतु वह बंदी जीवन में भी प्रकृति को खिलते देखना चाहता है; क्योंकि वह उसके प्रेम का माध्यम है –

"तुम खिलो रात की रानी
हो म्लान भले यह जीवन और जवानी
तुम खिलो रात की रानी।"[25]

नागार्जुन की सुबह के प्रकृति–चित्रण के बारे में डॉ. गोबिन्द प्रसाद जी का वक्तव्य है – "सुबह–सुबह कविता जिस क्रमबद्धता और उत्कर्ष के साथ टटका चित्र उपस्थित करती है वैसा साहित्य में कम मिलेगा, अभिधा के स्तर पर यह कविता अपनी बात कहती हुई सुबह के कई रूप दिखाती है गाँव की सुबह का यह चित्र देखिए –

"सुबह–सुबह
आंचलिक बोलियों का मिकस्चर
कानों की इन कटोरियों में भर कर लौटा
सुबह–सुबह।"[26]

शायद ही लोक–जीवन का इतना भव्य दृश्य अन्य कवियों की कविता में हो। केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में प्रकृति अधिकांशतः रमणीय नारी के रूप में अंकित है। केदारनाथ अग्रवाल की प्रकृति चित्रशाला है। केदार ने स्वयं स्वीकार किया है कि – "मैंने प्रकृति को चित्र रूप में उसके सम्पर्क से मुझे जीने के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ा। अतएव प्रकृति को मेरा निरूपण चित्रोपम सौंदर्य है। उसमें कलाकारिता है। शब्दों का सौंदर्य है। ध्वनियों की धारा है, कहीं–कहीं क्लासकीय अभिव्यक्ति है।"[27]

केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में प्रकृति सुंदर नारी के समान है जो नाव के समान बहती हुई–सी दृष्टिगोचर होती है –

"सहज खोले अतीन्द्रिय सुगंध के केश
टिमकते प्रकाश का पाल ताने प्रकृति
चलती चली जा रही है विस्मरण में
बही हो जैसे किसी की कोई नाव।"[28]

केदारनाथ अग्रवाल को धूप बहुत प्रिय है; क्योंकि वह अंधकार को समाप्त कर आलोक का विकीर्ण करती है। यहाँ कवि की दृष्टि सामाजिक है, इसलिए कवि धूप का प्रफुल्ल हृदय से स्वागत करता है –

"धूप धरा पर उतरी / जैसे शिव के जटाजूट पर
नभ से गंगा उतरी / धरती भी कोलाहल करती
तम से ऊपर उभरी / धूप धरती पर बिखरी।"[29]

संध्या का आगमन होता है। इस समय अम्बर गींजे गये कपड़ों सा उतारा हुआ लगता है। धूप की अवस्था में देशकाल के धुंधलेपन को लिए हुई शाम को देख कवि का हृदय सिहरता है, किंतु शाम ढलने पर डूबते हुए सूरज के अपराजित प्रकाश को देखकर कवि प्रसन्न हो उठता है –

"खुल कर फैल रहा है अब / सविस्तार
श्याम केश भार / चकित कर रहा है अब भी
जल में जीवित/ डूब गए सूरज का / अपराजित प्रकाश।"[30]

रात का चित्रांकन –

"अंधकार की चुप्पी में बंधे हुए जूड़े–सी चुप
'त्रियामा' रात की स्थिति ऐसी ही होती है
रात है रात, अंधी रात
और कोई कुछ नहीं है बात।"[31]

बसंती हवा का चित्र –

"हँसी जोर से में हँसी सब दिशाएँ
हँसे लहलाते हरे खेत सारे
हँसी चमचमाती भूरी धूप प्यारी

बसंती हवा में हंसी सृष्टि सारी
हवा हूँ हवा, में बसंती हवा हूँ।"[32]

जहाँ पर कवि ने हवा का भी इतना भव्य चित्र प्रस्तुत किया है; वहीं दूसरी ओर कवि ने हवा के रौद्र रूप को भी अपनी कविता में जगह दी है –

"मैं घोड़ों की दौड़/ बनों के सिर पर तड़–तड़ दौड़ा
पेड़ बड़े से बड़ा / चिरौंटे–सा चिल्लाया चौंका
पत्रों के पर फड़–फड़ उलटे–उखड़े टूटे
मौन अंधेरे की डालों पर / सांड पठारी घूटे।"[33]

केन नदी से कवि का बचपन का रिश्ता है, उसी के साथ कवि बड़े हुए हैं, जो बुढ़ापे में भी साथ है –

"बैठा हूँ इस केन किनारे / दोनों हाथों में रती है
होड़ राज्यश्री से लेती है / मोद–मुझे रेती देती है
.....
मैं भी उज्ज्वल भाग्य निखारे / बैठा हूँ इसके किनारे।"[34]

इसी प्रकार केदारनाथ अग्रवाल ने समाज में सुख–दुख के साथ–साथ समाज के जन–जन में नव चेतना विकसित करने का प्रयास किया है –

"छाँह की छुतरी फटी / आलोक बरसा
अब मिला जिसके लिए / मैं नित्य तरसा।"[35]

त्रिलोचन की कविता में प्रकृति की निर्मलता के साथ–साथ छायावादी प्रभाव भी देखा जा सकता है, जैसे –

"पेड़ों के पल्लव से ऊपर / उठता धीरे–धीरे ऊपर
अंधकार चंद्रिका का स्नात / तकओं पर जैसे पारा।"

प्रकृति की निर्मलता –

"धूप सुंदर / धूप में जगरूप सुंदर / सहज सुंदर।"[36]

त्रिलोचन को धूप, केदारनाथ अग्रवाल के समान सुंदर एवं सुहावनी लगती है, धूप में जग भी सुंदर दिखाई देता है। त्रिलोचन ने जहाँ प्रकृति की सहज छवि का चित्र उभारा है वहीं प्रकृति का भयंकर रूप भी काव्य में चित्रित है –

"भारी रात भादों की – पथ – लपका व कौंधा
दीप्ति भर उठी आंखों में इतनी फिर हम तुम
कुछ भी पकड़ सके न ठीक से, छाया चौंधा
तड़–तड़, तडत्तड़ाड, धाइ थ्राड़ धुड़–धुड्म्।"[37]

त्रिलोचन ने अधिकांश अपनी कविताओं में आस–पास की प्रकृति को ही देखा है जो हमारे सामने समाज का यथार्थ रूप पेश करती है –

"घिर आए बादल वसंत में याद तुम्हारी
आई आपा भूला खोज भरी आंखों में
गेंहू जौ के ऊपर सरसों की रंगीनी
छाई है, पछुआ आ–आकर इसे झुलाती है।"[38]

शमशेर का प्रकृति चित्रण मनुष्य से रिश्ता जोड़ती नजर आती है। यहाँ प्रकृति–चित्रण द्विवेदी युग व छायावादी युग की प्रकृति से अलग तरह की प्रकृति है। यहाँ पर प्रकृति मनुष्य की भावनाओं का दर्पण नहीं है बल्कि दोनों में परस्पर संवाद की स्थिति है। शमशेर की 'राग' शीर्षक कविता का अंश है –

"मैंने शाम से पूछा / या शाम ने मुझसे पूछा
इन बातों का मतलब / मैंने कहा
शाम ने मुझसे कहा / राग अपना है।"[39]

प्रकृति और मानव प्रेम दोनों अनयोन्याश्रित है। एक–दूसरे के सहायक हैं। दोनों में ही परस्पर संबंध है। इस संसार में सभी चीजें एक–दूसरे से जुड़ी हैं, पृथ्वी, आकाश, पेड़–पौधे, मनुष्य–जानवर, नदी–पहाड़ सभी में परस्पर जुड़ाव है, सभी अपने संबंधों में संपूर्ण हैं। निर्मल वर्मा का कथन है कि – "जब कभी मैं

जंगल में घूमता हूँ तो मुझे लगता है कि जहाँ मैं पेड़–पौधों को देख रहा हूँ वहाँ पेड़ मुझे देख रहे हैं।"[40]

"एक पीली शाम / पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता
शांत / मेरी भावनाओं में तुम्हारा मुख कमल
अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आंसू
सांध्य तारक–सा / अतल में।"[41]

इस संदर्भ में रामस्वरूप चतुर्वेदी का यह प्रश्न बहुत प्रासंगिक लगता है कि– "क्या एलियट यह स्पष्ट कर सकते हैं कि कविता में यहाँ अनुभव क्या है और आब्जैक्टिव कोरिलेटिव क्या है – 'अटका हुआ पत्ता या कि अटका हुआ आंसू। यह मनुष्य और प्रकृति का संश्लिष्ट रूप है, कविता में अर्थ की परते हैं, जिनमें से ध्वनिशास्त्रियों की शब्दावली को नकराते हुए न कोई अर्थ की परते हैं और न कोई 'व्यंग्यार्थ' यह कुल अर्थ संश्लेष है, जो अटके हुए आंसू के बिम्ब से गतिशील है।"[42]

परंतु यहाँ कवि का विशिष्ट भावबोध भी है जो प्रकृति और मनुष्य को एक–दूसरे के साहचर्य में ही देखने का अभ्यस्त है। शमशेर की कविताओं में मनुष्य प्रकृति सहचर है –

"कमरे में आया / शाम का कोमल अंधियाला
दीवारों पर, छत पर चुप–चाप / कुहरे से काला कुछ
उदास मन छाया / मेरे सूने घर में
धीरे–धीरे डूबा / उसका मन
मैं भी कहाँ कौन जाने कब
बैठा उस तम की मिट्टी में / उसके संग समाया।"[43]

कालिदास की प्रकृति भी आत्मीय है; जितनी आंतरिक है, उतनी ही बाह्य। मात्र शोभा के लिए नहीं; न मन बहलाने के लिए और ना ही साज–सज्जा के लिए। वह तो मनुष्य की आध्यात्मिक प्रतिछाया है, कालिदास की प्रकृति और पुरुष

एकात्म है। आधुनिक हिंदी साहित्य में सच्चा उत्तराधिकारी शमशेर को ही ठहराया जा सकता है –

"प्रेम नभ का मैं जलद हूँ / उर मिलने के उपवनों पर
धीर वर्षा राग हूँ मैं / विरह के सूने क्षणों में
स्नेह सागर पार भी / चिर मौन तट की धूल हूँ मैं।"[44]

कालिदास के समतुल्य यहाँ प्रकृति पूरी जीवंतता और संवेदना के साथ उपस्थित है। अपनी स्वाभाविकता में दिल को छू लेने वाली प्रकृति का मोहक बिम्ब शमशेर ने प्रस्तुत किया है –

"प्रातः नभ था बहुत नीला शंख जैसे / भोर का नभ
राख से लीपा हुआ चौका/ अभी गिला पड़ा है
बहुत काली सिल जरा से लाल केसर से
कि जैसे धुल गई है।"[45]

सचमुच इस कविता में जो प्राकृतिक रंगों का अद्‌भुत समायोजन हुआ है वह बेमिसाल है। शमशेर का निजी अनुभव सांसारिक अनुभव है जो उसकी प्राकृतिक कविताओं में देखा जा सकता है।

कवि ने सावन में आसमान का रंगीन चित्र बड़ा मोहक एवं सुहावना खींचा है –

"मौन गुलाबी सलक
एकाएक उभर कर ठहरी, फिर मद्धम होकर मिट गई
जैसे घोल गया हो कोई गंदले जल में
अपनी हलकी मेंहदी वाले हाथ।"[46]

और कभी कवि को लगता है –

"पूरा आसमान का आसमान है / एक इंद्रधनुषी ताल
नीला सांवला हलका गुलाबी / बादलों का धुलां
पीला धुआं / मेरा कक्ष दीवारों किताबें में, सभी
इस रंग में डूबे हुए से / मौन।"[47]

चन्द्रोदय का दृश्य –

"चाँद निकला बादलों से पूर्णिमा का / गल रहा है आसमान
एक दरिया उमड़कर पीले गुलाबों का
चूमता है उमड़कर पीले गुलाबों का
चूमता है बादलों के झिलमिलाते / स्वप्न जैसे पांव।"[48]

और कवि को महसूस होता है –

"एक नीला आइना / बैठास–सी यह चाँदनी
और अंदर चल रहा हूँ मैं / उसी के महातल के मौन में
मौन में इतिहास का / कन, किरन जीवित एक बस।"[49]

शमशेर प्रकृति के साहचर्य में इसी प्रकार महसूस करते हैं मानो – "पूरा विश्व चाँदनी में मिलकर शीशे का एक चौकोर सा ब्लॉक बन गया हो और वह स्वयं उसके महातल में चल रहा है जैसे किसी साफ पानी के हौज या टब के तल में कोई चींटी रेंग रही हों।"[50]

शमशेर के काव्य में प्रकृति अपने सभी रंगों के साथ उपस्थिति दर्ज कराती है। इसके मूल में कवि का मानव–प्रेम और समाज प्रेम है। प्रकृति अपने अनेक रंगों के साथ मनुष्य को अपने साथ रखती है –

घिर गया है समय का रथ कहीं /
लालिमा से मढ़ गया है राग।"[51]

आदमी और प्रकृति का आपसी रिश्ता बहुत गहरा है। आदमी प्रकृति के पास उस समय जाता है, जब आदमी सामाजिक बंधनों से बंधा होता है। उसके पास जब कोई रास्ता नहीं होता तो वह प्रकृति की गोद में शरण लेता है। प्रकृति और मानव का मां–बेटा वाला रिश्ता है। जब मनुष्य मानसिक एवं शारीरिक दोनों रूपों से बंधनों में बंधा होता है तब एक मात्र प्रकृति ही है जिसकी स्वतंत्रता को देखकर वह अभिभूत हो जाता है। मनुष्य के जीवन में स्वाधीनता, स्वच्छंदता, सभी बंधनों से निजता दिलाने की प्रेरणा के रूप में प्रकृति आती है। मनुष्य की स्वाधीनता की चेतना के रूप में भी आती है। जब बच्चा जन्म लेता है तभी से वह स्वतंत्रता के बंधनों को तोड़ना चाहता है, परंतु सामाजिक बंधनों को उस पर लाद दिया जाता है। तब वह एक खुले पक्षी की तरह आसमान में उड़ना चाहता है; क्योंकि जब–जब मनुष्य पर बंधनों का बोझ डाला गया। तब–तब वह प्रकृति की शरण में गया है। मनुष्य और प्रकृति का संबंध स्वाधीनता से है। केदारनाथ अग्रवाल की एक कविता है –. 'फूलो, फूलो, फूलो, फूलो' जिसमें प्रकृति के माध्यम से बहुत ही सुंदर एवं स्वच्छंद मधुर जीवन जीने की कल्पना है –

"फूलो, फूलो, फूलो फूल।
पंखुरियों के पंखों पर तन तरु के कर के मंजु मुकुर बन
रम्य रूपहले पूर्णचंद्र बन, रजत–कटोरी, दुग्ध धवल बन,
फूलो, फूलो, फूल।"[52]

कविता का भावार्थ है कि मनुष्य को फूलों के जैसा स्वच्छंद खिलना चाहिए। इस प्रकार मुनष्य ने स्वच्छंदता की प्रेरणा प्रकृति से ग्रहण की है।

जो सपने मनुष्य के स्वच्छंदता से जुड़ते हैं वह सभी मानव के, प्रकृति के पास ही पूरे होते हैं। केदारनाथ अग्रवाल की ही कविता में पुरवैया का कितना स्वच्छंद चित्रण हुआ है जो हर गम को भूला देने वाली है –

"कोमल दूब हरी धरती पर / विधुत की शोभा से सज कर
नाच रही युवती पुरवैया / लय में लीन अंचचल हो कर
एक दृश्य हो रही मनोहर / चारु चित्र चंचल पुरवैया

.....

बजते हैं बूंदों के घूंघर / होता है मादक मीठा स्वर
करती है छम–छम पुरवैया /कोमल दूब हरी धरती पर।"[53]

प्रगतिशीलता और प्रकृति दोनों का चोली–दामन का साथ रहा है, क्योंकि प्रगतिशीलता व प्रकृति दोनों ही स्वच्छंदता के हिमायती हैं अर्थात् दोनों का संबंध स्वाधीन चेतना से है। कविता अपने परिवेश की निमित्ति है और उस परिवेश अर्थात् समाज की स्वतंत्रता की प्रेरणा प्रकृति के द्वारा ही आती है। हिंदी कविता में प्रकृति की एक लंबी परंपरा रही है। परंतु प्रकृति की जो वास्तविक स्वाधीनता से युक्त चेतना है वह प्रगतिशील कविता में ही है। जब–जब मनुष्य के पैरों को गुलामी की जंजीरों को जकड़ा गया है, तब–तब मनुष्य प्रकृति के पास जाता रहा है और जाता रहेगा। इसलिए बिना संकोच कहा जा सकता है कि प्रकृति का संबंध प्रगतिशीलता से ही है और प्रगतिशीलता का संबंध प्रकृति से; दोनों का सामानंतर अर्थ है।

छायावाद से प्रगतिशील कविता की प्रकृति भिन्न प्रकार की है। प्रगतिशील कविता में एक रियलिटी, फक्कड़पन, यथार्थ, उल्लास, स्वतंत्रता व समाज से जुड़ी हुई समाज की यथार्थ – धर्मिता का उद्घाटन हैं। छायावादी कविता जैसे स्वप्न–सुंदरी कल्पना रूपी प्रकृति इन कवियों के आंगन में दुर्लभ ही मिलेगी। क्योंकि प्रगतिशील कविता में प्रकृति सामान्य जन से जुड़ी हुई है; इसका एक उदाहरण दृष्ट्व्य है –

"पानी पानी पानी बरसा / पानी बरसा जोर से
हिम है बरसा हिम है बरसा / हिम है बरसा जोर से
सरदी सरदी सरदी सरदी / सरदी ही चहुँ ओर है

मारे सरदी के अब गलता / अँगुली कह हर पोर है।"[54]

प्रकृति की मार का असर सामान्य जन पर ही होता है। उसके पास वह सुख–सुविधाएँ नहीं हैं जो अमीरों के पास में है। इसके विपरीत छायावादी प्रकृति कोमल रूप लिए हुए तो है, परंतु उसका यथार्थ जीवन से संबंध नहीं है जो प्रगतिशील कवियों के पास है; कामायनी से एक उद्धरण दृष्ट्व्य है –

"रविकर हिम खंडों पर पड़कर हिमकर कितने नये बनाता
द्रुततर चक्कर काट पवन भी फिर से वहीं लौट आ जाता
नीचे जलधर दौड़ रहे थे सुंदर सुर–धनु माला पहने,
कंजुर–कलभ सदृश इठलाते चमकाते चपला के गहने।"[55]

इसके विपरीत प्रगतिशील कवियों की प्रकृति आम जन जीवन से जुड़ी हुई है–

"आँख मूँदे, पेट पर सिर टेक / गाय करती है धमौनी बंध जड़ से
पेड़ की छाया खड़ी दीवार पर हैं।"[56]

इन कवियों के आंगन में जो प्रकृति है, वह वास्तविक जीवन को बयाँ करती हैं ऐसा नहीं है जैसे छायावादी कवियों के लिए प्रकृति का उपयोग श्यामसुंदर रूप में या प्रतीक रूप में लाया गया है। हालांकि छायावादी कविता में प्रकृति स्वच्छंछ प्रेम के रूप में जरूर आयी है, परंतु वहाँ प्रेम के चक्कर में पड़कर समाज के यथार्थ से कट जाती है। प्रगतिशील कवियों का प्रकृति प्रेम भी सामाजिक पक्ष की दहलीज पर ही आधारित है –

कुकुडू कूँ / उठो, जल्दी उठो / महुए बीन लो
दखिनहिया जगी / और तारे ढले

शमशेर की कविता प्रकृति के एक रूप का चित्रण नहीं है। जिस प्रकार प्रकृति समान नहीं होती प्रकृति की रफ्तार में शमशेर भीतर तक जाते हैं और तब ही प्रकृति को महसूस करते हैं, प्रकृति की आंतरिक अन्विति को –

"एक नीला दरिया बरस रहा है। और बहुत चौड़ी हवाएँ हैं।
मकान है मैदान। किस कदर उबड़–खाबड़।
मगर / एक दरिया / और हवाएँ मेरे सीने में गूँज रही हैं।"[57]

इसलिए यह बात तो निर्विवाद है कि प्रगतिशील कविता में प्रकृति मनुष्य के साथ–साथ घुल–मिल गई है। नागार्जुन की कविता में प्रकृति यथार्थ जीवन का उद्‌घाटन करती है जो आम जन के बहुत ही करीब है। 'काले–काले' नामक कविता में समाज में अव्यवस्था का ही उद्‌घाटन है –

"काले–काले ऋतु रंग / काली–काली घन–घटा
काले–काले गिरि श्रंग / काली–काली छवि छटा
काले–काले परिवेश / काली–काली करतूत
.....
काली–काली महँगाई / काले–काले अध्यादेश।"[58]

इस प्रकार अगर ध्यान दिया जाए तो प्रकृति का संबंध प्रगतिशीलता से –

"नींद से जाग कर / अब बटोही चले
चिड़िया बोली – / (सुनो। सुनो।।)"[59]

जीवन की जो प्रक्रिया है वह प्रकृति के साथ बंधी है ना कि उससे अलग है। यही अंतर है छायावादी कविता के प्रकृति प्रेम में और प्रगतिवादी कविता के प्रेम में। 'साथी है सैमल पुराना' नामक कविता में प्रकृति का यथावत् वैसा ही चित्रण है जो देने के लिए तत्पर है ना कि आंखों के सौंदर्य विधान के लिए –

"चिड़िया भी आती हैं / ठहरती हैं
खेलती कलोलती हैं / और चली जाती हैं
धूप शीत वर्षा से बचने के लिए / यहाँ
आया ही करते हैं जानवर / जड़ों से रगड़–रगड़कर
देह की खुजली मिटाते हैं।"[60]

शमशेर ने प्रकृति का संबंध जीवन से जोड़ा है –

"चाँद निकला बादलों से पूर्णिमा का
गल रहा है आसमान
एक दरिया उमड़कर पीले गुलाबों का
चूमता है बादलों के झिलमिलाते / स्वप्न जैसे पाँव।"[61]

जो मनुष्य के सुख–दुख में शामिल है। नागार्जुन, केदारनाथ, त्रिलोचन या फिर शमशेर हों, इन कवियों की कविता में प्रकृति आम जन के यथार्थ का उद्‌घाटन करती है। प्रकृति और सामान्य जीवन का अटूट रिश्ता है। यहाँ प्रकृति मात्र आनंद के लिए नहीं बल्कि सामाजिक संघर्ष के रूप में है।

जब हम प्रकृति बनाम टैक्नॉलॉजी का रिश्ता देखते हैं तो एक अजीब सा रिश्ता हमारे सामने आ जाता है। प्रकृति से मनुष्य का रिश्ता बहुत द्वंद्वात्मक रहा है। कभी मनुष्य प्रकृति के पालनकर्ता के रूप में सामने आता है, तो कभी वह प्रकृति को नष्टकर्ता के रूप में सामने आता है। एक तरफ तो मनुष्य बाग लगाता है, दूसरी तरफ जंगल काटता है। मनुष्य का जो भौतिक विकास है, उसको हम तकनीकी रूप में परिभाषित कर सकते हैं। तकनीकी क्षमता से लेश मनुष्य ने उतरोत्तर प्रकृति पर विजय पाना चाहा। मनुष्य के भौतिक विकास ने प्रकृति का दोहन किया है। मनुष्य के भौतिक विकास की एक लंबी कहानी रही है जो प्रकृति के साथ जुड़ी हुई है।

गुफाओं में रहने वाला मनुष्य अपने शुरुआती दिनों में कंद–मूल व कच्चा मांस खाकर गुजर–बसर करता था। जब इसी गुफा में रहने वाले मनुष्य के पास पत्थर घिसने की टैक्नॉलॉजी आ गई तब उसे अपना शिकार करना आसान हो गया और वह अपने नुकीले औजारों से लेश होकर अपने शिकार को आसानी से मार सकता था। पत्थर को रगड़कर उसने आग जलाना भी सीख लिया था। अब वह कच्चे कंदमूल व मांस को भूनकर या पकाकर खा सकता था। इस तकनीकी ने मनुष्य को आगे बढ़ाया और आग व पहिये के आविष्कार ने उसे दक्ष बनाया।

वह अपने भोजन का संग्रह कर सकता था और उसे पका कर खा सकता था। पहिए की चाक पर अपने बर्तनों का निर्माण कर सकता था। प्रकृति के साथ जूझने का यह माद्दा मनुष्य की तकनीकी विकास दक्षता के साथ ही आया।

लोहे के अविष्कार ने एक तो मनुष्य को कृषि कर्म में सक्षम बनाया व दूसरा उसके तीर–भालों को और भी नुकीला बना दिया। प्रकृति के अबूझ रहस्य को जानने की मनुष्य की जिज्ञासा ने उतरोत्तर प्रकृति पर विजय पाना चाहा। यह विजय बगैर तकनीक के संभव नहीं था। 7वीं व 8वीं शताब्दी में घोड़े की रकाब, व सल्तनत व मध्ययुग में घोड़े की नाल व कुतुबनूमा यंत्र का आविष्कार आदि तकनीकी आविष्कारों ने साम्राज्यों के जीतने व हारने के कारण बने। जिसे हम युग परिवर्तन कहते हैं। दरअसल वह और कुछ नहीं वह तकनीकी का ही विकास है। तकनीकी दक्षता ने मनुष्य को मध्ययुग से आधुनिक युग में लाकर खड़ा कर दिया, भाप का इंजन, जहाजों के निर्माण ने कुछ सभ्यताओं को साम्राज्यवादी बनाया तो औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप फ्रांस में क्रांति के रूप में स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा का नारा भी गूंजा। मार्क्सवादी दृष्टि से देखे तो आधार में यह भौतिक परिस्थितियाँ ही तो थी, जो राष्ट्र राज्य उदय का कारण बनी।

गूफा से लेकर राकेट तक की यात्रा मनुष्य की प्रकृति से लड़ने की यात्रा रही है। जब वह जीता तो उसे मानवीय उपलब्धि बताया और कभी हारा तो उसकी (प्रकृति) पूजा करने लगा।

हिंदी साहित्य की प्रगतिशीलता तो आधुनिक युग की बात है। आधुनिक युग मनुष्य के वैज्ञानिक सोच का परिणाम है। इस वैज्ञानिक सोच ने प्रकृति को लगातार अपदस्थ किया; लेकिन प्रकृति प्रकोप के रूप में सूनामी, कैटरीना, रीटा नामक समुद्री तूफानों के कारण प्रकृति से उसकी लड़ाई जारी रही इस प्रकार प्रगतिशीलता का प्रकृति से, प्रगतिशीलता तथा प्रकृति का टैक्नॉलॉजी से घनिष्ठ संबंध हैं। मार्क्सवाद के आधार पर भौतिक चीजें विज्ञान, तकनीकी जैसे–जैसे

भौतिक युग में बदलेगा तो कविता का रूप भी बदलेगा। कविता जब–जब हारती है तो वह प्रकृति के पास जाती है। ज्यों–ज्यों मनुष्य अपने बारे में सोचता है तो प्रकृति उसी सोच को विस्तार देती है। टैक्नॉलॉजी का संबंध यथार्थ जगत से है। उसका संबंध मनुष्य के भौतिक विकास के साथ जुड़ा है। फिर भी तकनीक बुरी चीज नहीं है, क्योंकि इससे हम प्रकृति को समझते हैं। जब मनुष्य अपने बारे में सोचता है तो प्रकृति मनुष्य की सोच को विस्तार देती है। प्रकृति को साहित्य में ही नहीं अन्य कलाओं में भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। आज जब भौतिक सभ्यता ने प्रकृति का दोहन बड़े पैमाने पर किया तो मनुष्य के लिए यह दोहन घातक सिद्ध हो रहा है। संपूर्ण विश्व इस बात के लिए चिंचित है कि प्रकृति का दोहन जो मनुष्य अपने स्वार्थों की खातिर कर रहा है उसको कैसे रोका जाए। इसलिए प्रकृति के प्रति मनुष्य फिर चिंतित हो गया है। इसकी सुरक्षा को लेकर अनेक इंतजामात किये जा रहे हैं। यह द्वंद्व मनुष्य का रहा है एक तरफ जंगल काटने का तो दूसरी तरफ बाग लगाने का।

हिंदी साहित्य ने प्रकृति को प्रारंभ से ही अपने पास जगह दी है। साहित्य में प्रकृति किसी ना किसी रूप में मनुष्य की सहायक रही है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रकृति साहित्य में मनुष्य की स्वच्छंदता की हिमायती के रूप में है। प्रकृति का चित्रण और जब हम प्रगतिशील कविता के बारे में बात करते हैं तो इन कवियों का प्रकृति से रागात्मक संबंध रहा है। सामान्य जन से इसका जुड़ाव है। छायावाद और प्रयोगवाद से इसीलिए महत्वपूर्ण बन गया है प्रगतिवादी कविता का प्रकृति प्रेम।

केदारनाथ अग्रवाल की 'जून की बरसाती वायु' नामक कविता से सिद्ध होता है प्रकृति और मनुष्य का कितना घनिष्ठ रिश्ता है –

"दिन की लुआर रूकी / खानो खड्ग झुकी, गिरि टूट गई,
मृत्यु मिटी। / शाम के सुहाग–सिंध से अमंद

वायु उठी दिग दिगंत / रोम–रोम से प्रकम्प फूट पड़ा
वृद्ध हड्डियों से / आसमान की, यौवन उमड़ पड़ा –
छलक, छलक पड़ा / घड़ा रस–भरा मधु–यामिनी की शीश का।"[62]

इस प्रकार प्रगतिशीलता और टेक्नॉलॉजी दोनों का संबंध प्रगति से है। कविता की प्रगतिशीलता प्रकृति को बचाकर एवं उससे प्रेरणा पाकर है; जबकि टेक्नॉलाजी प्रकृति का विनाश कर प्रगति करती है। दोनों की प्रगति के दो ध्रुव हैं। इसलिए दोनों में द्वंद्व भी है और मतभेद भी। जब मनुष्यों को टेक्नॉलाजी ने सुविधा–संपन्न बनया तो मानव प्रगति के रास्ते पर चल निकला। जब उसे इस औद्योगिक सभ्यता एवं घुटन भरी जिंदगी में आराम नहीं मिला तो वह फिर प्रकृति की शरण में गया और मनुष्य ने अपनी 'आभा' को प्रकृति के साथ जोड़कर देखा जैसे कि प्रगतिशील कवि का अस्तित्व ही प्रकृति को लेकर हो –

"यह जो इतने फूल खिले हैं
कल इनको मेरे प्राणों ने नहलाया था
कल इनको मेरे सपनों ने सहलाया था
पकी सुनहली फसलों से जो / अबकी यह खलिहान भर गया
मेरी रग–रग के शोषित की बूंदें इसमें मुसकाती हैं।"[63]

प्रकृति के निर्माण में प्रगतिशील कवियों ने अपने प्राणों तक को लगाया है। यह तो सिद्ध है कि नागार्जुन की इस कविता से प्रकृति प्रेम जाहिर होता ही है साथ में प्रकृति को उत्पन्न करने के लिए प्राणों की बाजी व प्रकृति में अपनी आभा देखना प्रकृति से अटूट रिश्ता स्थापित करता है। आगे इसी कविता में –

"नए गगन में नया सूर्य जो चमक रहा है
यह विशाल भूखंड जो दमक रहा है / मेरी भी आभा है इसमें।"[64]

प्रगतिशील कविता में प्रकृति प्रेम उसके सामान्य जन–जीवन से जुड़ा है, अधिकांश प्रकृति किसानों के आस–पास की है। ऐसी ही एक कविता है नागार्जुन की 'सोनिया समंदर' जिसमें पकी हुई फसल स्वयं ही खेतिहारों को बुला रही है

क्योंकि किसान ने उसे बड़ी मेहनत से उपजाया है इसलिए जब मनुष्य प्रकृति को पालता है तो वह प्रतिदान भी देती है, जैसे उदाहरण दृष्टव्य है –

"गेंहूँ की पकी फसलें तैयार हैं –
बुला रही हैं / खेतिहारों को / ले चलो हमें / खलिहान में
घर की लक्ष्मी के / हवाले करो / ले चलो यहाँ से।"[65]

प्रकृति ने हमेशा मनुष्य का भला चाहा है। मनुष्य के लंबे इतिहास को देखते हैं तो जो मानव आज प्रकृति को काट रहा है। दरअसल वह मानव भी प्रकृति की गोद में पला है। मनुष्य का माँ की तरह पालन–पोषण करती है प्रकृति, जब–जब मानव अशांत हुआ है तब–तब वह शांति की तलाश में प्रकृति के पास गया है। प्रकृति ने बाहें फैलाकर उस मनुष्य का स्वागत किया है। जब–जब मनुष्य हारेगा, तब–तब वह प्रकृति की शरण में जायेगा। इसलिए टेक्नॉलॉजी के साथ–साथ हमें प्रकृति का पूरा ध्यान रखना होगा। इसी टेक्नॉलाजी ने हमें प्रकृति के अबूझ रहस्यों को समझने में मदद की है। प्रकृति एवं टेक्नॉलाजी में मानव को संतुलन पैदा करना होगा। तकनीकी भी बुरी चीज नहीं है इससे प्रकृति को हम समझते भी हैं और टेक्नॉलाजी ने मानव का उतरोत्तर विकास भी किया है। दोनों ही मनुष्य के विकास का द्योतक हैं। इसलिए प्रगतिशील कविता में प्रकृति को भी नकारा नहीं जा सकता है और टेक्नॉलाजी को भी अपनाना होगा। अगर हमें जंगल काटना पड़ता है तो उससे ज्यादा लगाना भी होगा। यही प्रकृति के जीवन–दर्शन का सत्य है।

प्रगतिशील कविता में प्रकृति के विविध धरातल

प्रगतिशील कविता में प्रकृति की अभिव्यक्ति विभिन्न धरातलों पर हुई है। प्रगतिवादी कवियों की सौंदर्य–दृष्टि मार्क्सवादी विचारों और भावों के रास्ते पर अग्रसर है। मार्क्सवादी सौंदर्य–दृष्टि जीवन के समग्र अभिव्यक्ति में सौंदर्य के कण खोजती है। उनके अनुसार कलागत सौंदर्य का मूल्यांकन करते समय हमारी दृष्टि

मूल रूप से इस पर टिकती है कि क्या हमारी धारणा के अनुसार जैसा जीवन होना चाहिए वैसा जीवन प्रगतिवादी कवियों में चित्रित है। प्रगतिवादी कवि इस चेतावनी से जुड़कर अपने काव्य में प्रकृति को जगह देते हैं। उनकी कविता में प्रकृति के अनेक रूप हैं। कहीं–कहीं पर कवियों ने प्रकृति पर स्वयं के मन की स्थितियों को आरोपित किया है।

प्रगतिशील कवियों ने प्रगति का चित्रण सामाजिक यथार्थ की भूमि पर किया है। अधिकतर स्वाभाविक रूप से प्रकृति समाज से जुड़ती है। इसका मुख्य कारण यह है कि अधिकतर कवि अपने जनपद व गाँव से जुड़े हुए हैं। जब कवि अपने प्रदेश को छोड़कर जाता है तो प्रकृति का जो रूप उसके सामने आता है प्रकृति का वही रूप अपनी कविता में आरोपित कर देता है। नागार्जुन ने अनेक स्थानों पर भ्रमण किया। यही कारण है कि उनके द्वारा प्रकृति वर्णन बड़ा ही सुंदर बन पड़ा है। नीम की दो टहनियाँ भी कवि को सीखंचों के पार झांकती हुई दिखाई देती हैं। कहीं रजनीगंधा की सुवास से युक्त वातावरण है लेकिन परिस्थितियाँ अपने अनुकूल न होने पर वह कवि को विष–कन्या दिखाई देती है –

"हजार बाहों वाली शिशिर विष–कन्या
उतरी लेकर सांसों में प्रलय की कन्या
हिमदग्ध होठों के प्राणशोषी चुम्बन
तन–मन पर लेप गए ज्वालामय चंदन
एक–एक सिरा में सौ–सौ सुइयों की चुभन
अद्‌भुत यह भुजापाश अद्‌भुत आलिंगन
तृण–तरू झुलस गए पड़ा है ओसमय तुषार
किया है महाकाल ने हिमानी का श्रृंगार
आज है गरल धन्य, कल था सुधा धन्या।"[66]

कवि को शिशिर के शीत की प्राणलेवा तेजी तीर की तरह चुभती है। इसी कारण कवि को विषकन्या की तरह दिखाई देती है 'एक शिरा में सौ–सौ सुइयों की चुभन' के माध्यम से कवि ने अपनी और समाज की पीड़ा का बखान किया है।

इसका अन्यार्थ यह है कि प्रकृति और मनुष्य का अद्वैत संबंध है क्योंकि जब मनुष्य को पीड़ा होती है तो प्रकृति भी उसके लिए पीड़ादायक बन जाती है। 'भुजापाश और अद्‌भुत आलिंगन, के माध्यम से नागार्जुन संपूर्ण सृष्टि को प्रकृति के आलिंगन में बताया है। 'गरल धन्या' और 'सुधा धन्या' कहकर कवि ने प्रकृति को विविध धरातलों पर बैठा दिया है। कभी वह महाकाल है तो कभी 'हिमानी' और सांसों में प्रलय ने कवि को दमघोंटू बीमारी का शिकार बना लिया है वह कवि को ही नहीं; बल्कि संपूर्ण सृष्टि को अपनी जकड़ में ले रही है। यही प्रकृति लोक–जीवन का अंग है। प्रगतिशील कवियों ने अपनी यौन–कुंठा को शांत करने के लिए प्रकृति को अपने काव्य में जगह नहीं दी; बल्कि प्रकृति कवि के सुख–दुःख में सहभागिनी और सहचरी बनकर आयी है। प्रकृति का वर्णन मानव संदर्भ में ही अधिक हुआ है –

"उड़ी जा रही नील गगन में
पवन–पंख पर विमल वलाका।"[67]

त्रिलोचन ने प्रकृति में ही अपनी पुकार सुनी है, शायद ही किसी कवि ने प्रकृति से अपने अस्तित्व को जोड़ा हो –

"नदी के किनारे / पुकार एक मैंने सुनी
.....

मुझे जाना पड़ा / जाने क्यों
यह पुकार मेरी है / तो भी मैं बोला नहीं।"[68]

त्रिलोचन प्रकृति को किसानों से जोड़कर देखते हैं। इसके साथ ही ग्रीष्म, बसंत, मेंहदी और चांदनी जैसे प्राकृतिक शब्दों ने नवीन मानवीय संबंधों को दर्शाया है।

"शमशेर की कार्यशाला सचमुच एक विशाल चित्रशाला है। रंगों का महोत्सव है। कहीं धूप आईने में खड़ी है, कहीं धूप थपेड़े मारती है थप्–थप् /

केले के हाथों से पानी से/केले थंबों पर। और कहीं 'उषा' के जल में सूर्य स्तंभ हिल रहा है, अकेले एक धूप के कितने–कितने रंग।"[69]

रंगों की पाठशाला जो शमशेर के पास मिलती है, अन्य किसी कवि के पास इतने रंगों का समायोजन दुर्लभ है। फिर आगे प्रकृति के अनेक रूप –

"एक चिकना चौड़ा आबशार / सांवला संगमर्मरी
आधा खिला व्यापक–सा गुलाब एक
मह–मह सुगंध शक्ति में / स्पष्टतः सुरक्षित
.....
गुलाब बाड़ी टपक रहीं हैं / हम आदिवासी से मौन
भीगे हुए खड़े हैं।"[70]

शमशेर की कविता में रंगों का मेला सा लग जाता है। इनका प्रिय रंग सांवला है, वह संगमर्मरी भी हो जाता है। यहाँ प्रकृति विभिन्न रंगों में समाहित है।

शमशेर की कविता में रंगों का मेला–सा लग जाता है। कबीर का एक दोहा है – 'लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।' परमात्मा के रंग में रंग जाना जो भक्ति की चरम सीमा है जहाँ पर आत्मा–परमात्मा का मिलन होता है। इसी अवस्था को अद्वैत स्थिति कहते हैं। इसी प्रकार शमशेर प्रकृति के रंग में अद्वैत स्थिति को प्राप्त करते हैं। प्रकृति का मानवीकरण शमशेर की कविताओं की विशेषता है –

"चिकनी चाँदी–सी माटी / वह देह धूप में गीली
लेटी हंसती–सी।"[71]

मुझे लगता है कि शायद ही माटी का ऐसा सौंदर्यपूर्ण वर्णन किसी कवि के यहाँ मिले। इसीलिए अन्य कवियों से शमशेर का प्रकृति–चित्रण अलग है। माटी के इतने भव्य विम्ब की कल्पना शमशेर से ही की जा सकती है। माटी को चिकनी चाँदी सा कहना और उसकी देह पर धूप का पड़ना, माटी नहीं जैसे किसी विश्व–सुंदरी का वर्णन कर रहा हो। वह 'विश्व सुंदरी' सेज पर लेटकर हंस रही

हो। शमशेर का प्रकृति के बारे में अन्य कवियों से अलग दृष्टि है। शमशेर ने प्रकृति का चित्रण अपने काव्य में समाज को ध्यान में रखकर किया है, जिसमें सुबह से शाम तक और फिर रात से सुबह तक भक्ति का उद्‌गार है –

"मौन संध्या का दिए टीका
रात / काली / आ गई / सामने ऊपर
.....
घिर गया समय का रथ कहीं
लालिमा से मठ गया है राग / भावना तुंग लहरें
पंथ अपना, अंत अपना जान / रोलती है मुक्ति के उद्‌गार।"[72]

प्रगतिवादी कविता में प्रकृति का एकांत वर्णन नहीं है। कहीं वह शक्ति के रूप में है तो कहीं वह मानवीय श्रम के रूप में –

"छोटे हाथ / सबेरा होते / लाल–कमल से खिल उठते हैं
कसी करने को उत्सुक हो / धूप हवा में हिल उठते हैं।"[73]

"प्रकृति और श्रम का अद्‌भुत सामंजस्य इस दौर की 'छोटे हाथ' शीर्षक कविता में देखा जा सकता है। यहाँ छोटे हाथ और 'लाल कमल' का सादृश्य विधान श्रमजीवी वर्ग के संघर्ष को सहज ही किन्हीं प्राकृतिक उपादानों के तामझाम को जुटाए बिना रूपायित कर देता है।"[74]

मुक्तिबोध के काव्य में प्रकृति का धरातल, नागार्जुन, केदार नाथ, त्रिलोचन व शमशेर से भिन्न है। इनकी कविता में कोमल–कोमल टहनियाँ भी अनुभवगत मर्मों से भर गयी हैं –

"मुड़ करके मेरी और सहज मुसका / वह कहती है
आधुनिक सभ्यता के वन में / व्यक्तित्व–वृक्ष सुविधावादी
कोमल–कोमल टहनियाँ भर गयी / अनुभव मर्मों की
यह निरूपयोग के फलस्वरूप हो गया।"[75]

मुक्तिबोध की कविता में 'फैंटेसी' के प्रयोग के कारण प्रकृति भिन्न–भिन्न रूप धारण कर लेती है। प्रकृति भी सुविधावादी होने के कारण आधुनिक व्यक्ति को सुविधावादी पुरुष की संज्ञा दी है।

मुक्तिबोध का काव्य सामाजिक जीवन की व्याख्या का काव्य है। सही अर्थों में मुक्तिबोध जन–समाज को खुशी और खुशहाल देखना चाहते हैं। इसी चाहत के कारण वे जीवन समाज व सामाजिक जीवन को भीतरी पहलुओं के साथ यथार्थ भूमि पर लाते हैं। वे प्रकृति को भी सामाजिक परिवेश में प्रस्तुत करते हैं और इसलिए वह प्रकृति को शोषण का प्रतीक मान लेते हैं। वे प्रकृति का भी हमेशा ऐसा कैनवास लेते हैं जो सामाजिक जीवन को उद्‌घाटित करे। उनकी कविता में प्रकृति का कहीं पर भी आगमन होता है, तो वह सामाजिक परतों को ही खोलती नजर आती है –

"दीखता / त्रिकोण, अरूप और अनाकार
असीम एक कुहरा / भस्मीला अंधकार
फैला है कटे–फटे पहाड़ी प्रसारों पर,
लटकती है मटमैली / ऊँची–ऊँची लहरें /
मैदानों पर सभी ओर।"[76]

'पर्वत शिखर' नागार्जुन की कविता में प्रेरणा व भव्यता का प्रतीक बनकर आता है। वहीं दूसरी ओर मुक्तिबोध के काव्य में शोषण का प्रतीक है। इनके काव्य में प्रकृति के अनेक रूपों का चित्रण है।

मुक्तिबोध की कविता में प्रकृति पूर्णरूपेण समाज से जुड़ी हुई है। उसे समाज से अलगाकर नहीं देखा जा सकता है। लोक जीवन से प्रकृति की घनिष्ठता का अद्‌भुत प्रमाण है – शमशेर की कविता –

"कंदरा गुहाओं को, तालों को
वृक्षों के मैदानी दृश्यों के प्रसार को / अकस्मात्
देखते कि कम्बल की कुहरीली लहरें / हिल रहीं, मुड़ रहीं।"[77]

अतः इन कवियों की प्रगतिशीलता और प्रकृति के विभिन्न रूपों का गहरा आपसी सम्बन्ध है। कवियों की दृष्टि प्रकृति को समाज से जोड़कर देखती है। इसलिए प्रकृति का प्रगतिशील कविता में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

संदर्भ–संकेत

[1] रामविलास शर्मा – नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ.159

[2] अजय तिवारी – प्रगतिशील कविता के सौंदर्य मूल्य, पृ.180

[3] वही, पृ.180–181

[4] नागार्जुन – रचनावली, भाग–1 (सं. शोभाकांत), पृ.55

[5] वही, पृ.41

[6] रूपाभ (पत्रिका), सं. नरेन्द्र शर्मा व सुमित्रानंदन पंत, पृ.290

[7] नागार्जुन – रचनावली–1, (सं. शोभाकांत), पृ.486

[8] अजय तिवारी – प्रगतिशील कविता के सौंदर्य मूल्य, पृ.184

[9] शमशेर बहादुर सिंह – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.102

[10] त्रिलोचन – ताप के ताए हुए दिन, पृ.39

[11] त्रिलोचन – अरघान, पृ.29

[12] त्रिलोचन – अंतरंग, पृ.30

[13] नंद किशोर नवल – रचना का पक्ष, पृ.58

[14] रामदरश मिश्र – साहित्य संदर्भ और मूल्य, पृ.38

[15] केदारनाथ अग्रवाल – पंख और पतवार, पृ.78

[16] केदारनाथ अग्रवाल – युग की गंगा, पृ.106

[17] मुक्तिबोध – चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ.47

[18] वही, पृ.48

[19] केदारनाथ अग्रवाल – फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ.5

[20] गोबिन्द प्रसाद – कविता के सम्मुख, पृ.82

[21] नागार्जुन – रचनावली–1(सं. शोभाकांत), पृ.61

[22] वही, पृ.61

[23] वही, पृ.32–33

[24] वही, पृ.25

[25] वही, पृ.27

[26] गोबिन्द प्रसाद – कविता के सम्मुख, पृ.75

[27] केदारनाथ अग्रवाल – फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ.5

[28] वही, पृ.168

[29] वही, पृ.32

[30] वही, पृ.167

[31] वही, पृ.18

[32] वही, पृ.22

[33] केदारनाथ अग्रवाल – लोक और आलोक, पृ.42

[34] केदारनाथ अग्रवाल – गुल मेंहदी, पृ.108

[35] केदारनाथ अग्रवाल – फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ.128

[36] त्रिलोचन – धरती, पृ.67

[37] वही, पृ.84

[38] त्रिलोचन : उस जनपद का कवि हूँ, पृ.62

[39] शमशेर – कुछ कविताएँ और कुछ कविताएँ, पृ.17

[40] निर्मल वर्मा – ढलान से उतरते हुए, पृ.26–28

[41] शमशेर – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.

[42] रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ.244

[43] शमशेर – उदिता, पृ.34

[44] वही, पृ.18

[45] शमशेर – कुछ कविताएँ व कुछ और कविताएँ, पृ.33

[46] वही, पृ.140

[47] वही, पृ.49

[48] शमशेर – कुछ कविताएँ, कुछ और कविताएँ, पृ.22

[49] वही, पृ.21

[50] जगदीश कुमार – शमशेर कविता लोक, पृ.108

[51] शमशेर – कुछ कविताएँ, कुछ और कविताएँ, पृ.119

[52] केदारनाथ अग्रवाल – जो शिलाएँ तोड़ते हैं, पृ.29

[53] वही, पृ.81

[54] वही, पृ.144

[55] जयशंकर प्रसाद – कामायनी, रहस्य सर्ग, पृ.111

[56] त्रिलोचन – अरघान, पृ.25

[57] रंजना अरगड़े – कवियों के कवि शमशेर, पृ.148

[58] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.81

[59] वही, पृ.24

[60] वही, पृ.33

[61] शमशेर – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.103

[62] केदारनाथ अग्रवाल – जो शिलाएँ तोड़ते हैं, पृ.75

[63] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.73

[64] वही, पृ.73

[65] वही, पृ.83

[66] नागार्जुन – रचनावली–1 (सं. शोभाकांत), पृ.393–94

[67] वही, पृ.61

[68] बच्चन सिंह – हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ.421

[69] शमशेर – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.7

[70] वही, पृ.183

[71] वही, पृ.182

[72] वही, पृ.68

[73] गोबिन्द प्रसाद – कविता के सम्मुख, पृ.34

[74] वही, पृ.88

[75] मुक्तिबोध – चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ.

[76] वही, पृ.47

[77] वही, पृ.48

पाँचवा अध्याय

प्रगतिशील कविता का भाषा–शिल्प और लोक–जीवन

5.1 काव्य–रूप और लोक

5.2 बिम्ब और प्रतीक सृष्टि में लोक–जीवन का आग्रह

5.3 काव्य–भाषा और लोक–जीवन

5.4 लय और छंदों में लोक–धुनों का आग्रह

हिंदी कविता का लोक से प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से लंबे समय से संबंध रहा है। भाषा के माध्यम से ही कविता ने भारतीय समाज का परिचय दिया है। समाज के जितने भी रूप हमारे सामने मौजूद हैं, वह भाषा की ही करामात है। भाषा ने समाज के नये–नये आयामों को उद्‌घाटित किया है। भाषा ही वह माध्यम है, जिसके माध्यम से लोगों का संप्रेषण होता है और आपसी सामाजिकता की भावना पैदा होती है। समाज में अनेक वर्ग होते हैं जिनकी अपनी–अपनी भाषा होती है। इस समाज के वर्ग–विभाजन ने सभी भाषाओं को प्रभावित किया है। समाज में मुख्यतः भाषा के दो रूप प्रचलित हैं – भाषा का क्लासिकी रूप और भाषा का लोक रूप। क्लासिक भाषा का मुख्य रूप से वर्ग–विभाजन कर्ताओं ने उच्च वर्ग की भाषा माना जैसे – संस्कृत। परंतु यह भाषा लोक भाषा का रूप धारण नहीं कर पायी, क्योंकि अपने आपको स्वर्ण कहने वालों ने इसे अपनी प्रोपर्टी समझ लिया। इसी कारणवश यह लोककंठ की भाषा नहीं बन पायी और जन–सामान्य से दूर होती चली गयी। परंतु साहित्य में ऐसे बहुत से कवि हुए हैं जिन्होंने समाज के चित्र को उन्हीं की ही जन भाषा में उकेरा है।

हिंदी भारतीय समाज में राजभाषा के रूप में प्रचलित है; परंतु जन भाषा का रूप यह भी नहीं ले पायी। इसलिए जन जीवन के चितेरे कवि कबीर, जायसी, तुलसी, सूर आदि भक्त कवियों ने प्रचलित प्रांत की भाषा के रूप में ही कविता की। फिर भी ये कवि व्यापक रूप से लोक–जीवन को प्रभावित नहीं कर पाये। द्विवेदी युग की भाषा बोलचाल की भाषा के नजदीक रहकर भी संस्कृतनिष्ठ होने की दिशा में सचेष्ट थी। उसका झुकाव लोक की ओर से उन्मुख ही था। उसका कला–पक्ष दुर्बल तो था ही; बल्कि आम–जन की समझ से दूर थी और छायावाद उसकी अंतर्निहित चेष्टा का स्वाभाविक भण्डार था। उन्होंने भाषिक छंदों व शब्दों को ऐसा तराशा कि तराशने के चक्कर में भाषा लोक से दूर की भाषा हो गई। हालांकि छायावाद के उत्तरार्द्ध में इस समस्या से कुछ निजात जरूर मिली,

लेकिन जब हम लोक भाषा की बात करते हैं तो इतने से काम कहाँ चलने वाला था। एक काम जरूर हो गया कि इस कलात्मक सौंदर्य के कारण भाषा अपने सुकुमार्य तथा भाव–सौंदर्य से समृद्ध होकर विश्व की अन्य श्रेष्ठतम भाषाओं की पंक्ति में बैठने की हकदार हो गयी। छायावाद जन जीवन के कोलाहल से दूर भागने के चक्कर में जन भाषा (लोक भाषा) एवं सामान्य जीवन से अलग–थलग पड़ गयी। वह यथार्थ की भूमि पर अपने सुकुमार चरण धरने में असमर्थ रही, इसलिए जयशंकर प्रसाद की कामायनी व निराला की राम की शक्तिपूजा आम जन के मध्य कभी भी पाठ्य काव्य के रूप में नहीं रहा; यह केवल एकेडमिक स्तर पर ही पाठ्य काव्य रहा। जैसे 'राम की शक्ति पूजा' से एक उदाहरण दृष्टव्य है–

"अनिमेष–राम–विश्वजिद्दिव्य–शर–भंग–भाव
विद्वांग–बद्ध–कोदंड–मुष्टि–खर–रूधिर–स्राव।"[1]

उपर्युक्त संस्कृतनिष्ठ भाषा को गाँव के आम जन तो नहीं समझ सकते इसलिए प्रसिद्ध कविता होते हुए भी यह आम–जन से दूर हो गयी। परंतु छायावाद के उत्तरार्द्ध में यथार्थ की बात होने लगी। जाहिर सी बात है कि जब काव्य में यथार्थ की बात होगी तो भाषा भी यथार्थ के पटल पर होगी और उसमें आम–जन जीवन को नकारा नहीं जा सकता। कवि ग्रामीण जन जीवन व शहर के जनजीवन व गलियों में घूमेगा, तब ही लोक का ज्ञान होगा, उनकी रोजमर्रा की भाषा से वाकिफ हो पायेगा। छायावाद के अंत में यही सब हुआ –

"बांसों का झुरमुट, संध्या का झुरमुट /
ये नाप रहे निज घर का भग
कुछ श्रमजीवी घर डगमग डग
भारी है जीवन भारी है पग।"[2]

इसी लोकभाषा का पूर्णतः विकास प्रगतिशील कविता में देखने को मिलता है। छायावाद में लोक भाषा की वह पाठशाला तैयार नहीं हो पायी जो प्रगतिवादी

कवियों ने तैयार की। इसलिए यह प्रगतिवादी कविता लोक जन में रच बस गयी। लोक भाषा का इतना सहज रूप अन्य कविता में मिलना दुर्लभ है।

काव्य रूप और लोक

"भाषा मनुष्य के विकास और मनुष्य के इतिहास को सुरक्षित रखने का माध्यम है। भाषा मनुष्य को मनुष्य बनाने का अस्त्र–शस्त्र भी है। वह निरंतर उसकी भावनाओं, चिंतन–प्रक्रिया तथा क्रिया–कलापों को परिस्कृत करने के साथ ही मनुष्य को वाणी देने का माध्यम भी बनी है।"[3] इस भाषा रूपी अस्त्र–शस्त्र का ही प्रगतिवादी कवियों ने अपने काव्य में मनुष्य के अधिकारों के लिए लड़ने में प्रयोग किया है। प्रगतिशील कवियों को कविता आम–जन की कविता है। इनकी कविता की भाषा बातचीत के निकट की भाषा है। आम जीवन और कविता की भाषा में परस्पर प्रगाढ़ रिश्ता कायम है। केदारनाथ अग्रवाल ने कविता और भाषा के संबंध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं – "कविता में शब्द एक दूसरे का साथ देते हैं, एक दूसरे का हाथ थामे रहते हैं, एक दूसरे को सार्थक करते हैं।"[4] मुक्तिबोध का मानना है कि कविता की भाषा बातचीत की भाषा हो सकती है किंतु ये काव्य–भाषा के रूप में बातचीत के उसी खास रूप को स्वीकार करते हैं जिसमें काव्यात्मकता होती है।"[5] डा. रामविलास शर्मा ने साधारण काव्यभाषा के रूप में नागार्जुन की काव्यभाषा के बारे में कहा है कि– नागार्जुन की भाषा को किसान मजदूरों की काव्यभाषा का निखरा हुआ रूप कहा है।"[6] प्रगतिवादी कवियों के शब्द तो आम बोलचाल के ही होते हैं, परंतु परिष्कार करने पर वह सामान्य स्तर से उठकर विशिष्टता प्राप्त करते हैं। जिससे कविता समाज के मध्य संप्रेषण का माध्यम बनती है।

डॉ. रामदरश मिश्र का विचार है कि – "भाषा का वैशिष्ट्य कवि की निजी दृष्टि, निजी संवेदना और अनुभव के कारण उत्पन्न होता है।"[7] मुक्तिबोध के शब्दों में कहें तो अनुभवगत सौंदर्य, जिस कवि को समाज के दुख–दर्द, सुख–दुख का

जितना अनुभव होगा वह कवि उतना ही समाज के बारे में संवेदनशील होगा। प्रगतिशील कवियों ने बिम्ब एवं प्रतीकों का सृजन लोक–जीवन अर्थात् आम–जीवन से लिए हैं। उनका काव्य, गरीबों–मजदूरों की व्यथा को अपनी कविता में बिम्बों एवं प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है।

नागार्जुन की भाषा के संबंध में डा. गोबिन्द प्रसाद ने लिखा है – "नागार्जुन की कविताओं का शिल्प काफी सधा हुआ है। भाषा एक दम साफ और सीधी, बिना पेचो–खम लिए हुए गाँव–देहात के मजदूर–किसान की तरह भाषा को जीवंत और व्यवहारिक बनाने के लिए नागार्जुन अपनी कविताओं में मुहावरों या बोली प्रधान भाषा का इस्तेमाल अधिक करते हैं।"[8] यह विशेषता त्रिलोचन की कविताओं के बारे में भी लागू होती है। जैसे त्रिलोचन की भाषा का सहजपन –

दर्द कहाँ ठहरा
सांसों की गली में
देता रहा पहरा।"[9]

त्रिलोचन की भाषा सादगीपूर्ण है। उसमें निराला का निरालापन भी है अर्थात् निराला की भाषा का भी संकेत है तो कहीं–कहीं तुलसीदास का भी वाक्य विन्यास है। जैसे शब्द संग्रहं का एक उदा. –

"विषम विलाससंकुला पर्वतोभूता गंगा
शशि तारक हारा अभिद्रुता अतिशय पूता।"[10]

नागार्जुन की काव्य–भाषा लोक–दृष्टि से सराबोर है। उनकी काव्य–भाषा के कई रूप हैं; परंतु सारे लोक से जुड़े हुए हैं। लोक की ही अभिव्यक्ति है नागार्जुन की भाषा। "नागार्जुन के भाषिक मुहावरे ठेठ गाँव के हैं। जहाँ संस्कृत की सधी हुई पदावली मिलेगी वहाँ पर भी गंवई रंग चढ़ा हुआ है। एक कविता में वे सफलतापूर्वक कई प्रकार की पदावलियों, छंदों, लयों का प्रयोग करते हैं।"[11]

नागार्जुन की काव्य–भाषा का रूप उनके गीतों, पदावलियों में मिथला की लोक–चेतना को अभिव्यक्त करता है। उनका काव्य जनपदीय विशेषताओं से सरोबार है – चाहें वह काव्य का कोई भी रूप हो। नागार्जुन की कविता के बारे में मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है कि– "नागार्जुन की कविता में काव्य–भाषा के भी अनेक रूप हैं। एक वह रूप है जो कालिदास सच–सच बतलाना में दिखाई पड़ता है; तो दूसरा रूप सामाजिक जिंदगी की समस्याओं से जुड़ी हुई कविताओं में दिख पड़ता है जैसे– 'मन करता है', 'प्रेत का बयान' या 'अकाल और उसके बाद'। उनकी काव्य भाषा का तीसरा रूप राजनीतिक कविताओं में चौथा रूप आंदोलनधर्मी कविताओं में। यहाँ कविता की भाषा अखबार की भाषा की तात्कालिकता को छूती नजर आती है।"[12] नागार्जुन की काव्य भाषा भावनुगामी और सीधी सरल है। उनके शब्दों का मिजाज सरल है उसका संबंध सीधा लोक से जुड़ा है लोगों की बात को लोगों की भाषा में कहना तो कोई नागार्जुन से सीखें। काव्य का रूप चाहे कोई भी हो; परंतु भाषा लोक छंदों, लोक धुनों में ही सफर करती नजर आती है। जिन कविताओं में संस्कृतनिष्ठ पदावली का प्रयोग हुआ है उनके भी भावार्थ को आसानी से समझाया जा सकता है। जनवादी कवि होने के कारण नागार्जुन की कविताओं में लोक भाषिक ही अधिक है। नागार्जुन सरल, स्पष्ट व बोलचाल के शब्दों का ही अधिक प्रयोग करते हैं। नागार्जुन की कविता में 'नृत्य और संगीत की लोक शैली के मुताबिक उन्होंने रचना का पूरा ढांचा खड़ा किया है। आरंभ में संवाद शैली में संबोधन किया है –

"क्या हुआ आपको
क्या हुआ आपको
सत्ता को मस्ती में भूल गयीं बाप को
इंदु जी, इंदु जी, क्या हुआ आपको
बेटे को तार दिया बोर दिया बाप को।"[13]

डॉ. रामविलास शर्मा ने नागार्जुन की कविता के बारे में लिखा है – "उनकी कविताएँ लोक–संस्कृति के इतना नजदीक हैं कि उसी का एक विकसित रूप मालूम होती हैं। किंतु वे लोक गीतों से भिन्न हैं, सबसे पहले अपनी भाषा खड़ी बोली के कारण, उसके बाद अपनी प्रखर राजनीतिक चेतना के कारण और अंत में बोलचाल की भाषा की गति लय को आधार मानकर नये–नये प्रयोग के कारण। हिंदी–भाषी प्रदेश के किसान–मजदूर जिस भाषा को आसानी से समझते हैं और बोलते हैं उसका निखरा हुआ काव्य रूप नागार्जुन के यहाँ हैं।"[14] किसान–मजदूर चाहे वह मजदूर ग्रामीण हो या फिर शहरी, नागार्जुन की कविता उसी की भाषा में उससे बात करती है। उनकी लोक–गीतों की शब्दावली लोक–जीवन की बड़ी ही भव्य पाठशाला है –

"तुम चंदन हम पानी
हम काहिल हैं, हम भिखमंगे, तुम हो औठरदानी
अब की पता चला है, प्रभुजी, तुम चंदन हम पानी।
हम निचाट धरती निदाध की, तुम बादल बरसाती
अब की पता चला है प्रभुजी, तुम दीपक हम बाती।"[15]

अज्ञेय ने लिखा है कि – "काव्य के जो भी गुण बताए जा सकते हैं, अंततोगत्वा भाषा के ही गुण हैं।"[16]

नागार्जुन की कविता लोक गीतों का स्पर्श करती हैं; कुछ कविताएँ सीधा–सीधे लोकगीतों पर ही आधारित हैं। कुछ लोकगीतों का हल्का स्पर्श करती हैं–

"आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी,
यही हुई है जवाहरलाल की
रफू करेंगे फटे–पुराने जालकी
यही हुई है राय जवाहरलाल की
आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी।"[17]

नागार्जुन ने व्यंग्य शब्दावाली अपनाते हुए भी लोकगीतों की रचना की–

"तुम चंदन हम पानी
हम काहिल हैं, हम भिखमंगे, तुम हो औठरदानी
अब की पता चला है, प्रभु जी, तुम चंदन हम पानी।
हम निचाट धरती निदाध की, तुम बादल बरसाती
अब की पता चला है प्रभु जी, तुम दीपक हम बाती।"[18]

नागार्जुन ने मैथिली भाषा में भी गीत लिखे हैं जो प्रकृति से भी संबंधित हैं और लोक–जीवन से भी संबंधित हैं –

"फाँक इजोतक तिमिरक थार / निविड़ विपन अति पातर धार
दारिद उद लछमी जनुहार / लोहक चादरि चानिक तार।"[19]

नागार्जुन ने कविता के लिए छोटे–छोटे दोहों का प्रयोग भी किया है – जो उनकी कवित्व को सफलता की ऊँचाइयों पर पहुँचाते हैं –

"खड़ी हो गईं चाँपकर कंकालों की हूक
नभ में विपुल विराट–सी शासन की बंदूक
उस हिटलरी गुमान पर सभी रहे हैं थूक
जिसमें कानी हो गई शासन की बंदूक।"[20]

नागार्जुन ने प्रकृति से संबंधित भी लोक धुन के आस–पास कविताओं की रचना की जैसे उनकी एक कविता है – बादल को घिरते देखा है' –

"अमल धवल गिरि के शिखरों पर / बादल को घिरते देखा है।
छोटे–छोटे मोती जैसे / उसके शीतल तुहिन कणों को,
मानसरोवर के उन स्वर्णिम / कमलों पर गिरते देखा
बादलों को घिरते देखा है।"[21]

नागार्जुन की कविताओं और लोक संस्कृति के परस्पर संबंध के बारे में रामविलास शर्मा ने लिखा है कि – "नागार्जुन ने लोकप्रियता और कलात्मक सौंदर्य के संतुलन और सामंजस्य की समस्या को जितनी सफलता से हल किया

है, उतनी सफलता से बहुत कम कवि हिंदी से भिन्न भाषाओं में भी हल कर पाए हैं।"[22]

नाजार्गुन के समान ही त्रिलोचन की भाषा में भी सादगी, संजीदगी व लोक–जीवन की भाषा में कविता सफलता की ऊँचाई पर पहुँच जाती है– जैसे एक उदाहरण दृष्ट्व्य है –

"दर्द कहाँ ठहरा / सांसों की गली में / देता रहा पहरा।"[23]

त्रिलोचन का कवि कर्म कृत्रिमता व आडम्बर से स्वतंत्र है, जिसका कवि–कर्म सिर्फ और सिर्फ लौकिक भावों से युक्त व देसी संस्कारों का मिलन स्थल है। "त्रिलोचन की कविताओं में कर्म और संघर्ष, नवजीवन दृष्टि अपनत्व गंवई संस्कृति की कर्मठता एवं जुझारूपन का मार्मिक साक्षात संभव हुआ है।"[24]

त्रिलोचन की भाषा गद्यात्मक और पारदर्शी है। उनकी भाषा में सौंदर्य और व्यंजना दोनों हैं। रचना की अर्थवत्ता अनेक आयामी होती है। वह कृतिकार की वैयक्तिक ऊर्जा का विरेचन होती है।"[25] प्रगतिवादी कवियों का एक खास गुण है कि उनकी शैली यथार्थवादी होने के साथ–साथ बातचीत की भाषा में कविता पाठक के सामने आती है और त्रिलोचन की भी यही खास विशेषता है, उनकी काव्य भाषा में लोक परंपरा का अनुभव समाया हुआ है –

"बुआ ने बुलाया महरिन / महरिन आ गयी पास
बुआ ने अब मैं समझाता हूँ / कुछ प्यार से कुछ तिरस्कार से कहा
होगा महरिनिया, तू दामाद के घर / क्यों बैठ गयी।"[26]

त्रिलोचन तो जनपद के कवि हैं, चाहे उसके सॉनेट हों या गीत सभी में लोक लय की धुन मिलेंगी। उदारण के लिए 'धरती' का यह गीत –

"आज मैं अकेला हूँ / अकेले रहा नहीं जाता

.....

ओखी धार दिन की / अकेले बहा नहीं जाता
अथवा / जब जिस छन मैं / हारा, हारा, हारा
मैंने तुम्हें पुकारा।"[27]

मुक्तिबोध ने कहा है कि मुक्ति अकेले में नहीं मुक्ति सभी के साथ में मिलेगी। इस प्रकार प्रगतिवादी कवि अकेले नहीं रह सकता वह समाज के साथ है और समाज उसके साथ। वह पूर्णतः लोक–जीवन से जुड़ा हुआ है।

प्रगतिवादी कवियों ने समाज को अधिक महत्व दिया है। वह उसी व्यक्ति को अच्छा मानते हैं जो समाज की शक्ति बनकर क्रियाशील रहता है और समाज की भाषा में समाज की ही बात करता है –

"जिस समाज में तुम रहते हो
यदि तुम उसकी एकशः शक्ति हो
जैसे सरिता की अगणित लहरों में
कोई एक लहरों हो / तो अच्छा हो।"[28]

त्रिलोचन की कविता की खास बात है, कि उनकी कविता की भाषा गद्य की भाषा लगती है। वह सहज रूप धारण करते हुए सामाजिक यथार्थ की परतें खोलती नजर आती है और लोगों को संघर्ष के लिए आह्वान करती है –

"तुम बढ़ो जिस तरह दीप्ति ज्वाल
कर दग्ध रुढ़ि का अंतराल
साम्राज्यवाद सामंतवाद और व्यक्तिवाद
जो बांध रहे गति जीवन की कर उन्हें नष्ट
तुम सामाजिक स्वातंत्र्य–साध्य को करो स्पष्ट
होंवें स्वतंत्र नारी नर
हो सामंजस्य अमलतर।"[29]

त्रिलोचन की व्यंग्य प्रधान 'सॉनेट' की भाषा तिलमिला देने वाली हैं –

"एक हजार आठ स्वामी ... जी ने डकार ली
हाथ पेट पर फेरा, बोले अधिका खा गया
मर्यादा पुरुषोत्तम प्रभु का ध्यान आ गया।"[30]

त्रिलोचन ने रूबाइयों और गजलों के माध्यम से समाज के बहुत ही निगूढ़ और सूक्ष्म सत्य को सामने लाया है–

"जानकर तू फिजूल रोता है / और मुँह आंसुओं से धोता है
जिंदगी है यह कोई खेल नहीं / खेल भी खेल नहीं होता।"[31]

त्रिलोचन की भाषा में प्रसाद गुण का सौंदर्य है; जिससे अनुभूतियाँ हृदय को छू लेती हैं। त्रिलोचन की भाषा समाज के अनुकूल हैं, चाहें उसकी कविता हो या सॉनेट या फिर रूबाइयाँ; सभी में लोक–धुन का आग्रह है। त्रिलोचन ने जनभाषा के तद्भव, देशज तथा बहुप्रचलित विदेशी शब्दों को अपनाया है। इससे उनकी कविता की भाषा अखबारी भाषा लगती है, और जिसे समझने के लिए सिर नहीं खपाना पड़ता है। जैसे –

"पुकार जो आज उगा रहा हूँ / उगा करेगी यह नित्य यों ही
संभाल कोई इसकी करेगा / कि आप ही विलीन होगी।"[32]

"त्रिलोचन की ज्यादातर कविताओं की मूल प्रकृति बातचीत करनी जैसी है। अपने–आप से संवाद करने जैसी। इस संवाद में ऐसी लय है, मानो कवि किसी धुन में अपने ही से बात कर रहा हो। स्वगत संलाप की एक रें। स्पष्ट संलाप की यह लय उनकी कविताओं को यदा–कदा नाटकीय भंगिमा के करीब ले जाती है। यानी इनमें बोल–चाल की धार है।"[33]

"गीत हो या कविताएँ या सॉनेट, संलाप की लय कहीं भी देखी जा सकती है। त्रिलोचन तो अखबारों की सुर्खियों तक छंद और लय का संधान कर लेते हैं।"[34] उदाहरण दृष्टव्य है –

"इन दिनों तुम बहुत याद आए / जैसे धुन राग के बाद आए।"[35]

त्रिलोचन की लंबी कविताएँ भी लंबी धुन पर आधारित हैं, जिनमें जन–संस्कृति की पुकार है। उनकी एक लंबी कविता है 'नगई महरा' जिसमें लोक–धुनों का समावेश, बिंब, प्रतीक, शब्द–संयोजन सभी ग्रामीण जीवन से आए हैं, जैसे एक उदाहरण दृष्टव्य है –

"गाँव वाले इधर–उधर कहते थे / नगई
सामना हो जाने पर कहते थे / नगई भगत।"[36]

कविता की संवाद–योजना देखिए जिसमें कवि अपने आपसे ही बात करता है –

"मैं सबका मैं हूँ / वैसे ही 'तुम' सब का तुम है।
लेकिन मैं कहाँ हूँ / कहाँ हूँ, मुझे जान लेना है
तुम मेरी परेशानी।"[37]

त्रिलोचन की गजलों में उर्दू और हिंदी शब्दों का अद्‌भुत संयोग बन पड़ा है, जैसे –

"तड़पता हूँ मगर मैं नाम तेरा ले कहाँ पाया,
कभी तेरे किनारे नाव अपनी खे कहाँ पाया

.....

फलों की चाह में मैंने लगाया कल्पतरू कोई
बराबर अश्रु से सींचा कभी फलते कहाँ पाया।"[38]

त्रिलोचन सच्चे लोक कवि हैं, जिनको आम जनता की चिंता रहती है, उनकी कविता उनकी ही लोक भाषा में, सच्चे और पवित्र मानव–हृदय से निकली हुई अभिव्यक्ति है और उन्हीं को उनका पूरा काव्य समर्पित है। "त्रिलोचन की 'कविता प्रत्यक्ष दुनिया के बीच जाकर खड़ी है' या प्रत्यक्ष जीवन और सृष्टि–व्यापार ही यहाँ आ गया है कहा नहीं जा सकता।"[39]

"केदारनाथ अग्रवाल छायावादी अलंकृति, आवेगपरकता और भावुकता का इस्तेमाल प्रगतिशीलता के पक्ष में करते हैं, बहुत दूर तक यही काम नागार्जुन भी करते देखे जाते है, किंतु त्रिलोचन इससे प्रायः मुक्त हैं। वे खुद अपने औजारों का निर्माण करते हैं।"[40] त्रिलोचन की तटस्थता, धीर पद–विन्यास, संयमित, संगीत और संतुलित लयकारी की उनकी प्रत्येक कविता में देखा जा सकता है। "सानेट, गजल, गीतात्मक, छंदों, घनाक्षरी और सवैया का स्वीकार उनकी कविता में है तो यह कवि का सिद्ध कलारूपों के प्रति भावुक लगाव नहीं, जागरूक संबद्धता है।"[41]

केदारनाथ अग्रवाल की कविता में "बिम्ब, उपमान, प्रतीक आदि स्वाभाविक रूप से आकर उनकी काव्यभाषा को सहज मूर्तता प्रदान करते हैं।"[42] केदारनाथ अग्रवाल का कवि कर्म मुख्यतः राजनीतिक काव्य और प्रकृति प्रेम और समाज से संबंधित हैं। केदारनाथ अग्रवाल विचारों से मार्क्सवादी थे, जाहिर है उन्होंने आरंभ से ही शोषण, दमन, अत्याचार का प्रबल विरोध किया और आम जन के मूलभूत अधिकारों के लिए अपना संघर्ष जारी रखा। केदारनाथ अग्रवाल ने ग्राम–शहर दोनों से अपने आत्मीय संबंध रखे हैं। केदार का प्रकृति से गहरा संबंध है। उनके यहाँ प्रकृति पंत के समान कोमल और ऐंद्रजालिक नहीं है; बल्कि सहज, आत्मीय और किसानी, लोक–जीवन से संबंध रखती है। इनका मुख्य जोर था कि कविता की भाषा बोलचाल की भाषा होनी चाहिए। धर्मवीर भरती ने लिखा है कि "किसी एक व्यक्ति की सुखानुभूति या उसके कलाव्यक्तित्व की मौज की समस्या नहीं है– ...व्यापक मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा तभी हो सकती है जब छोटों को भी वहीं महत्व दिया जाए जो बड़ों को दिया जाता।"[43] इसी व्यापक मानवीय चेतना की आवाज है– केदारनाथ अग्रवाल की कविता। केदारनाथ अग्रवाल के काव्य की दृष्टि भावपरक न होकर यथार्थपरक है; क्योंकि इसका मानना था कि सौंदर्य समूचे जीवन में व्याप्त है। केदारनाथ अग्रवाल खेत–खलिहान, धरती और जन–जन की पीड़ा के कवि लगते हैं। केदारनाथ अग्रवाल की दृष्टि में समाज उपेक्षित है,

कलुषित है और उसके पुनर्निर्माण की आवश्यकता है। कवि ने ग्रामीण जीवन से बिम्ब और प्रतीकों को लेकर आम जीवन को अपने काव्य में समेटा है। चाहे वह प्राकृतिक बिम्ब हो या फिर ग्रामीण जीवन का स्वाभाविक चित्रण, सभी काव्य तत्व आम जन की पुकार हैं। कवि प्रकृति के माध्यम से भी मनुष्य जीवन के सुख–दुख की पुकार करता है –

"पेड़ खड़ा / पत्ते गिरते हैं / पत्ते गिरते हैं
गिरते पत्ते उड़ते रहते / उड़ते पत्ते / वृद्ध पेड़ के /
अनुभव कहते–कहते / पत्ते मिटते रहते।"[44]

केदारनाथ अग्रवाल का सौंदर्य प्रकृति से संबंधित हो या ग्रामीण जीवन से, उनका यह संवेदित अनुभव का सौंदर्य है। एकदम सहजता सरल भाषा में अपनी बात को कह देना अनुभव द्वारा ही संभव होता है। मुक्तिबोध ने लिखा है – "सूक्ष्म सुंदर अभिव्यक्ति तो अविरल साधना और श्रम के फलस्वरूप उत्पन्न होती है।"[45]

मुक्तिबोध की काव्य भाषा उनके कथ्य के अनुरूप हैं। कवि में अनुभूति को संप्रेष्य बनाने की अद्‌भुत शक्ति है और लोक–जीवन के तथ्यों को उजागर करने की अद्‌भुत क्षमता है। उन्होंने पारंपरिक भाषा–शैली के मठों और दुर्गों को तोड़कर अपने उद्‌देश्य को भाषिक स्तर पर ही प्राप्त किया है। उन्होंने अगर उनकी कविता में प्राचीन लोक के प्रतीक हैं तो वह फैंटेसी के माध्यम से वर्तमान समाज की व्यवस्था को सामने लाते हैं। उनकी भाषा में वैचित्र्य दिखलाई देता है, उसके दो कारण हैं एक तो त्रासद अनुभवों में जूझना दूसरा अभिव्यक्ति का संकट। उनकी चिंतना के अनुरूप ही भाषा में मौलिकता व ताजगी की दस्तक है। कभी कभी वह संस्कृतनिष्ठ सामासिक पदावली की अलंकृत वीथिका से गुजरती है, कभी अरबी, फारसी तथा उर्दू के नाजुक लचीले हाथों को थामकर चलती है, कभी अंग्रेजी के इलेक्ट्रिक ट्रेन पर बैठकर जल्दी से खटाक्–खटाक् निकल जाती है।

मुक्तिबोध की भाषा समाज का यथार्थ स्थिति की प्रतिफल है। रूसी कवि अलेक्सान्द्र ने सही ही कहा है कि जीवन कवि को सभी पापों के लिए माफ कर सकता है सिवा युग चेतना को धोखा देने के। दरअसल हर कवि की अपनी विशिष्टता और प्रकृति के अनुरूप ही यथार्थ की कविता में अपना आकार प्राप्त करता है। नागार्जुन, त्रिलोचन और केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में प्रकृति और ग्रामोन्मुख लोक चेतना की जीवंत और स्वस्थ सामाजिक जीवन दृष्टि मिलती है। आगे चलकर नागार्जुन ने जनवादी चेतना को न केवल विकसित किया वरन् उसके लिए व्यापक जन समुदाय से संवाद स्थापित करने वाले 'फार्म' की ईजाद भी की।

शमशेर और मुक्तिबोध की कविताओं में प्रगतिवाद दूसरे ही रूप में आता है। इन कवियों ने लोक–चेतना के स्थान पर मध्यवर्ग की पीड़ा को व्यक्त किया। खासकर मुक्तिबोध ने। कवि की भाषा आंतरिक जगत् व वाह्य जगत दोनों रूपों से ग्रसित होती है। जब समयकाल को वहन करते हुए भाषा परंपरा के मोह में बंध जाती है तो नयी चेतना को अभिव्यक्त करने वाला कवि परंपरा में बंधी हुई भाषा को छोड़कर उस भाषा को माध्यम बनाता है, जो उसकी नवीन चेतना को संपूर्णता में स्वीकार कर सके। नवीन चेतना चाहे कवि की हो या फिर उस युग की उसके उसी रूप में अंकुरित और पल्लवित करने के लिए भाषा की परंपराओं को तोड़ना पड़ता है। नयी चेतना नदी की तरह अपने आप मार्ग बना लेती है। मुक्तिबोध की नयी चेतना भी इसी प्रकार की है। मुक्तिबोध की नवीन चेतना की सबसे बड़ी विशेषता उस युग की यथार्थ मौलिक रूप में अभिव्यक्ति है, जो भाषा के माध्यम से समाज की परतों को खोलती है। मुक्तिबोध ने अपनी अभिव्यक्ति को प्रकट करने के लिए जिस शब्द को उपयुक्त समझा उसी शब्द को ग्रहण कर लिया, चाहे वह अंग्रेजी के शब्द हों या फिर उर्दू या मराठी का। उन्होंने निःसंकोच इन शब्दों को अपने काव्य में आत्मसात् किया। मुक्तिबोध की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है

लोक से ज्यों का त्यों शब्दों का प्रयोग जैसे – लहरीले (लहरदार), कुहरीले (कुहरायुक्त), अन्धियाले (अन्धियारे) रक्ताल (रक्तिम)। डॉ. नामवरसिंह ने लिखा है कि – "शब्द चयन की दृष्टि से मुक्तिबोध की भाषा काफी ऊबड़–खाबड़ लगती है। बोलचाल के साधारण शब्दों के बीच कुछ इतने अजनबी समासबद्ध संस्कृत–निष्ठ शब्द आ जाते हैं कि जबान लड़खड़ाती है।"[46]

आधुनिक हिंदी काव्य में मुहावरों का प्रयोग बहुत कम हुआ है; परंतु मुक्तिबोध ने सहज अर्थ देने वाले मुहावरों का प्रयोग किया है, जैसे – खेत रहे, सातवां आसमान, अनसुनी करना, आदि। मुक्तिबोध की काव्य भाषा की एक अन्य विशेषता है क्रियाशीलता या गतिमान शब्दों का चित्र रूप में आना जैसे –

"सामने है अंधियाला ताल और
स्याह उसी ताल पर संवलाई चाँदनी
समय का घंटाघर / निराकार घंटाघर
गगन में चुपचाप अनाकार खड़ा है
परंतु, परंतु बतलाते / जिंदगी के काँटे ही कितनी रात बीत गई
चप्पलों की छप–छप, गली में मुहाने से अजीब–सी आवाज
फुसफुसाते हुए शब्द /
जंगल की डालों से गुजरती हवाओं की सरसर
गली में ज्यों कह जाए / इशारों के आशय।"[47]

'अंधियाला ताल', 'संवलाई चाँदनी', गगन में चुपचाप अनाकार खड़ा' चप्पलों की छपछप', फुसफुसाते हुए शब्द आदि–आदि क्रियाशीलता व शब्दों का चित्रात्मक रूप अन्य कवि के काव्य में दुर्लभ हैं। चाहें वह कवि की मनोदशा का चित्र हो या समाज की मनोदशा का व्यष्टि रूप ही समष्टि का रूप लिए साकार रूप में खड़ा है –

"अधूरी और सतही जिंदगी के गर्म रास्तों पर
अचानक सनसनी भौंचकी
कि पैरों के तलों को काट खाती कौन–सी यह आग।"[48]

मुक्तिबोध ने जिस भाषा का चयन किया उसी के कारण उनकी कविता कुछ हद तक दुर्बोध महसूस होती है। उनकी कविता की भाषा आम जन की बात तो करती हैं, परंतु भाषा आमजन की समझ से बाहर हैं। उसका संप्रेषण तो बहुत जटिल होता है। उदाहरण द्रष्टव्य है –

"मैं जिज्ञासु वृथा हूँ
जाने किस रहस्यमय रक्त–प्रतीक कथा का
अर्थ खोजता ही फिरता हूँ।"[49]

जब मुक्तिबोध फेंटेसी बिम्ब के माध्यम से बात करते हैं तो वह आम पाठक की समझ से बाहर की बात है। इस भाषा के कठिन होने के एक और भी कारण हैं, क्योंकि मुक्तिबोध का शब्द भंडार बहुत संपन्न है। अंग्रेजी, तत्सम, तद्भव हिंदी, उर्दू आदि शब्दों का बेहिचक काव्य में प्रयोग। बगैर संप्रेषण के कविता महानता की ऊँचाइयों को छूती नजर आती है, जो अन्य कवियों में संभव नहीं है। काव्य मुक्तिबोध की आमजन व मध्यवर्ग की अभिव्यक्ति है और उसी जनता के बीच काव्य भाषा का संप्रेषण नहीं हो पाना और कविता को यथार्थ की भूमि पर टिका देना अपने आप में बहुत बड़ी बात है। मुक्तिबोध की भाषा की एक अन्य विशेषता है चित्रभाषा जैसे –

"दीखता / त्रिकोण इस पर्वत–शिखर से
अनाम, अरूप और अनाकार / असीम एक कुहरा
भस्मीला अंधकार / फैला है कटे–फटे पहाड़ी प्रसारों पर
लटकती हैं मटमैली / ऊँची–ऊँची लहरें
मैदानों पर सभी ओर।"[50]

तत्सम शब्दावली –

"सब तरफ अकेला /
शिखर पर खड़ा हूँ / लक्ष–मुख दानव–सा लक्ष–हस्त देव–सा।
परंतु यह क्या / आत्म–प्रतीति भी धोखा दे रही।।

स्वयं को ही लगता हूँ / बांस के व कागज के पुट्ठे के बने हुए
महाकाव्य रावण–सा हास्यस्प्रद / भयंकर।"[51]

मुक्तिबोध के काव्य में अलंकृत भाषा नहीं मिलती परंतु अर्थगर्भित भाषा मिलती है। डॉ. मौर्य जी ने ठीक ही कहा है– "वास्तव में वे शब्दों के शिल्पी हैं वे ऐसे जौहरी हैं जो शब्दों की शक्ति से शब्दों की आभा और सबसे बढ़कर शब्दों की आत्मा को परखना जानते हैं। एक कुशल शिल्पी की तरह वे शब्दों को छांट–छांट कर प्रयोग करते हैं। और जहाँ जरूरत हुई वहाँ उसे तराश भी देते हैं। भले ही उसका आकार शब्दों से भिन्न हो जाए। ऐसे कुशल शिल्पी की भाषा में आधुनिक युग की नयी चेतना पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हुई है।"[52] मुक्तिबोध भाषा को गढ़ते हैं, नये संदर्भों में अभिव्यक्त करते हैं। उन्होंने अपने अनुभवों से भाषा को नये तेवर प्रदान किए हैं। हर एक शब्द अर्थ की गहराई तथा व्यापकता की अभिव्यक्ति हैं। भाषा की दिशा भीतर से बाहर की ओर हैं। वह संज्ञा, विशेषण, मुहावरे, पदबंध, बिंब, आदि से परिपूर्ण लोकोन्मुख भाषा है। जिस प्रकार अज्ञेय ने शब्दों में नया अर्थ भरा है; उसी प्रकार मुक्तिबोध ने प्राचीन शब्दों को नवीन अर्थ के रूप में प्रयोग किया है। "मुक्तिबोध वस्तु और रूप में पार्थक्य नहीं मानते। अतः रूप पर पूरा ध्यान देते हैं। आत्म–संघर्ष को रूपायित करने के लिए आत्मालाप की शैली अपनाना आवश्यक था।"[53] प्रतीक, बिम्ब देशी संस्कारों में ढले हुए हैं।

शमशेर की कविता प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता की विशेषताओं का बगीचा है। जिसमें तरह–तरह के फूल खिलते हैं और मनुष्य को अपने रंगों में रंगने के लिए लालायित हैं। शमशेर की कविता में अनेक रंगों का समायोजन हुआ है। जब अंग्रेजी साहित्य में कलाओं का चरम साध्य संगीत को माना जाता है तो यही चरम साध्य संगीत शमशेर की कविता में शुरू से अंत तक विराजमान है। जो मनःस्थिति को उभारते–उभारते चित्रकला का रूप धारण कर लेती है। मनःस्थिति, संगीत व चित्रकला इस त्रिवेणी का नाम शमशेर की कविता है। "भाषा

में बोलचाल के गद्य का लहजा और लय संगीत का चरम अमूर्त्तन इन दो परस्पर प्रतिरोधी मनःस्थितियों को उनकी कला साधती हैं।"[54]

डॉ. रामविलास शर्मा ने शमशेर की कविता के बारे में लिखा है – "शमशेर की रचनाओं में काव्य–कौशल को लेकर उधेड़बुन ज्यादा है। कहीं लोकगीत कहीं गजल, कहीं मुक्त छंद और इनमें बहुत तरह की किस्म, कहीं सफल, कहीं असफल।"[55] खैर उपर्युक्त वक्तव्य में सब कुछ तो ठीक परंतु कहीं असफल शब्द या कविता को कहीं असफल कह देना समझ से बाहर है। यह असफलता शमशेर की समस्या नहीं बल्कि खुद शर्मा जी की समस्या है जो कहीं–कहीं पर उनकी कविता में भानुमती का कुनबा ढूँढती हैं।

इसी काव्य–कौशल के सामंजस्य के बारे में डॉ. गोबिन्द प्रसाद ने अपने विचार भी दिए हैं जो अधिक तर्क–संगत हैं – "प्रेम, सौंदर्य और संघर्ष के जितने भी रूप और रंग हैं सबका स्वर बहुत सच्चा, खरा और हाँ, अतिशय तन्मयता और अजब वैराग्य के साथ–साथ अद्‌भुत अंतः सौंदर्य और अनोखापन लिए।"[56] आगे लेखक लिखते हैं कि उनकी कविता उनके कवि की आत्मा और अंतःकरण का वह आयतन है जिसमें एक ही साथ 'धुआं धुआं / सुलग रहा / ग्वालियर के मजदूर का हृदय से लेकर "एक ठोस बदन अष्टधातु का–सा तक में उनके कवि व्यक्तित्व के अदृश्य सागर का एक जुनून है जिसमें –

"सब तुकें एक हैं / यानी कि मेरा / खून।"[57]

शमशेर की कविता का बिम्ब और चित्रों के माध्यम से अपनी परिणति को पहुँचती है। और उनकी कविता का सौंदर्य विधान है वह आम जन के लिए है। शमशेर की कविता में राग भी है विराग भी। "शमशेर में देश से अधिक काल की प्रतीति है। एक विशेषण 'पीली' का बिंब पतझर कृज्ञता, अवसाद, थकान की न जाने कितनी भंगिमाएँ उभरता है।"[58]

एक पीली शाम / पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता
शांत / मेरी भावनाओं में तुम्हारा मुखकमल
कृश म्लान हरा–सा / (कि मैं हू वह)
मौन दर्पण में तुम्हारे कहीं"

.....

अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आंसू
सांध्य तारक–सा / अतल में।"[59]

'पत्ता' यहाँ मानव जीवन के प्रतीक रूप में आया है। 'कृश म्लान हरा–सा' 'कृश शब्द दुबला पतला मनुष्य का प्रतीक है। उपादान से तन्मयता की पुष्टि होती है। थके हारे मनुष्य के लोक को उजागर करती कविता में प्रेम और प्रकृति को मिलाकर रखा गया है। शाम और किसान जीवन का चित्र, पशु–पक्षी, गरीब किसान–मजदूर का ऐसा चित्र शायद ही कहीं और देखा जाए –

"शाम होने को हुई, लौटे किसान / दूर पेड़ों में बढ़ा खग–रव
धूल में लिपटा हुआ आसमान / शाम होने को हुई नीरव।
तू न चेता काम से थककर / फटे–मैले वस्त्र में कमकर
लौट आए खोलियों में मौन / चेतने वाला न तू–है कौन।"[60]

शमशेर की कविता लोक राग का अच्छा उदाहरण है, वे हिंदी, उर्दू, तद्भव शब्दों में अपनी बातों को बहुत ही आसानी से कह देते हैं। नागार्जुन, त्रिलोचन व केदारनाथ अग्रवाल का–सा लोक–जीवन तो शमशेर की कविताओं में नहीं है, परंतु कविता हो या गजल–रूबाईं सभी में लोक धुन का सामंजस्य है। गजल का एक उदाहरण दृष्टव्य है –

"उलट गए सारे पैमाने, कासागरी क्यों बाकी है
देस के देस उजाड़ हुए, दिल की नगरी क्यों बाकी है
कौन है अपना कौन पराया, छोड़ो भी इन बातों को
इक हम तुम है खैर से अपनी पर्दादरी क्यों बाकी है।"[61]

रूबाई में शमशेर की धनीभूत पीड़ा –

"हम अपने ख्याल को सनम समझे थे
अपने को ख्याल से भी कम मुझे थे
होना था – समझना न था, कुछ भी शमशेर
होना भी कहाँ था वह जो हम समझे थे।"[62]

कविता में लोक–जीवन –

"बात बोलेगी / हम नहीं
भेद खोलेगी / बात ही
.....

दैन्य दानव, काल / भीषण क्रूर
स्थिति कंगाल / बुद्धिः घर मजूर।"[63]

शमशेर के बारे में नामवर सिंह ने लिखा है – "अपनी कार्यशाला में शमशेर अकेले चाहे जितने हों, लोग–बाग से वह काफी भरी–पूरी है। कितनी कविताएँ सिर्फ व्यक्तियों पर हैं। इतने व्यक्तियों पर शायद ही कभी कवि ने कविताएँ लिखी हों। ये व्यक्ति क्या वे सूत्र हैं जिनके माध्यम से वे दुनिया के इंसानों से जुड़ने की कोशिश करते हैं। समाज अमूर्त संकल्पना है।"[64]

शमशेर ने कुछ मुक्तक भी लिखे हैं जो क्रांति का संदेश देती हैं और समाज को आंदोलन के लिए सचेत करती हैं –

"भाव थे जो शक्ति–साधन के लिए
लुट गए किस आंदोलन के लिए।
यह सलामी दोस्तों को है मगर
मुट्ठियाँ तनती हैं दुश्मन के लिए।"[65]

प्रगतिशील कविता का लोक भी और आलोक में काव्य–सृजन समाज निर्माण की धर्मशाला है। ऐसी धर्मशाला जिसमें सामाजिक अधिकारों से वंचित लोगों को शरण दी जाती है। इस पुण्य कार्य को नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, मुक्तिबोध व शमशेर ने अपना कर्तव्य समझकर निभाया है। उन्हीं की

जुबां में उन्हीं के लिए लड़ना किसी कवि के लिए स्वर्ग प्राप्ति जैसा है। हर तरह से भाषा के विभिन्न रूपों को अपनाकर सामाजिक संदेश दिया है। कहीं लोक मुहावरे का प्रयोग, कहीं लोक धुनों पर आधारित गीत, कहीं–कहीं गद्य–पद्य का मिटता अंतराल लगता है। इन कवियों ने लोक शैली में अपनी बात को लोगों तक पहुँचाने का अपना धर्म बना लिया। समाज में प्रचलित, संस्कृत, तत्सम, तद्भव, उर्दू, हिंदी, अंग्रेजी, मराठी भाषा से लिया गया शब्दकोश अद्भुत है। हर शब्द का सामान्यीकरण। एक ऐसी भाषा का निर्माण जिसमें पूरे–के–पूरे समाज का संप्रेषण होता हो, इन कवियों की काव्य–सृजन में।

बिम्ब और प्रतीक सृष्टि में लोक–जीवन का आग्रह

प्रगतिशील कविता अपने को बिम्ब और प्रतीकों के माध्यम से भी अभिव्यक्त करती है। बिम्ब अंग्रेजी के 'इमेज' शब्द का हिंदी रूपांतरण है। लेविस बिम्ब को शब्द–निर्मित चित्र मानता है, परंतु यह एक मत है, डॉ. बच्चन सिंह ने इसको परिभाषित करने की कोशिश की है – "यह ऐंद्रिय माध्यम द्वारा आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक सत्यों तक पहुँचने का मार्ग है, बिम्ब किसी अमूर्त विचार अथवा भावना की पुननिर्मित है, बिम्ब पदार्थों के आंतरिक सादृश्य की अभिव्यक्ति है।"[66] वास्तव में यह परिभाषा अपूर्ण है। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार – "बिम्ब योजना विभाव के अंतर्गत होती है, चित्रण उसका मुख्य धर्म है। इसकी दूसरी विशेषता है संश्लिष्ट रूपविधान। बिम्ब, व्यक्ति या विशेष का होगा, सामान्य या जाति का नहीं। कविता में बिम्ब ग्रहण होता है, अर्थग्रहण नहीं। उन्होंने लिखा है, काव्य का काम कल्पना में बिम्ब 'इमेज' या मूर्त भावना उपस्थित करना है, बुद्धि के सामने कोई विचार (कंसेप्ट) लाना नहीं।"[67] अर्थात् इसको संक्षेप में कहा जाए तो किसी भाव, विचार, वस्तु, घटना का इंद्रिय बोध काल्पनिक भावों के माध्यम से जो चरित्र, या घटना दृश्य–पटल पर उभर आता है उसे हम बिम्ब कह सकते हैं। बात इतने से ही नहीं बनेगी अब एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है भाव, कल्पना व बिम्ब का क्या संबंध है।

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार "काव्य बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छवि है, जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।"[68] डॉ. नगेन्द्र ने बिम्ब को कल्पना द्वारा निर्मित माना है, जिसके मूल में भाव की भूमिका होती है, अर्थात् भावों के माध्यम से कल्पना बिम्ब का रूप धारण करती है। आचार्य शुक्ल जी का मानना है कि कविता की भाषा बिम्ब की भाषा होती है; क्योंकि काव्य में बिम्ब का इतना महत्व होता है कि पश्चिम बिम्बवाद एक आंदोलन ही चल पड़ा था। शुक्लजी का मानना है कि बिम्ब ही कविता नहीं होती, परंतु बिम्ब कविता का महत्वपूर्ण उपकरण होता है। काव्य–भाषा छंद, अलंकार परिवर्तनीय है परंतु बिम्ब अपरिवर्तनीय है। अतः स्वाभाविक है कि बिम्ब महत्वपूर्ण उपकरण है। माइसेल ओत्स्यान्निकोव लिखते हैं कि – "कलात्मक बिम्ब सच्ची कला का एक अभिन्न गुण है, कला का पतन वहीं से शुरू होता है, जहाँ से कलात्मक बिम्ब का ह्रास शुरु होता है।"[69] ह्यूम का मानना है कि – "शब्दों के पाठक को अधिक से अधिक प्रभावित करने की क्षमता के रूप में शब्द में अवितधता का होना वे अनिवार्य मानते हैं।"[70] इन कवियों के माध्यम से कहा जा सकता है कि बिम्ब के माध्यम से शब्दों की कम खर्ची, भाषा के समास गुण, कम से कम शब्दों के प्रयोग से अधिकाधिक अर्थ–व्यंजना को महत्व दिया जाता है।"[71] बिम्ब के संदर्भ में डॉ. निर्मला जैन ने लिखा है कि – "इनके अप्रस्तुत चयन का आधार भी रूप साम्य न होकर प्रभाव साम्य हो गया है परिणामतः इन चित्रों में वर्ण्य के प्राणों का स्पंदन मिलता है, इन चित्रों में प्रेम में बंधे जड़ चित्र नहीं हैं चलते–फिरते, जीते–जागते चित्र प्रतीत होते हैं। इनमें पूर्ववर्ती साहित्य की चित्रण कला में यही उत्तर है जो 'फोटोग्राफी' और सिनेमेटोग्राफी में होता है।"[72]

तब हम कहते हैं कि सर्जन व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य में ही संभव है तो काव्य सृजन को विशिष्ट बनाने में बिम्ब का विशिष्ट स्थान है। बिम्ब न केवल काव्य के अर्थ की परते खोलता है, बल्कि काव्य में जीवंतता, चित्रात्मकता व प्रभावशाली

बनाने में बिम्ब का योगदान होता है। वह काव्य को पाठक के सामने रंगमंच पर उपस्थित कर देता है, जिससे काव्य को समझने में भी आसानी होती है। काव्य को बिम्ब व प्रतीक हमेशा जीवंत रखते हैं। वैसे नयी कविता की प्रमुख विशेष्ता रही है बिम्ब विधान। जो स्थान प्राचीन काव्य में कल्पना का था, वही स्थान आधुनिक कविता में बिम्ब विधान का है। इनके माध्यम से अपने अतीत के चलचित्रों व नवीन चित्रों को बिम्ब के माध्यम से नया परिवेश गढ़ देता है। बिम्ब का काव्य में विशिष्ट स्थान ही नहीं; बल्कि कविता को समझने में भी यह हमारी मदद करता है।

प्रत्येक कवि का अपना अलग–अलग बिम्बों का संसार होता है। कहीं कवि कोमल बिम्बों का प्रयोग करता है; कहीं भयंकर वातावरण के बिम्बों का माध्यम चुनता है। गाँव–शहर, नदी–नाले, मैदान–पहाड़, पेड़–पौधे, फूल–पत्ती, गली–कूचे, किसान–मजदूर, खेत–खलिहान, प्रकृति, जमीं–आसमान, खोह, खंडहर, जंगल आदि विभिन्न जगह से कवि बिम्बों को काव्य सर्जन के लिए उठता है। वैसे छायावादी कविता में बिम्ब का अधिक प्रयोग हुआ है और उनकी कविता इसके माध्यम से प्रभावशाली भी बनी हैं। जैसे निराला की 'राम की शक्तिपूजा' में निराला ने 'राम को जानकी की कुमारी' छवि 'स्मरण बिम्ब' का उदाहरण है –

"काँपते हुए किसलय–झरते पराग–समुदाय
गाते खग नव जीवन परिचय तरू मल–वलय
ज्योतिः प्रपात स्वर्गीय–ज्ञात छवि प्रथम स्वीय
जानकी नयन कमनीय प्रथम कंपन तुरीय।"[73]

जानकी के सौंदर्य प्रपात बिंब मानो समस्त प्रणयालोक को आलोकित कर रहा हो। पाठक के सामने कविता बिम्ब, चित्रों के माध्यम से ही उपस्थित होती है। इसी प्रकार महादेवी वर्मा के बिम्ब सामग्री में प्रमुखतः अंधकार प्रकाश, तूलिका, रंग, तारे, चाँदनी जैसी कोमल वस्तुएँ हैं। पीछे मैंने जिक्र किया था हर कवि का

अपना–अपना बिंबों का संसार होता है। छायावादी कवियों का अपना अलग बिंब संसार है और प्रगतिवादी कवियों का अपना अलग बिंब संसार है। प्रगतिशील कवियों ने अनेक बिंबों का प्रयोग किया है, मुक्तिबोध के लक्षित बिम्ब अनेक स्थान पर मिलते हैं। 'ब्रह्मराक्षस' कविता में खंडहर का जो चित्रण किया गया है वह शिल्प के सभी उपकरणों के साथ हमारे सामने उपस्थित है –

"शहर के उस ओर खण्डहर की तरफ
परिव्यक्त सूनी बावड़ी / के भीतर
ठण्डे अँधेरे में / बसी गहराइयाँ जल की
सीढ़ियाँ डूबीं अनेकों / उस पुराने घिर पानी में...
समझ में आ न सकता हो / कि जैसे बात का आधार
लेकिन बात गहरी हो।"[74]

प्रगतिशील कवियों की विशेषता रही है कि उनका 'बिम्ब' व 'प्रतीक' विधान से सामाजिक व राजनीतिक यथार्थ का बोध होता है। 'खण्डहर, बावड़ी, अंधेरा, मौन, औदुम्बर घोंसले, भूरे, गोल, मनोहर, टगर, मुँडेर, आदि प्रतीक मुक्तिबोध की कविता में ही मिलेंगे। नागार्जुन की एक प्रसिद्ध कविता है 'सिंदूर तिलकित भाल' जिसमें सभी 'प्रतीक' ग्रामीण जीवन के हैं जिसको पढ़ने पर पाठक के सामने सीधा–साधा ग्रामीण–जीवन व मजदूर–किसान का बिम्ब उभरकर आँखों के सामने आता है –

"घोर निर्जन में परिस्थिति ने दिया है डाल
याद आता है तुम्हारा सिंदूरतिलक्ति भाल।
कौन है वह व्यक्ति जिसकी चाहिए न समाज।
कौन है वह एक जिसको पड़ता दूसरे से काज।"[75]

नागार्जुन के 'सिंदुर तिलकित भाल' प्रतीक है, प्रेम का, प्रगाढ़ संबंधों का, अपने पारिवारिक प्रेम का। ऐसे पारिवारिक प्रतीक प्रगतिशील कविता में ही संभव हैं। इन प्रतीकों के माध्यम से अपने पूरे परिवार, गाँव, समाज का विम्ब उभर कर

आंखों के सामने आ जाता है। 'काज' शब्द ग्रामीण संस्कृति का प्रतीक यह शब्द प्रगतिवादी कविता, प्रयोगवादी, नई कविता, समकालीन कविता या फिर अकविता में ही संभव है। 'काज' चूंकि मैथिली शब्द है जिसमें आंचलिकता के साथ–साथ वहाँ के लोक–जीवन का प्रतीक है। यह शब्द शहर या नगरीय संस्कृति में नहीं मिलेगा। इसलिए जो बिम्ब इस शब्द में 'काज' के माध्यम से आता है वह लोक–जीवन का ही हो सकता है। नागार्जुन की कविता की विशेषता है कि उनके एक–एक शब्द में पूरा समाज बिम्ब के रूप में सामने आ जाता है।

शमशेर को तो बिम्ब एवं प्रतीकों का ही कवि कहा जाता है। डॉ. गोबिन्द प्रसाद बिम्ब पर चर्चा करते हुए लिखते हैं कि "साहित्य में बिम्बवाद के गर्भ को केवल तथाकथित कलावादियों ने ही पहचाना। प्रगतिशील कहे जाने वाले शमशेर बहादुर सिंह व एक सीमा तक केदारनाथ जैसे कवि भी इसकी जकड़ में थे।"[76]

शमशेर की काव्य भाषा एक विशिष्ट पहचान है 'निजता' जिसके कारण भाव–विचार तथा संवेदनाएँ चित्र रूप में आती हैं कि फैसिरस का मानना है कि – "किसी भी जाति का स्वभाव उसकी भाषा में प्रतिबिम्बित होता है।"[77] यह बात शमशेर के बारे में बिल्कुल सत्य है। मिथ, बिम्ब, प्रतीक व प्रकल्पनाएँ ये सभी भाषा के तत्व हैं जो कविता की परत–दर–परत खोलते जाते हैं और भाषा को गतिशील बनाते हैं। इन विशेषताओं के साथ–साथ शमशेर की भाषा संज्ञा प्रधान है जो प्रतीकात्मक अर्थों की भी व्यंजना करती हैं –

"और यह पक्का चबूतरा / ढाल में चिकना
सुतल था / आत्मा के कल्पतरु का।"[78]

प्रतीकात्मक अर्थों में नागार्जुन भी कविता करने में अन्य कवियों से पीछे नहीं हैं –

"फैला कर टांग / उठा कर बाहें
अकड़ कर खड़ा है भुस–भरा पुतला

कर रहा है निगरानी / ककड़ी–तरबूज की
सो रहा होगा अपाहिज मालिक घर में निश्चित हो।"[79]

शमशेर ने छोटी–छोटी बिम्बवादी कविताओं को भी लिखा है –

"सूना–सूना पथ है, उदास झरना
एक धुँधला बादल रेखा पर टिका हुआ आसमान
जहाँ वह काली युवती / हंसी थी।"[80]

यह बिम्बवादी प्रवृति शमशेर में आगे और सघन होती चली गई –

"जो कि सिकुड़ा हुआ बैठा था, वो पत्थर
सजग–सा होकर पसरने लगा
आप से आप।"[81]

'बिम्ब', 'प्रतीक' व कल्पना का अद्‌भुत सामंजस्य उनकी 'पूरा आसमान का आसमान' कविता में मिलता है –

"पूरा आसमान का आसमान है / एक इंद्रधनुषी ताल
नीला साँवला हलका गुलाबी / बादलों का धुला
पीला धुआँ / मेरा कक्ष, दीवारें किताबें मैं सभी
इस रंग में डूबे हुए से / मौन।"[82]

शमशेर की कविता में सांवला, गुलाबी, पीला, आदि विशेषणात्मक बिम्बों का प्रमुख प्रयोग हुआ है। शमशेर को तो बिम्बों का ही कवि कहा जाता है। बिम्बों की दुनिया में केदारनाथ अग्रवाल की कविता भी अग्रिम पंक्ति में खड़ी है –

"जल रहा है / जवान होकर गुलाब
खोल कर होंठ / जैसे आग / गा रही है फाग।"[83]

अगर हम शमशेर की कविता को केवल बिम्ब मान लें तो इसमें कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी; क्योंकि कभी–कभी लगता है कि इनकी कविता 'बिम्ब' के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। इसी संदर्भ में उनकी 'उ़षा' कविता को देखा जा सकता है –

"प्रात नभ था बहुत नीला शंख जैसे
भोर का नभ
राख से लीपा हुआ चौका
(अभी गीला पड़ा है)
बहुत काली सिल जरा से लाल केसर से
कि जैसे धुल गई हों।"[84]

इस कविता को पढ़ने पर लगता है कि कविता केवल 'कला–मात्र' है। शमशेर ने 'ध्वनि' बिम्बों का भी प्रयोग किया है जिसमें वह बहुत सफल रहे हैं –

"एक नीला दरिया बरस रहा है
और बहुत चौड़ी हवाएँ हैं
.....

और हवाएँ / मेरे सीने रहीं हैं / एक रोमान
जो कहीं नहीं है मगर जो मैं / हूँ हूँ
एक गूँज ऊबड़–खाबड़ / लगातार।"[85]

शमशेर, नागार्जुन, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल व शमशेर व मुक्तिबोध ने यथार्थवादी बिम्बों का ही अधिक प्रयोग किया है; सभी से एक–एक उदाहरण दृष्टव्य हैं –

नागार्जुन –

"खूब गए / दूधिया निगाहों में
फटी बिवाइयों वाले खुरदरे पैर
धँस गए / कसम–कोमल मन में
गुट्ठल घटठों वाले कुलिश–कठोर पैर।"[86]

शमशेर –

"शाम होने को हुई, लौटे किसान / दूर पैड़ों में बढ़ा खग–ख।
धूल में लिपटा हुआ है आसमान / शाम होने को हुई, नीरव।"[87]

त्रिलोचन की कविता में किसानी जीवन, परिवार, मजदूर, गरीबी, मुक्ति कामना के अधिकाधिक चित्र उकेरे गये हैं। केदारनाथ अग्रवाल की कविता में श्रम से संबंधी बिम्ब बहुत आते हैं। उन्होंने न केवल प्रकृति को बिम्बों में उकेरा है बल्कि उसे प्रतीकात्मक भी बनाया है। केदारनाथ अग्रवाल ने अन्याय और शोषण, क्रांति चेतना आदि स्थितियों को, कोहरे, तिमिर ठूंठ, धूप, सूरज, फसल, आग आदि को बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से उकेरा है। विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है – "केदारनाथ बिम्बों के कवि हैं, ऐसे बिम्बों के कवि जो सकर्मकता से निर्मित बिम्ब हैं।"[88] केदारनाथ अग्रवाल के बिम्ब कर्म व संघर्ष से जुड़े हैं –

"युग की गंगा / पाषाणों पर दौड़ेगी ही
लंबी ऊँची / पथ को रोके / चट्टानों को तोड़ेगी ही।"[89]

केदारनाथ ने पूंजीपतियों के शोषण–चक्र को ही अपने कविता में बिम्ब के माध्यम से मूर्त रूप दिया है –

"तेल पीते / मालामाल हुए मौज मारते हैं,
ऐश्वर्य की चिमनी से / भीतरी धुआँ बाहर उछालते हैं।"[90]

चूँकि बिम्ब मानवीय संवेदना पर आधारित हैं। अतः इनका संबंध ऐंद्रिकता से है। इसलिए इनका वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। मुक्तिबोध, नागार्जुन केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर, त्रिलोचन आदि की कविताओं में गत्यात्मक सामाजिक बोध वाले बिम्बों का खूब प्रयोग हुआ है। प्रगतिवादी कवियों ने लोकोत्तर बिम्बों की जगह बिम्बों के यथार्थदर्शी रूप को पकड़ा है। बिम्ब केवल, क्रीड़ा, कल्पना या शक्ति के लिए नहीं है; बल्कि यथार्थ की पहचान और सामाजिक बोध कराते हैं। मुक्तिबोध ने दो बातें कहीं हैं ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान। बिम्ब का संबंध कवि की संवेदना से है; वह उसके संपूर्ण जीवन की पूंजी होती है। इसलिए कहा जाता है कि बिंब वैयक्तिक स्तर पर भी रचा जा सकता है, परंतु शीर्षक संपूर्ण समाज को ध्यान में रखा जाता है। साहित्य में प्रतीक का प्रयोग प्राचीन

समय से होता रहा है। भारतीय साहित्य में 'प्रतीक' की चर्चा कहीं अलग से नहीं हुई है अपितु काव्य उपकरणों के रूप में ही यह मिलता है। आचार्य शुक्लजी ने कहा है कि 'प्रतीकों का प्रयोग हमारे यहाँ काव्य में बहुत कुछ अलंकार प्रणाली के भीतर हुआ है।

प्रतीक अपने काव्य का बोध कराते हैं वह अपने साथ अनुभूति का संसार लाता है। प्रतीक का शुरुआती दौर भारतीय साहित्य में आध्यात्मिक रहा है; परंतु जब हम कहते हैं कि प्रगतिवादी कविता सामाजिक यथार्थ का बोध कराती है तो प्रगतिवादी कवियों की कविता में 'प्रतीक' समाज का एहसास कराता है। प्रतीक के माध्यम से कवियों ने सूक्ष्मता एवं समाज में गहरी एकता का बोध कराया है। वैसे प्रतीक के माध्यम से कवियों ने ऐतिहासिकता, पौराणिकता और आध्यात्मिकता का भी बोध कराया। प्रगतिशील कवियों ने आध्यात्मिकता के चक्कर में ना पड़कर सामाजिक चेतना का ही एहसास कराया और साथ–साथ नागार्जुन व मुक्तिबोध ने पौराणिक 'प्रतीक' का सहारा भी लिया है। मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता है – 'लकड़ी का बना रावण' रावण जो पूंजीवादी सत्ता का प्रतीक है। उदाहरण दृष्टव्य है –

"दीखता / त्रिकोण, इस पर्वत–शिखर से
अनाम, अरूप और अनाकार / असीम एक कुहरा
भस्मीला अंधकार।"[91]

इस कविता में पर्वत–शिखर शोषण का प्रतीक है जो परिमाणात्मक व गुणात्मक अंतर बताता है। इसी कविता में आए रावण, नर–वानर, लंगूर पौराणिक युग के प्रतीक हैं। अंधकार शब्द व्यवस्था के प्रतीक के रूप में आया है। मुक्तिबोध की कविता की विशेषता है कि वह फैंटेसी के माध्यम से वातावरण तैयार करती है। बिम्ब व प्रतीक के माध्यम से कविता की बुनावट होती है जो कविता के अर्थ को परत–दर–परत खोलती जाती है, जैसे 'ब्रह्मराक्षस' कविता में ब्रह्मराक्षस

मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का प्रतीक है। मुक्तिबोध के मुख्य प्रतीकों में – अंधेरा, भस्माकार, बावड़ी, कुहरा, पहाड़ी–पर्वत, पक्षी, करफ्यू, रोशनी, नाखून, सन्नाटा, नक्षत्र, गुम्बद, लाल, शून्य, अरूण, चाँद, तारे आदि प्रतीकों का ज्यादा प्रयोग हुआ है।

जब हम कहते हैं कि प्रतीकों का जन्म कवि की संवेदना और कल्पना के द्वारा होता है तो प्रगतिशील कवियों ने अपनी संवेदना एवं कल्पना के माध्यम से जो यथार्थ था उसी को ही व्यंजित किया। इन कवियों की संवेदना समाज से जुड़ी हुई थी।

नागार्जुन की कविता प्रतीक भाषा में एक नवीन शक्ति व नयी अर्थवत्ता प्रदान करती है, जो व्यंग्यात्मक शैली को और भी प्रखर बनाती है। नागार्जुन ने प्रतीकों का प्रयोग अपनी कविताओं में समसामयिक समस्याओं, नेताओं और अंतर्राष्ट्रीय व्यक्तियों पर व्यंग्य के लिए किया है 'परसों था जंगल का राजा, कल था घायल शेर' में कांग्रेस कर्मियों पर व्यंग्य किया है। सिंदूर तिलकित भाल प्रतीकात्मक कविता है जिसमें कवि ने सिंदूर के माध्यम से प्रेम संबंधों को प्रतीक विधान के माध्यम से उकेरा है। 'नेवला' प्रेत का बयान, शासन की बंदूक, रानी मक्खी, 'आओं' एक बंदरिया, अच्छा हुआ कि जनता को मिल गयी तुम्हारी चाह और 'बूढ़ा शेर' आदि प्रमुख प्रतीकात्मक कविताएँ हैं। नागार्जुन की कविता में प्राकृतिक, सांस्कृतिक व जीवन के सभी रंगों के प्रतीक आए हैं।

प्राकृतिक प्रतीक का उदाहरण दृष्टव्य है –

> "अमल धवल गिरि के शिखरों पर
> बादल को घिरते देखा है / छोटे–छोटे मोती जैसे
> उसके शीतल तुहिन कणों को / मानसरोवर के उन स्वर्णिम
> कमलों पर गिरते देखा है / बादलों को घिरते देखा है।"[92]

प्राकृतिक प्रतीक सोनिया समंदर कविता में भी हुआ है –

"सोनिया समंदर / सामने लहराता है /
जहाँ तक नजर आती है / सोनिया समंदर।"[93]

'सोनिया समंदर' यहाँ किसान की पकी फसल के प्रतीक रूप में आया है। मैथिली कविताओं में जीवन से संबंधित विविध प्रतीकों का वर्णन हुआ है। राजनीति से संबंधित प्रतीकों में 'रानी मक्खी' देश की राजनीति पर 'चिड़िया घर' भ्रष्ट राजनीतिक प्रतीक रूप में आया है। 'प्रेत का बयान' कविता शोषण–चक्र के प्रतीक रूप में है।

शमशेर की काव्य भाषा कहीं बोलचाल कहीं छायावादी बोध के निकट है, तो कहीं उर्दू के नजदीक हो जाती है। उनकी यह भाषिक विविधता प्रतीक विधान का निर्माण करती है। पीछे मैंने जिक्र किया है कि प्रतीक समाजबोध से ग्रसित रहते हैं, जिनका संबंध समयकाल एवं समाज से अपनी परिस्थितियों से होता है। उनके सामाजिक चेतना के सांचे प्रतीक हैं। इसी सामाजिक चेतना को उनकी कविता 'वाम वाम वाम दिशा' में बखूबी देखा जा सकता है –

"वाम वाम वाम दिशा / समय साम्यवादी
पृष्ठभूमि का विरोध अंधकार–लीना व्यक्ति....
कुहाड स्पष्ट हृदय भार, आज हीन।
हीन भाव, हीन भाव। / मध्यवर्ग का समाज दीन।
किंतु उधर / पथ–प्रदर्शिका मशाल...।"[94]

यहाँ पर अंधकार व्यवस्था का व मशाल क्रांति के प्रतीक के रूप में आया है। अंधकार व मशाल ही नहीं शमशेर प्रकृति के भी चितेरे कवि हैं।

प्राकृतिक प्रतीक भी उनकी कविता में, जैसे – धूप, पीली शाम, सागर, चांद, आदि–आदि आया है। शमशेर ने जीवन के हर क्षेत्र से प्रतीकों को चुना है। इसी प्रकार अगर हम त्रिलोचन की व केदारनाथ अग्रवाल की कविता को पढ़ते हैं तो प्राकृतिक प्रतीक ही अधिक पाते हैं हमें ऐसा नहीं है। सामाजिक सौंदर्य के

प्रतीक तो इनकी कविताओं में भरे हुए हैं जो उनकी आशावादी दृष्टिकोण को उजागर करते हैं –

"हमारे हाथों में हल है। हमारे हाथ में बल है।
कि हम बंजर को तोड़ेंगे। बिना तोड़े न छोड़ेंगे।"[95]

'हल' किसान की शक्ति के प्रतीक के रूप में आया है। किसान–मजदूर के जीवन से संबंधित प्रतीक शायद ही प्रगतिवादी कविता के अलावा इतने गहरे रूप में अन्य कविता में आये हों। अगर इन कवियों के पास प्राकृतिक प्रतीक हैं तो वह भी सामाजिक जीवन से अलग नहीं हैं जैसे –

"आने दो, आने दो, जनता को मत रोको,
पर्वत की दुहिता है, रुकने वाली है,
पथ दो, प्याऊ बैठा दो, चलते मत टोको
बल प्रयोग देख कर झुकने वाली है।"[96]

पर्वत की 'दुहिता' शब्द जनता के प्रतीक रूप में आया है। जो कवियों के सामाजिक पक्ष को उजागर करते हैं अगर कहीं व्यक्तिगत प्रतीक हैं भी तो वह सामाजिक पक्ष से कहीं–न–कहीं जाकर जुड़ जाता है।

बिम्ब एवं प्रतीक इन पाँचों प्रगतिशील कवियों के काव्य में औजार के रूप में आये हैं; क्योंकि कविता में बिम्ब प्रतीक का सहायक होना कविता को संप्रेषणीयता प्रदान करना है। नागार्जुन हो या मुक्तिबोध, इनके काव्य में समाज के लिए बिम्ब व प्रतीक आए हैं। नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर इनसे अलग मुक्तिबोध ने प्राचीन प्रतीक विधान का भी प्रयोग किया है; क्योंकि इनकी कविता मुख्यतः फैंटेसी का सहारा लेती हैं। इसलिए पुराने प्रतीक भी वर्तमान रूप धारण कर लेते हैं। इन पांचों कवियों की खासियत है कि इन्होंने सीधे–सीधे बिम्ब प्रतीक लोक–जीवन से लिए हैं।

काव्य–भाषा और लोक–जीवन

संस्कृति का विकास मूलतः लोक से हुआ है। लोक न केवल मनुष्य या ग्रामीण जन और ग्रामीण परिवेश की प्रतीति करता है; बल्कि मनुष्य समाज के सांस्कृतिक रूप से विकसित होते समय की पहचानने, मनुष्य के तनावों व द्वंद्वों तथा संबंधों की गर्मी का अहसास कराने वाली एक मूर्त अवधारणा है। जिस तरह संगीत में रागों की पाट खड़े होते हैं और अदृश्य या मात्र श्रव्य होकर भी वे एक विकसित सिलसिलेवार, सांस्कृतिक समृद्धि उसके गुणवत्ता भरे वैज्ञानिक व्याकरण का आभास कराते हैं।

कवि या कलाकार यह सोचता है कि उसकी भाषा जन सामान्य में आसानी से प्रचलित हो जाए, लेकिन काव्य–शास्त्र के अनुसार काव्य की भाषा शास्त्रीय ढंग से आरुढ़ और कठोर नियमों से आबद्ध होना चाहिए। वर्ड्स्वर्थ का मानना था कि कवि–कवियों के लिए नहीं बल्कि आम आदमियों के लिए लिखता है; इसलिए उसे भी ऊँचाइयों से उतारकर आमजीवन से संबंध रखना चाहिए और उनके साथ उनकी भाषा में सहानुभूति स्थापित करनी चाहिए। वर्ड्स्वर्थ की भाषा के बारे में निर्मला जैन ने लिखा है कि– "सामान्य व्यक्ति निरंतर उन चीजों से संपर्क में रहते हैं जो भाषा के बहुत बड़े अंश का उत्स हैं।"[97]

वर्ड्स्वर्थ का कहने का मतलब है कि कवि को आम जन की भाषा का प्रयोग करना चाहिए। उन्होंने छंदों व अलंकारों का विरोध किया अगर सामान्य रूप से काव्य में इनकी प्रतीति होती है तो उन्हें इससे ऐतराज नहीं है; ऐतराज है तो छंद अलंकारों में अपनी ऊर्जा को खपाना जिससे कवि लोक–जीवन से दूर होता जाता है। इसी बात की प्रतीति में प्रगतिवादी कवियों के यहाँ देखने को मिलती है। इन कवियों ने निरंतर निम्नवर्गीय ग्रामीणों की दैनिक बोलचाल की भाषा को काव्य में कैद किया, जिसे हम अखबारी भाषा के बहुत करीब पाते हैं। इसी आम बोल चाल की भाषा का प्रयोग प्रगतिवादी कवियों ने किया, जो उनका

लोक धर्म बन चुकी थी। आम जनता के लिए आम भाषा में बात सर्वप्रथम प्रगतिशील कवियों ने ही की। प्रगतिशील कवियों की काव्य भाषा में क्लिष्ट और रूढ़ शब्दों की अत्यल्प प्रयोग हुआ है। लोक में व्याप्त शब्दों का अधिकतम प्रयोग इन कवियों को लोक–जीवन से घनिष्ठ रूप से जोड़ते हैं। इन कवियों की भाषा कथ्य के अनुकूल नहीं है। इन कवियों की भाषा भावानुकूल व सरलता का सागर हैं। जहाँ इन कवियों ने तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया है तो दूसरी ओर सरल सीधी व व्यावहारिक भाषा का प्रयोग भी किया है। यदि कहीं दूसरी भाषा के शब्द आए भी हैं तो वही शब्द आए हैं जो लोक में प्रचलित हैं, जिनका जनता के बीच सामान्यीकरण हो चुका है।

नागार्जुन की कविता में तत्सम् शब्दावली के लिए 'बादल को घिरते देखा है' से उदाहरण दृष्टव्य है –

"अमल धवल गिरि के शिखरों पर / बादल को घिरते देखा है।
छोटे–छोटे मोती जैसे / उसके शीतल तुहिन कणों को
मानसरोवर के उन स्वर्णिम / कमलों पर गिरते देखा है
बादलों को घिरते देखा है।"[98]

एक अन्य कविता में तत्सम् शब्दावली –

"नभ की चौकड़ियाँ भरें भले / शिशु घन–कुरंग
खिलवाड़ देर तक करें भले / शिशु घन–कुरंग
लो, आपस में गुथ गए खूब / शिशु घन–कुरंग।"[99]

उर्दू भाषा के शब्दों का प्रयोग

"क्या नहीं / घन घुच्ची आंखों में
इन शातिर निगाहों में / मुझे तो बहुत कुछ
प्रतिफलित लग रहा है / नफरत की धधकती भट्टियाँ...
प्यार का अनूठा रसायन...।"[100]

कवि नागार्जुन ने तद्भव शब्दों को भी अपनी कविता में माला के बीजों की तरह बुन दिया है, जिनमें – कुलसित, चँहु धारन, मांद, दूध, धरती, पीर–पोर, कौड़िया, राख। फिर भी नागार्जुन ने लोक में प्रचलित शब्दों को ही अधिक लिया है, जैसे – धान, मंजरियाँ, स्वजन, मुखड़ों, हुलास, खुरों, झुरमुट, मगर, गद्गद, गल्तियाँ, सिंदूर, पतित, नीच, कीचड़, बहोत, घिग्घी, लीचिया, आम, तरउनी, ग्राम, काज, समाज, पाषाण, धान, झोंपड़ी, खुरदरै, लिबास, ठहाके, सुस्ती, देस–कोस, नेबला, दूधिया, खटपट, हड़बड़ी, गुलाबी जाड़ा, लालटेन, बत्ती, गोश्त, बांग, टांगें, चौकड़ियाँ, छत, चूती, इमरित, बेर, आदि।

कवि ने अपनी भाषा को प्रभावशाली व खूबसूरत बनाने के लिए उर्दू शब्दावली का भी प्रयोग किया है, जैसे – बेतरतीब, लिबास, सादा, निगाह, मुताबिक, अमानत, बेरूखी, अखरती, सोहबत, मजबूत, नंगा, शबर, नदारद, दीवान, आनन–फानन, मुस्कुराहट, शौक, हाजिर, महसूस, मुस्तैद, हाजिर, गोश्त, इम्तिहान, अखलाक, निगाहें, आराम, आवरगी, माफ आदि।

अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग – स्पीड, ट्राम, प्लीज, प्रोजेक्ट, टिकिट, एक्सक्यूज, कैपीटल, बैलेट, मिनिस्टिर, ट्रेन आदि।

लोक मुहावरों का प्रयोग – लोहा–पटिना, पाला मार जाना, दीमक चाट जाना आदि।

नागार्जुन की भाषा 'संस्कृत बंगला, हिंदी और अपनी मातृभाषा मैथिली के समृद्ध साहित्य–संस्कारों के साथ कविता मंच पर आती है।"[101] नागार्जुन ही नहीं सभी प्रगतिशील कवि बहुभाषी हैं। जहाँ नागार्जुन की कविता विभिन्न भाषिक शब्दों के साथ लोक–जीवन में उतरती हैं; वहीं दूसरी ओर शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन व मुक्तिबोध भी इन विशेषताओं के साथ अपने काव्य का सृजन करते हैं। इन कवियों की एक विशेषता है कि जिसके बारे में पहले भी बात हो चुकी है कि चाहे इनके काव्य में, तत्सम् शब्द, तद्भव, उर्दू, अंग्रेजी, लोक मुहावरे वहीं आये

हैं, जो लोक में बेखूबी काम में लाये जाते हैं। इस विशेषता का छायावादी कविता में अभाव है। इसीलिए तो 'राम की शक्तिपूजा' व 'कामायनी' पठित काव्य सिर्फ एकेडमिक स्तर पर ही रहे; बल्कि आम जनता की समझ से यह दूर का काव्य है।

केदारनाथ अग्रवाल सीधे–सीधे व्यावहारिक शब्दों को अपनी कविता में प्रयोग करते हैं, उदाहरण द्रष्टव्य है –

> "मैंने उसको / जब–जब देखा / लोहा देखा / लोहा जैसा –
> तपते देखा / गलते देखा / ढलते देखा / ढलते देखा / मैंने उसको
> गोली जैसा / चलते देखा।"[102]

केदारनाथ अग्रवाल की भाषा के एक शब्द का दूसरे शब्द से रिश्ता है। केदारनाथ अग्रवाल के ही शब्दों में – "कविता में शब्द एक–दूसरे का साथ देते हैं, एक दूसरे का हाथ थामे रहते हैं, एक दूसरे को सार्थक करते हैं।"[103] वैसे केदारनाथ भाषा के किसी एक रूप को स्वीकार नहीं करते हैं। वे ना तो सिर्फ बाजारु भाषा को स्वीकार करते हैं; ना ही अखबारी भाषा को, ना हीं सड़क और बाजार में प्रयुक्त भाषा के रूप में। वह भाषा को कलात्मकता विशिष्टता और मानवीय संवेदना भी देना चाहते हैं। मुक्तिबोध नयी कविता की भाषा को एकदम बातचीत का सानिध्य मानते हैं और नागार्जुन की भाषा को रामविलास शर्मा ने किसानों–मजदूरों की भाषा माना है। नागार्जुन की भाषा के संबंध में विश्वेश की टिप्पणी है कि – "नागार्जुन के भाव और भाषा यथार्थ भाव को रखते हुए सामान्य लोगों के व्यवहार के लिए जन–शब्दावली तैयार करती है।"[104] वैसे देखा जाए तो नागार्जुन की भाषा कहीं कबीर के करीब है, तो कहीं निराला के करीब। उसमें कबीर की सी अनगढ़ता बेबाकपन, अटपटापन और खरी–खोटी सुनाने की कला है, तो कहीं निराला की सी स्वच्छंदता छंदों के बंधनों को तोड़ती हुई समाज से संघर्ष करती नजर आती है। उन्होंने रूप शिल्प को महत्व नहीं दिया बल्कि समाज के सत्य तक पहुँचने वाली उनकी भाषा है। इसी समाज के सत्य तक पहुँचने की

ललक केदारनाथ अग्रवाल की भाषा में दिखाई देती है, वह रूप–शिल्प के प्रति भी सजग हैं, परंतु एक शर्त है– वह शिल्प सामाजिक सत्य को उजागर करता हो। इन कवियों की भाषा में किसी गली–मौहल्ले व नगर के लोक के शब्द नहीं हैं, यह कहना बहुत ही मुश्किल है। इन कवियों की भाषा–शैली तो लोक–जीवन का स्वागत करती नजर आती है। इस संदर्भ में केदारनाथ अग्रवाल की भाषा का उदाहरण दृष्टव्य है जो लोक–जीवन की भाषा का समर्थन करती है–

"हमारे हाथ में हल है। हमारे हाथ में बल है,
कि हम बंजर को तोड़ेंगे / बिना तोड़े न छोड़ेंगे।"[105]

केदारनाथ अग्रवाल का काव्य तो शब्दों में ही उपस्थित हो जाता है –

"चलते–चलते अब कहता हूँ / अपने शब्दों में रहता हूँ।
अपने शब्दों को सहता हूँ/ तब कविताएँ / मैं रचता हूँ।"[106]

अज्ञेय का मानना है कि शब्द ही काव्य है इसी के काफी करीब ठहरते हैं केदारनाथ अग्रवाल। परंतु वह शब्द सिर्फ और सिर्फ लोक–जीवन की गाथा हैं, आम–जीवन की आत्मकथा है। कविता की भाषा तथा इनके भाषा रूपी संसार में लोक की अभिव्यक्ति हैं साथ ही अनेक लोक–गीतों की भाषा में भी लोक है जैसे–

"धीरे उठाओ मेरी पालकी / मैं हूँ सुहागिन गोपाल की
धीरे उठाओ मेरी पालकी / मैं हूँ बांसुरिया गोपाल की।"[107]

और साथ ही साथ केदारनाथ अग्रवाल की एक खासियत है कि उन्होंने पुराने कवियों की भाषा को बहुत ही अच्छे से पचा लिया है। जिसमें ब्रज, अवधी जैसी लोक भाषा की कोमलकांत पदावली भी दस्तक देती हैं। इनकी कविता में लोक शब्दावली कविता को तीव्रता प्रदान करती है। उनकी भाषा पारदर्शी है। उनकी कविता में भाषा का प्रयोग और मानव सच्चे हैं। इसी वजह से तो पाठक अपने हार्दिक भावों के पावन सपनों को अपने करीब पा लेता है। उसकी भाषा

ईमानदारी का नमूना है जो ईमानदारी उनके कथ्य में हैं वही ईमानदारी उनके शिल्प में है। उनकी भाषा संघर्षशील व्यक्ति की भाषा हैं –

"शक्ति मेरी बाहु में है/ शक्ति मेरी लेखनी में,
बाहु से, निज लेखनी से/ तोड़ दूंगा मैं शिलाएँ।"[108]

कवि कर्म में विश्वास करता है –

"मुझे व्याप्त है जनता का बल/वह बल मेरी कविता का बल
मैं उस बल से/शक्ति प्रबल से / एक नहीं सौ साल जिऊँगा
मैं उस स्वर से / काव्य–प्रखर से / युग जीवन के सत्य लिखूँगा
राज्य अमित धन देगा तो भी / मैं उस धन से नहीं बिकूँगा।"[109]

केदारनाथ अग्रवाल की भाषा की एक अन्य विशेषता लयात्मकता है जो लोक–जीवन व जातीय संस्कृति की गहरी पहचान कराती है। उनकी भाषा में लोक–जीवन के शब्द उनकी इसी पहचान को आगे बढ़ाते रहते हैं। केदारनाथ अग्रवाल का सरल एवं सहज भाव उसे आम जन के करीब पहुँचा देता है। शब्दों, बिम्बों व प्रतीकों का वह इस प्रकार प्रयोग करते हैं कि जो सरलता व सहजता का सूचक है और इसी कारण भाषा विशिष्ट बन जाती है। केदारनाथ अग्रवाल का शब्द भंडार किसी एक भाषा का मोहताज नहीं है। वह उर्दू तत्सम्, तद्भव, सीधे लोक से लिए शब्द, कहीं–कहीं अंग्रेजी से प्रचलित शब्द कविता की व्यंजना एवं शोभा बढ़ाते हैं तो यही शब्द उसका लोक से संपर्क बढ़ाते हैं।

कहीं केदारनाथ अग्रवाल की भाषा नागार्जुन के करीब तो कहीं त्रिलोचन के आस–पास, प्रकृति से संबंधित कविताओं में तो काफी समानता नजर आती हैं; क्योंकि ये तीनों कवि सीधे–सीधे लोक से जुड़े हुए हैं। इसलिए भाषा में समानता तो स्वाभाविक हो जाती हैं। त्रिलोचन की भाषा के बारे में डा. मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं– "कविता में जन जीवन के अनुभव उसी जीवन की भाषा में यथार्थवादी रचाव के साथ व्यक्त हुए हैं। यथार्थ से भाषा का ऐसा आत्मीय संबंध केवल

'हरिजन गाथा' (नागार्जुन) में दिखाई देता है।"[110] शब्द संवेदना पर विचार करते हुए डा. मैनेजर पाण्डेय सॉनेट के बहाने कहते हैं कि– "रेणु को सॉनेट के कवि त्रिलोचन 'शब्द योगी' लगते हैं और केदारनाथ को 'शब्द साधक' और शमशेर उनकी सहजता पर फिदा हैं।"[111] प्रगतिशील कवियों की भाषा कथ्य के अनुरूप हैं, शमशेर का भी मत है कि– "कथ्य के अनुरूप भाषा का स्वरूप होता है और उनके सृजन के प्रासंगिक परिवेश इतने प्रकार के होते हैं कि कोई उनका पूरा–पूरा अंदाजा नहीं कर सकता। उन सब का प्रभाव उतने ही विविध रूपों में कविता पर पड़ता है।"[112] त्रिलोचन की भाषा कथ्य के अनुरूप व परिवेश का पूरा–पूरा ध्यान रखती हैं। कवि अपने भाषा संस्कार, परिवेश व कथ्य किसके लिए हैं, उसका पूरा–पूरा ध्यान रखता है। वह किसी की भाषा की नकल नहीं करता; बल्कि उनका अपना भाषिक संसार है, जो उनकी विशिष्टता की पहचान कराता है। भाषा के संबंध में श्रीकांत वर्मा के विचार हैं कि– "जिस भाषा में किसी और ने लिखा या कोई और लिख रहा है, मैं नहीं लिख सकता। साहित्य में जुड़वा संतान नहीं होती और जुड़वा संतान भी एक भाषा में बात नहीं करती।"[113] नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल तीनों लोक के कवि हैं, फिर भी कोई भी किसी की भाषा की नकल नहीं करता, सबका अपना लोक है। सबका अपना परिवेश है। सब अपनी–अपनी भाषा में लोक–जीवन की बात करते हैं और त्रिलोचन की भी यही विशेषता है। त्रिलोचन की भाषा का अपना निजी दृष्टिकोण है। अगर इन्हीं शब्दों को रामदरश मिश्र के शब्दों में कहें तो – "भाषा का वैशिष्ट्य कवि की निजी दृष्टि, निजी संवेदना और अनुभव के कारण उत्पन्न होता है।"[114] त्रिलोचन की भाषा उसकी संवेदना के स्तर पर आती है। वह किसी की उधार की भाषा नहीं है। भाषा का पद्य–गद्य का अंतराल खत्म हो गया है, परंतु एक सवाल यह भी उठता है कि क्या निजी दृष्टि को पाठकगण स्वीकार करेंगे, क्या वह लोक–जीवन के अनुरूप होगी, यह प्रश्न स्वाभाविक उठता है। त्रिलोचन की कविता

लोक–जीवन का सागर है। इसी कारण उनकी कविता की भाषा पाठकगण व लोक–जीवन से अलग किसी और दुनिया की भाषा नहीं है। वे जिस समाज में रहते हैं उसी समाज की बात करते हैं। उनके काव्य में गीत, गजल, चतुष्पदियाँ, कुंडलियाँ, सॉनेट, मुक्त छंद, में गद्य–पद्य का अंतराल मिट गया है। उनकी भाषा संवादात्मक है, जैसे –

"अपना बस क्या, जीवन है दुनिया का सपना,
जब तक आंखों में है तब तक ज्योति बना है।
अलग हुआ तो आंसू है या तिमिर घना है
बने ठीकरा तो भी मिट्टी को है तपना।"[115]

डॉ. गोबिन्द प्रसाद ने त्रिलोचन के बारे में लिखा है कि – "त्रिलोचन की ज्यादातर कविताओं की मूल प्रकृति बातचीत करने जैसी है। अपने आप से संवाद करने जैसी। इस संवाद में ऐसी लय है मानो कवि किसी धुन में अपने ही से बात कर रहा है। स्वागत संलाप की एक रौ। स्वगत संलाप की यह लय उनकी कविताओं को यदा–कदा नाटकीय भंगिमा के करीब ले जाती है। यानी इनमें बोलचाल की धार है, भावों का वेग तथा प्रवाह है।"[116] त्रिलोचन की भाषा अनेक अंचलों की भाषा है उसमें अनेक भाषा के शब्द मिलेंगे, वही लोक शब्दों की बारीकियाँ उर्दू, हिंदी, संस्कृति के शब्दों के जाल से बुनती कविता किसी सुलझे हुए कवि की पहचान कराती हैं। स्वयं त्रिलोचन के शब्दों – "मैंने गाँव–गाँव, जिले–जिले और शहरों में भटकते हुए बदलती भाषा, लोक–बोलियों, शब्दों और बदलते अर्थों की बारीकियाँ जानी–समझी, अरबी–फारसी सीखने के बाद मैंने संस्कृत पढ़ी। आज तीनों ही भाषाओं के क्लासिक रूप और आधुनिक रूप अलग–अलग हैं। मैंने अंग्रेजीवाद में पढ़ी। अंग्रेजी साहित्य पढ़ने से मेरे अंदर साहित्य का आधुनिक भावबोध बढ़ा। यह परंपरा और लोक–बोध से और भी परिष्कृत हुआ।"[117] इतनी भाषाओं के जानकार कवि की काव्य–भाषा विभिन्न भाषाओं के शब्दों का सामंजस्य और वह भी लोक–बोध से जागृत कवि त्रिलोचन

ही हो सकते हैं। उनकी कविता ही नहीं; बल्कि जीवन के लय में लोक–राग का नमूना है। उनकी गद्य–पद्य का मिटता अंतराल 'घर वापसी' कविता में देखा जा सकता है –

"साबरमती रूकी है। इंजन बिगड़ गया है।
ठीक–ठाक करने में कितने हाथ लगे हैं
फैजाबाद ने खबर पा कर सुना कहा है
इंजन सुलभ नहीं है। यात्री थके–थके हैं
घंटा गुजर गया, तब गाड़ी आगे सरकी
आने लगे बाग, हरियाले खेत, निराले
अपनी भूमि दिखाई दी पहचानी, घर की
याद उभर आई मन में, तन रहा संभाले।
क्या–क्या देखूँ, सबसे अपना कब का नाता
लगा हुआ है। रोम पुलकते हैं, प्राणों से
एकप्राण हो गया हूँ, ऐसा क्षण आता
है तो छूता है तन मन कोमल बाणों से।"[118]

'साबरमती' की गति के साथ–साथ त्रिलोचन की भाषा भी गति पकड़ती है अर्थात् वह गत्यात्मक है। उपरोक्त कविता में हिंदी–उर्दू, तद्भव, बाग, याद, आदि शब्दों ने कविता को संप्रेषणीय बना दिया है। त्रिलोचन की काव्य–भाषा संप्रेषण का अन्यतम उदाहण है, जैसे–

"अपना बस क्या जीवन है, दुनिया का सपना,
जब तक आँखों में है तब तक ज्योति बना है।
अलग हुआ तो आँसू है या तिमिर घना है
बने ठीकरा तो भी मिट्टी को है तपना।"[119]

त्रिलोचन की कविता की खास विशेषता है कि वह लोक के बीच संप्रेषणीय है। संप्रेषणीयता के साथ–साथ उनकी भाषा का एक खास गुण है कि वे 'चित्रभाषा' का प्रयोग करते हैं। साथ–साथ भाषा समास शैली प्रधान एवं अभिधा प्रधान है।

त्रिलोचन की भाषा में संस्कृत, तत्सम्, तद्भव एवं उर्दू–हिंदी व अंग्रेजी के शब्दों का सागर है। उनका शब्द कोश किसी एक भाषा के शब्दों का मोहताज नहीं है। जैसे उर्दू शब्दकोश – दर्द, सागर, आँसू, अनजाने, दीवार, आवाजें, आसमान, साथी, शिकायत, शाम, मासूम, जुलूस, जलसा, दम, मस्ती, लाशों, मंसूबा, खम्भे, आँखें, साँसें, आहें, दावत, मजमा, नज़रों, ख्याल, किस्मत, दुःख–दर्द, लाशों, आवाज़, घाव, साज, कराहता, आबादी, परेशान, दीवारें, यादें, साथी, हमसफर, सागर।

तत्सम् एवं तद्भव शब्दावली – व्योम, अक्षत, चिंतातुर, स्वप्नदर्शी, निरर्थ, अतृप्त, प्राण, गरजती, ध्वनि, तड़ित, उच्छवास, सुवास, अजस, अरूण, खग–मृग, तरंगों, क्षितिज, अस्ति–नास्ति, प्राणों, सहस्रशीर्षापुरुषः, कंदरा, आदि–आदि।

त्रिलोचन की भाषा समासशैली प्रधान है। वे कहीं–कहीं पर मुहावरों व लोकोक्तियों का भी प्रयोग करते नहीं चूकते हैं। भाषा–धर्मिता, चित्रात्मकता के साथ–साथ उपस्थित हैं।

मुक्तिबोध का मानना है कि साहित्य–कला एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है।यह सांस्कृतिक प्रक्रिया वर्ग या समाज की देन है। मुक्तिबोध के काव्य की भाषा इसी समाज या वर्ग की भाषा है। मुक्तिबोध की काव्यभाषा कथ्य के अनुरूप हैं। उनकी भाषा उनके संवेदनात्मक ज्ञान व ज्ञानात्मक संवेदना की उपज है। उनकी काव्य–भाषा में वह शक्ति है कि वह पुराने प्रतीकों को भी वर्तमान में ताजा कर देते हैं। उनकी भाषा में ताजगी है, मौलिकता है। भाषिक स्तर पर वह एकदम अलग तरह के कवि हैं। उन्होंने अपने भाषिक शब्दकोश में– अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू, मराठी आदि किसी भी भाषा के शब्दों को जो समाज में प्रचलित हैं, को अपना लिया है। इसलिए उनकी भाषा उबड़–खाबड़ बन गई है। डॉ. नामवरसिंह का मानना है कि– "शब्द–चयन की दृष्टि से मुक्तिबोध की काव्य–भाषा काफी उबड़–खाबड़ लगती है। बोल–चाल के साधारण शब्दों के बीच कुछ इतने अजनबी

समासबद्ध सांस्कृतिक शब्द आ जाते हैं कि जबान लड़खड़ा जाती है।"[120] असल में नामवर सिंह इस शब्द–चयन पर थोड़ा और ध्यान देते तो यह उबड़–खाबड़ वाली बात नहीं आती, क्योंकि मुक्तिबोध का काव्य लोक का आग्रह है। जाहिर सी बात है शब्द–चयन भी उसी लोक का होगा उसमें जरूरी नहीं कि भाषा में लयात्मक या संगीतात्मकता हों जैसे एक मोहल्ले में भिन्न–भिन्न भाषा व बोली बोलने वाले लोग होते हैं। उसी प्रकार मुक्तिबोध किसी एक भाषा के शब्दकोश पर निर्भर नहीं है। उसकी कविता अनेकों–अनेकों लोगों के लिए लिखी गई है। फिर भी कुछ आलोचकों की जबान किसी संगीतात्मकता की तलाश में लड़खड़ाती है तो वह उनकी अपनी समस्या है मुक्तिबोध की नहीं। यह आवश्यक नहीं कि कवि किसी एक भाषिक परिपाटी में कोल्हू के बैल की तरह चलता रहे। आधुनिकता के मानदंडों पर मुक्तिबोध की भाषा खरी उतरती है। मुक्तिबोध की भाषा में वह प्राणशक्ति है, जो काव्य सृजन के लिए अनिवार्य है। और इस अनेक शब्दों के संयोग से भाषा में नाटकीयता भर गई है। जिसे नामवर जी उबड़–खाबड़ भाषा की संज्ञा देते हैं, चाहें बाद में इन्होंने इसी नाटकीयता को भाषा की प्राणशक्ति क्यों न स्वीकार किया हो। 'साही' ने कहा है कि – "सृजनशीलता आसान रास्ता छोड़कर नए रास्ते तैयार करती है जो शब्दों की परिपाटीग्रस्त–अभिव्यक्ति और बाजारू अभिव्यक्ति इन दोनों खतरों से बचाकर जीवित अभिव्यक्ति बनाती है। इसलिए वह सृजनशीलता है।"[121]

मुक्तिबोध की काव्य–भाषा का खास गुण है कि – "उसमें युग की नयी चेतना नितांत मौलिक रूप से अभिव्यक्त हुई है। इसके आगे यह जोड़ना और अनुचित न होगा कि यह नयी चेतना नितांत मौलिक भाषा में अभिव्यक्त हुई है। मुक्तिबोध की काव्य–भाषा उसी प्रकार स्वतंत्र और मौलिक है जिस प्रकार से उनकी विचारधारा।"[122] आमजनों के लिए, इसलिए उसकी भाषा में अनेक भाषा के शब्दों का सामंजस्य है। जैसे –

संस्कृत भाषा से अपनाए गए शब्द –

दस्यु, प्रचंड, स्वप्न, मृत्कण, रक्तस्नान, परिव्यक्त, विकृताकार, स्फटिक, आत्मचेतन, स्नेह–आश्लेषा, अखंड, रूधिर, नभस, दीत्ति, विमल, रूपांतर, आत्मसंवेदनामय, मंतव्य, ज्यामितिक, श्रण, श्वेत, उद्भांत, विश्वचेतस, तिमिर, ज्योतिर्विद, सर्वेक्षण, नाद, तम–विवद्, वेदना, समुतुंग, द्यौः, निःसंर्ग, सर्व–तत्र, सत्–चित्। चंद्र, धुति, कंदरा, समुत्तुग, अहं–हुकृति, दुःसह, लक्षःवक्ष, वानरों, मद्धिम, विमल, दक्काल, मर्वट, दिव्य, सृष्टि, अवलि, प्रभंजन, स्मित, अन्तस्तल, मंतव्य आदि।

उर्दू शब्दावली – कवि ने उर्दू शब्दों का भी प्रयोग अपने काव्य में किया है, जैसे – फ़िज़ूल, गिरफ़्तार, शहीद, साज़िशें, ग़रीब, ज़िरह, बख़्तर–तख़्त, बेजुबां, सलाम, बेबस, मेहराबों, दरबारे–आम, घाव, निगाहें, बेख़ौफ, ख़ामोश, नामंजूर, शर्म, खुद–मुख़तार, ज़माना, ख़ूँख्वार, आलीज़ाह, क़ैद, शाही, मुक़ाम, अज़ीब, बख़्तरबंद, तजुर्बा, बुज़र्गी, संज़ीदा, सहमकर, महसूस, बेमालूम, अक़्सों, राह, ज़िंदगी, दीवार, मज़ाक, अज़गरी, मेहराब, ताबूत, नाख़ून, ज़िंदगी, शहर, तसवीरें, खूँख़ार, ज़ोरदार, ज़िरह, बहस, मुसक़राहट आदि।

अंग्रेजी शब्द कोश – कामर्स, फैंटेसी, मजिस्ट्रेट, डैश, रेल, एक्सीडेंट, सिविल लाइंस, बैण्ड, गैलरी, लाइट, मार्च, डार्क, मासेज, पोस्टर, पेंटर, डील, नोट बुक, नायट्रेट, क्लब, फायर, थीसिस आदि।

मराठी शब्दावली जैसे – हंकाल, तिपहर, नक्शे, कंदील, स्विंती, औदुम्बर आदि।

तद्भव देशी शब्द – गरबीला, ठइरी, विलम, उतारु, आदि।

मुक्तिबोध ने मुहावरों एवं कहावतों का भी प्रयोग किया है, अपने काव्य में जैसे – 'जमाना सांप का काटा', 'सच्चाई की आंखें', 'दिल की बस्ती उजाड़ना',

'मन टटोलना', 'मछलियाँ फंसाना', 'जिंदगी में झोल होना, 'बौद्धिक सींग निकालना', 'सिट्टी–पिट्टी गुम हो जाना' आदि।

समासिक प्रधान शैली – विकृताकार, रुधिर–सरिता, व्यवसायी उर्ध्वमुखी, विराजमान, घण्टाघर, राजपुत्र, आलोकित, बन्दीगृह आदि।

मुक्तिबोध ने कविताओं में व्यंग्य प्रधान शैली का भी प्रयापेग किया है जिससे भाषा तीक्ष्ण बन गयी है; जैसे – 'दिमागी गुहाँधकार का औरांग उटांग', 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', 'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन', 'एक स्वप्नकथा', आदि।

मुक्तिबोध और शमशेर की काव्य–भाषा का एक खास गुण यह है कि वह नागार्जुन, त्रिलोचन व केदारनाथ से अलग हैं। जहाँ मुक्तिबोध कविता फैंटेसी के माध्यम से करते हैं, वहाँ भाषा को संप्रेषणीयता प्रदान करने के लिए अनेक भाषाओं की शब्दावली को काम में लाते हैं। शमशेर चित्र–भाषा व बिम्बों का ज्यादा सहारा लेते हैं। शमशेर की काव्य–भाषा पर गौर किया जाए तो उन्होंने जीवन के कटुतम संघर्षों को लेकर जैसे काव्य सृजन किया हो। शमशेर की भाषा के बारे में रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है – "संगीत का चरम अमूर्तन इन दो परस्पर प्रतिरोधी मनःस्थितियों को उनकी कला साधती है।"[123]

शमशेर का हर एक शब्द बिम्ब द्वारा निर्मित है। डॉ. गोबिन्द प्रसाद ने लिखा है – "बिम्ब उनके यहाँ प्रायः दृश्यों, घटनाओं, स्थितियों तथा संबंधों के निजी प्रभाव के कारण सघन तर्वातीय ऐक्य में गुँथे प्रतीत होते हैं।"[124] इसी बिम्बात्मक गाथा का एक उदाहरण दृष्टव्य है –

"एक पीली शाम / पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता
शांत / मेरी भावनाओं में तुम्हारा मुखकमल
कृश म्लान हारा–सा।"[125]

बिम्बात्मक एवं चित्रात्मक भाषा के सहारे ही जीवित है शमशेर की कविता। शमशेर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि काव्य–भाषा में उन्होंने बिम्ब एवं प्रतीक

लोक–जीवन से लिए हैं। वह लोक का दृश्य नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करते हैं। जैसे उपरोक्त कविता में 'पत्ता' शब्द आया है जो मानव जीवन का प्रसिद्ध प्रतीक है। 'कृश म्लान हारा–सा, दुबला, हारा थका सा जैसे उपादान से तन्मयता की पुष्टि होती है। प्रेम और प्रकृति को मिलाकर एक जगह रख देना शमशेर की ही कला है। शमशेर की कविता में अनेक भाषिक शब्दों का मेला है, संस्कृत तत्सम, तद्भव, उर्दू, अंग्रेजी व लोक में प्रचलित शब्दों का मेला है, जो किसी एक भाषा के शब्दकोश पर निर्भर नहीं है। भाषा चित्रात्मक है, जैसे –

"गायें मैली, सफेद, काली–भूरी।
पत्थर ढुलके पड़े। पेड़ स्थिर नीरव।
दो पहाड़ियाँ धूम–विनिर्मित, पावन।"[126]

भाषा का बिम्बात्मक रूप 'ऊषा' कविता में देखा जा सकता है –

"प्रात नभ था बहुत नीला शंख जैसे / भोर का नभ
राख से लीपा हुआ चौका / (अभी गीला पड़ा है)
बहुत काली सिल जरा से लाल केसर से
कि जैसे धुल गई हो / स्लेट पर या लाल खड़िया चाक
मल दी हो किसी ने / नील जल में या किसी की
गौर झिलमिल देह / जैसे हिल रही हो।"[127]

संगीतात्मक भाषा उनके गीतों में देखी जा सकती है –

"निंदिया सतावे मोहे सँझही से सजनी। / सँझही से सजनी
प्रेम–बतकही / तनक हू न भावे / सँझही से सजनी
निंदिया सतावे मोहे / छलिया रैन /कजर ठरकावै।"[128]

निंदिया, सतावे, सँझही, सजनी, छलिया, ढरकावै, आदि शब्दों में संगीतात्मकता अपने आप समाहित है। इनमें लोक–धुन का आग्रह है; जिनमें स्थानीयता का पुट है। शमशेर की काव्य–भाषा भाव–ध्वनियों की तलाश है। शब्दों

में से अर्थ और अर्थ में से शब्द अपने आप आ जाते हैं। हर एक शब्द नये अर्थ की तलाश में है, जैसे उसके एक शेर की भाषा देखिए –

"मैं कई बार मिट चुका हूँगा /
वर्ना इस जिंदगी की इतनी धूम।"[129]

या फिर भी बात बोलेगी –

"बात बोलेगी / हम नहीं।
भेद खोलेगी / बात ही / सत्य का मुख
झूठ की आँखें / क्या देखें।"[130]

शमशेर की कविता में अनेक भाषा के शब्दों का समावेश है, जिससे भाषा और भी मार्मिक बन गई है। अधिकांश शमशेर ने उर्दू–हिंदी शब्दों का ज्यादा प्रयोग किया है; जैसे उर्दू शब्दकोश – उम्र, हकीकत, तखैयुल, जमाना, निगाहें, जिंदगी, अमल, ख्याल, सनम, जिस्म, शाम, उमीद, अम्न, कलम, मज़मून, कतरा, दिल, तूफान, दास्ताँ, आसमान आदि।

शमशेर की कविता में हिंदी–उर्दू दोनों भाषाओं के मुहावरे आए हैं। शब्द–व्याकरण में भी हिंदी–उर्दू का गजब का समागम है। प्रस्तुत–अप्रस्तुत–विधान दोनों में ही शमशेर की भाषिक संरचना अतुलनीय है। साथ ही साथ समासिक शब्दों की भी अभिव्यक्ति हुई है।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, मुक्तिबोध व शमशेर चूँकि पाँचों कवियों का काव्य–सृजन लोक–जीवन से सरोबार है। जिस प्रकार सागर में अनेक नदियाँ आकर मिल जाती हैं; उसी प्रकार लोक–जीवन की शब्दावली इन कवियों के काव्य–सृजन में सहायक होती है और कविता को संप्रेषणीय बनाती है जो लोक के भीतर लोक की ही गाथा है।

"काव्य की समावेशिता किसी कला में नहीं है। कविता निनादित होती है, नृत्य करती है, रूपायित होती है और अंततः मूर्ति और वस्तु के तीसरे आयाम को भी आसंगित कर लेती है। फिर भी वह न संगीत है न नृत्य न चित्र है न शिल्प, वह इन सबसे उत्तीर्ण है – शरीर में लावण्य की तरह।"[131]

आगे प्रभाकर श्रोत्रिय लिखते हैं कि "यदि बिम्ब और प्रतीक कविता में रूप रचते हैं तो द्वंद्व उसमें नाद और नृत्य का सम्मोहन उत्पन्न करते हैं।"[132] संस्कृत आचार्यों का मानना है कि छंद काव्य के चरण हैं। जब छंद कविता के चरण है तो इनके अनुसार बिना छंद काव्य गतिहीन हो जाता है। चरण रूपी छंदों से काव्य में लय भी उत्पन्न नहीं होगी। वैसे संस्कृत आचार्यों ने कविता का एक रास्ता बना रखा था जो भाषिक संरचना और उनके अनुरूप वैधानिक परिसर का निर्माण करता था। संस्कृत व हिंदी दोनों में छंद के लिए क्रमशः वार्णिक एवं मात्रिक सीमाएँ थीं, यति–गति–नियम आदि से सुसज्जित थी।

इस छंद रूपी सज़ावट ने कविता को गद्य से तो एकदम अलग–थलग कर दिया। खैर इन प्राचीन कवियों का प्रयोजन ही कविता को छंदोबंध व लयात्मकता प्रदान करना था चाहे अर्थ का अनर्थ ही क्यों ना हो जाए। इसका एक मुख्य कारण सामंतवाद भी था। इस सामंतवाद की चार–दीवारी को तोड़ने की किसी कवि की हिम्मत नहीं होती थी। वैसे इन कवियों ने काव्य की आत्मा में छंद की महत्ता को स्वीकार किया। जब बात आत्म तक पहुँच जाए तो छंद–मुक्त कविता करने का सवाल ही पैदा नहीं होता।

खैर जो भी है युग बदला तो कविता में भी बदलाव आया। कविता ने जंजीरों से बंधी हुई परिपाटी को त्याग कर नयी दुनिया की सैर की जिसमें छंद के बंधनों से मुक्ति मिली और कविता की सार्थकता छंदविहीन की जाने लगी। छंद की उपयोगिता पर वर्ड्सवर्थ का मानना है कि – "छंद कविता में अनुशासन लाता है। कविता जहाँ अत्यधिक उत्तेजना और आनंद या वेदना पैदा करती है

और इससे मनःस्थिति के विश्रृंखल होने की संभावना पैदा हो जाती है, वहाँ छंद की नियमित गति संतुलन लाती है; क्योंकि इसी गति का अनुभव हम कम उत्तेजित मनःस्थिति में भी कर चुके होते हैं।"[133]

कुछ हद तक यह बात ठीक भी है, परंतु इन महाशय के अनुसार अगर कविता में छंद की अनुपस्थिति है तो वह काव्य असंतुलन पैदा कर देता है। जब वर्ड्सवर्थ कविता में किसी भी बनावटीपन को स्वीकार नहीं करते तो फिर सामान्य रूप में छंद की वकालत क्यों करते हैं। उस बनावटी छंद गति की वकालत क्यों, जब कविता में छंद आएगा तो कविता बंधनों से मुक्त कहाँ हो पाएगी चाहे वह ज्यादा हो या कम बंधन तो बंधन होते हैं। यह बात भी भ्रामक ही नहीं बल्कि वड्सवर्थ का कोरा बुद्धिविलास है कि छंद में गद्य–पद्य का भेद मिट जाता है; क्योंकि गद्य की भाषा सामान्य बोलचाल की होती है, जबकि छंदबद्ध रचना भिन्न होती है। अतः दोनों की भाषा को एक मानना तर्क से परे की बात होगी।

आधुनिक कवियों ने माना कि छंद के बंधन के कारण कविता की स्वाभाविकता का हनन हो जाता है। उसकी स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। डा. महावीर प्रसाद द्विवेदी का भी मानना है कि – "पद्य कविता के लिए आवश्यक नहीं है। और क्यों अक्सर छंद में ही लिखने वाले प्रसाद को अनुभूति के लिए छंद अत्यंत आवश्यक प्रतीत नहीं हुए। और तो और पंत छंद मुक्ति के प्रति छंद के भीतर ही इतने पुलक उठे –

"खुल गये छंद के बंध प्रास के रजत–पाश
अब गीत मुक्त और युगवाणी बहती अयास।"[134]

वास्तविक मुक्ति तो छंद के बंधनों से निराला ने दिलाई, निराला का मानना था कि जिस प्रकार समाज के व्यक्तियों को सामाजिक रूढ़ियों से मुक्त होना चाहिए उसी प्रकार कविता की भी मुक्ति होनी चाहिए। निराला ने भाषा में यथार्थ की अभिव्यक्ति पर जोर दिया जिसकी परिणति प्रगतिवाद में दिखाई देती है। जब

कविता छंद से मुक्त हुई तो 'लय' का सवाल उठ खड़ा हो गया, क्योंकि छंदोबंद्ध कविता का सीधा संबंध लय से होता है। कुछ लेखक शब्दों में लय ढूँढने लगे तो कुछ भाव में, वैसे देखा जाए तो शब्द और अर्थ का विभाजन लय का न तो रचनागत महत्व है न आस्वादन में। जहाँ तक लय का प्रश्न है वह भावावेग की गत्यात्मक शब्द संरचना में प्रवाहित होती है जैसे – 'अंधायुग, 'आत्मजयी' गीतिनाट्यों को लिया जा सकता है। चाहे कविता में छंद हो या ना हों लय तो हमेशा कायम रहती है। यही बात प्रगतिशील कवियों के काव्य–सृजन में देखी जा सकती है। जैसे त्रिलोचन की कविता 'चित्रा जाम्बोरकर' को देखा जा सकता है जिसमें गद्य–पद्य का भेद भी मिट गया है और लय भी बरकरार है –

"नन्हे–नन्हे हाथों ने / पकड़ लिया मेरा हाथ
और शेकहैंड किया / चेहरे पर हँसी / और /
रोम रोम में फुर्ती / हँसी पकड़ लेती है।"[135]

लयात्मकता नागार्जुन की कविताओं में भी उपलब्ध है –

"चंदू, मैंने सपना देखा, उछल रहे तुम ज्यों हिरनौटा
चंदू, मैंने सपना देखा, अमुआ से हूँ पटना लौटा
चंदू, मैंने सपना देखा, तुम्हें खोजती बद्री बाबू
चंदू, मैंने सपना देखा, खेल–कूद में हो बेकाबू।"[136]

वैसे देखा जाए तो नागार्जुन का काव्यभाषा पर अधिकार शब्द शक्ति या व्याकरण के ज्ञान के कारण नहीं, बल्कि उनकी कविता का भाव इतना गहरा होता है कि वह सीधे–सीदे चोट करता है। इसलिए उनकी कविता में छंद और लय ढूँढना तर्क–संगत नहीं होगा। डा. नामवर सिंह ने नागार्जुन के बारे में लिखा– "जैसी सिद्धि छंदों में वैसा ही अधिकार वे छंद या मुक्त छंद की कविता पर।"[137] नागार्जुन दोनों छोर पर कविता करते हैं छंद युक्त या छंदमुक्त भी। ये लोक कवि हैं, इसलिए इनको काव्य में छंद एवं लय की जरूरत नहीं रही जितनी भाव को लेकर है। नागार्जुन की कविता चाहे छंदों से मुक्त क्यों न हो परंतु लोक लय से

मुक्त नहीं है। जैसे उनकी एक कविता है – 'आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी' इस कविता में लोक लय का स्पर्श है जैसे –

"आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी/यही हुई है राय जवाहर लाल की
रफू करेंगे फटे–पुराने जाल की /यही हुई है राय जवाहर लाल की
आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी।"[138]

ऐसी ही उनकी एक कविता है। 'आए दिन बहार के' जिसमें कांग्रेसी नेता दिल्ली से चुनाव टिकट लेकर आए हैं इस कविता में भी 'लयात्मकता' है –

"स्वेत–स्याम रतनार 'अँखियाँ निहार के
सिंडकेटी प्रभुओं की पग–धुर झार के
लौटे हैं दिल्ली से कल टिकट मार के
खिले हैं दांत ज्यों दाने अनार के
आए दिन बहार के।"[139]

शमशेर के गीतों में लोक–आग्रह कम नहीं है लोक–लय में कौन आगे है नागार्जुन या शमशेर कहा नहीं जा सकता। शमशेर के लोक गीत 'लय से सराबोर हैं' उदाहरण –

"निंदिया सतावे मोहे सँझही से सजनी। /सँझही से सजनी
प्रेम–बतकही / तनक हू न भावे /सँझही से सजनी
निंदिया सतावे मोहे/ छलिया रैन / कजर ठरकावै।"[140]

'लोक लय' का शायद ही इससे अच्छा उदाहरण देखने को मिले, जिसमें हर एक शब्द चुन–चुनकर लोक से लिए गए हैं। 'निंदिया', सतावे, 'मोहे, सँझही, सजनी, सभी शब्द लोक से सीधे–सीधे उठा लिए गए हैं। इन शब्दों में संगीतात्मकता लाजवाब हैं। शमशेर ने अपने गीतों में लय का पूरा–पूरा ध्यान रखा है जैसे –

"सावन की उनहार / आँगन पार
मधु बरसे हुन बरसे / बरसे स्वाँति धार

आँन पार / सावन की उनहार।"[141]

प्राचीन कविता में लय छंद के बिना संभव नहीं थी, परंतु प्रगतिशील कवियों ने छंद के बगैर ही लोक लय में गीतों का सृजन किया है। चाहे नागार्जुन हों या फिर शमशेर या फिर त्रिलोचन सभी की कविताओं में लयात्मकता है। इसी लोक–धुन को त्रिलोचन की कविता में देखा जा सकता है –

"आओ इस आम के तले / यहाँ घास पर बैठें हम
जी चाही बात कुछ चले / कोई भी और कहीं से।"[142]

नागार्जुन ने मैथिली गीतों में मिथिला के जन–जीवन को चित्रित किया है, जिनमें लय का पूरा ध्यान रखा गया है, जैसे –

"सृजन नयन मनि / सुनु सुनु सुनु धनि
मथित करिअ जनि / पिउ हिउ गनि गनि
शितशर हनि हनि / सुनु सुनु सुनु धनि
मनमथ रथ बनि / विपद हरिअ तनि
शुभ सुनु सुनु धनि / सृजन नयन मनि।"[143]

लोक–जीवन की ध्वनि केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में भी कम नहीं और उनके लोकगीतों ने तो लोक लय का पूरा–पूरा ध्यान रखा है, जैसे

"धीरे उठाओ मेरी पालकी। मैं हूँ सुहागिन गोपाल की।
धीरे उठाओ मेरी पालकी। मैं हूँ सुहागिन गोपाल की।"[144]

माना जाता है कि मुक्तिबोध की काव्य–भाषा एक नया रूप लेकर उपस्थित हुई। मुक्तिबोध की काव्य भाषा अनगढ़ बेडोल उबड़–खाबड़ जरूर लगती है, परंतु उसमें प्राणवता, तेवर और विशिष्ट अर्थवत्ता उसे व्यंजक और विशिष्ट बनाते हैं। इस भाषा में छंदक्रम टूटा है परंतु कविता में लय मौजूद है जैसे "चंबल की घाटी में" नामक कविता में लय को देखा जा सकता है –

"चिंता हो गयी, कविता को पढ़ते ही,
उसमें से अँधेरे का भभकारा उमड़ा

तिलमिला, आत्मा / प्रतिक्रिया करती हुई
चित्रमयी अजंता की गुहा जैसी होती गयी।"[145]

मुक्तिबोध की लंबी कविताओं की विशेषता है कि उन सभी में लयात्मकता है मुक्तिबोध ही क्या नयी कविता में लय तो बरकरार है, परंतु छंद गायब है। नागार्जुन को छोड़कर लगभग किसी प्रगतिशील कवि ने छंदों का प्रयोग नहीं किया। लोक लय का एक नमूना मुक्तिबोध की कविता में देखा जा सकता है।

"भूरे केसरिया सूखे घास के रोम–आवरण ढँके–से
इस चौड़े ऊँचे टीले पर / जहाँ दीखता
उलझे टूटे हुए गिर पड़े कठिन कँटीले
राखी रंग के तारोवाला एक अहाता
वहाँ उजाड़ हवा है / जिसके भूरे तल में
जगह–जगह पीले जंगली फूलों के कारण
कटा–पिटा दीखता रास्ता।"[146]

संस्कृत काव्य की विशेषता थी कि जो काव्य छंदोबद्ध होगा उसी कविता में लयात्मकता होगी। हिंदी कविता की परंपरा में कुछ दूर तक चलने के बाद छायावाद में छंदों की परिपाटी टूट जाती है और कविता का रूप मुक्त छंद हो जाता है। निराला ने तो मुक्त छंद की कविता करने पर पूरा जोर दिया और अंततः वह सफल भी हुए। फिर भी कविता में लय तब भी बनी रही और प्रगतिवादी काव्य में जैसे छंद का तो लोप हो गया, एक दो कवियों को छोड़कर बाकी सभी कवि छंद से मुक्त हो गये। प्रगतिशील कवियों की कविता में कहीं छंद आया भी तो छंद बद्ध कविता करने के लिए कवि को माथा–पच्ची नहीं करनी पड़ी। इन कवियों का काव्य–धर्म लोक–जीवन का उद्‌घाटन करना था। अब उसके बाद कविता में छंद की अभिव्यक्ति है तो वह स्वाभाविक रूप से, परंतु इन कवियों ने लोक धुनों का पूरा–पूरा ख्याल रखा। चाहे वह गीत हो या कविता सभी

ने लगभग लोक लय का ध्यान रखा है। इन्हीं अर्थों में – नागार्जुन, त्रिलोचन, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल व शमशेर विशिष्ट कवि बन जाते हैं।

डा. नामवर सिंह ने लिखा है कि– "व्यक्ति का अपना भाषा–संसार ही अनुभव संसार है, इसलिए अनुभव संसार के विस्तार के भाषा–संसार का प्रसार अनिवार्य शर्त है।"[147] उक्त संदर्भ में बात प्रगतिशील कवियों के साथ जोड़कर की जाए तो इन कवियों का अपना भाषा–संसार व अनुभव का संसार दोनों इतने व्यापक पैमाने पर है कि दूसरे कवि इनके आस–पास ठहरते भी नहीं हैं; क्योंकि इन्होंने लोक–जीवन की भाषा के नब्ज को पकड़ा है। इन कवियों की भाषा में मानवीय संबंधों की व भविष्योन्मुखी दृष्टि की पुकार है। भाषा ना अलंकार से बोझिल है, ना छंद विधान से अगर कहीं कविता में अलंकार व छंद आये हैं तो कविता में बोझिल बनकर नहीं बल्कि सहज रूप से उपस्थित हैं। जैसे उदाहरण के लिए नागार्जुन की कविता को लिया जा सकता है –

"चंदू मैंने सपना देखा, उछल रहे तुम ज्यों हिरनौटा
चंदू मैंने सपना देखा, अमुआ से हूँ पटना लौटा
चंदू मैंने सपना देखा, तुम्हें खोजती बद्री बाबू
चंदू मैंने सपना देखा, खेल–कूद में हो बेकाबू।"[148]

उपरोक्त कविता में नागार्जुन ने लोक–छंद व लोक–लय का पूरा ध्यान रखा है। प्रगतिशील कवियों की विशेषता है कि चाहे नागार्जुन हों या त्रिलोचन, या फिर केदारनाथ अग्रवाल सभी ने लोक–छंदों व लोकलय का पूरा–पूरा ध्यान रखा है। एक अन्य कविता है नागार्जुन की 'तीन दिन तीन रात' जिसमें बातचीत के लय का आदर्श रूप सामने आता है –

"बस सर्विस बंद थी / तीन दिन, तीन रात
लगता था, जन जन की / हृदय गति मंद थी
तीन दिन तीन रात / प्राचार्य, जिलाधीश, एस.पी
रहे सब परेशान / तीन दिन, तीन रात

बस सर्विस बंद थी / तीन दिन, तीन रात।"[149]

प्रगतिशील कवि छंदों विधान के प्रति काफी सजग रहे हैं। लोक–लय–आल्हा, लावनी जैसे रूपों को अपनाया, इन्हीं रूपों से इन कवियों की भाषा बातचीत की भाषा बन गयी। इन्होंने भाषा को आदर्श गुण माना है, व्यक्तियों के बीच संप्रेषण होने वाली भाषा को अपनी कविता में भाषा के सभी हथियारों से सुसज्जित किया है। अलंकार, बिम्ब, प्रतीक ये सभी हथियार भाषा की सादगी के साथ कविता में उपस्थित होते हैं। मुक्तिबोध ने 'अंधकार' को अचेतन का प्रतीक माना है, चंबल की घाटी, 'अंधेरे में, 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', में अंधेरा अचेतन के रूप में आया है जैसे उदाहरण दृष्टव्य है –

"चिंता हो गयी, कविता को पढ़ते ही
उसमें से अंधेरे का भभकारा उमड़ा / तिलमिला, आत्मा
चित्रमयी अजंता की गुहा जैसी होती गयी।"[150]

मुक्तिबोध की काव्य–भाषा को समझने के लिए उनके मानसिक संसार से गुजरना होगा, तभी मुक्तिबोध को व उनके काव्य–सृजन की भाषा को समझा जा सकता है; नहीं तो कठिनाई का सामना करना होगा; उनकी कविता को समझने के लिए। भाषा में अंग्रेजी शब्द, उर्दू शब्द, मराठी, तत्सम्, तद्भव शब्दों का सागर सा उमड़ पड़ा है। कहीं–कहीं पर कविता में लोक–मुहावरों का भी प्रयोग किया गया है। लोक–मुहावरों में नागार्जुन, त्रिलोचन केदार भी पीछे नहीं रहे। कवियों के लिए भाषा के माध्यम से वास्तविक जीवन–जगत की खोज है, जो यथार्थ की भूमि पर आधारित है। इन कवियों की भाषा अनुभूति की लय एवं लहजे का अनुसरण करती है, हालांकि छायावादी कवियों की तुलना में प्रगतिशील कवियों की कविता नाद–मधुर व संगीतमय कम हैं। अज्ञेय ने भी काव्य–भाषा को संस्कारी, चिकनी, नाद–मधुर तथा परिष्कृत बनाया है, परंतु अज्ञेय का अधिकतर जोर रूप विधान पर ही रहा है; जबकि छायावादी काव्य–भाषा लोक–जीवन के समीप आती हैं जिस

लोक काव्य भाषा की परिणति प्रगतिशील काव्य भाषा में देखने को मिलती हैं, चाहे उसमें लयात्मकता का अभाव हो या फिर छंदो विधान का। जैसा लोक–जीवन उबड़–खाबड़ होता है उसी प्रकार की कवियों ने काव्य–भाषा का प्रयोग किया, यह भाषा कवि की अनुभव की काव्य–भाषा है। लोक–जीवन की लोक शब्दों में अभिव्यक्ति कला का उत्कृष्टतम रूप होता है। रूप और कथ्य के सामंजस्य ने प्रगतिशील कविता ने अपना अहम् मुकाम हासिल किया है। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, मुक्तिबोध व शमशेर के काव्य–भाषा का रचना–विधान ऐसा है जो हमेशा अमर रहेगा और अविस्मरणीय भी।

संदर्भ संकेत

---

[1] दूधनाथ सिंह – निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ.82

[2] बच्चन सिंह – हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ.360

[3] भाषा 'पत्रिका', (त्रैमासिक, जून, 2006) पृ.12

[4] आधुनिक कवि – केदारनाथ अग्रवाल, पृ.1

[5] मुक्तिबोध – रचनावली–1, (सं. नेमिचंद्र जैन), पृ.344

[6] रामविलास शर्मा – नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ.140

[7] आजकल, (सितंबर, 1973), पृ9

[8] गोबिन्द प्रसाद – कविता के सम्मुख, पृ.82

[9] त्रिलोचन – अरघान, पृ.11

[10] बच्चन सिंह – हिंदी साहित्य दूसरा इतिहास, पृ.420–21

[11] वही, पृ.414

[12] नागार्जुन – रचना, प्रसंग और दृष्टि (सं. रामनिहाल गुंजन), पृ.44

[13] अजय तिवारी – नागार्जुन की कविता, पृ.180–81

[14] रामविलास शर्मा – नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ.143

[15] वही, पृ.155

[16] नामवर सिंह – कविता के नए प्रतिमान, पृ.97

[17] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.101

[18] रामविलास शर्मा – नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ.155

[19] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.7

[20] वही, पृ.104

[21] वही, पृ.63

[22] रामविलास शर्मा – नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ. 154

[23] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.10

[24] त्रिलोचन – अरघान, पृ.11

[25] त्रिलोचन – किंवदंती पुरुष, पृ.212

[26] वही, पृ.214

[27] गोबिन्द प्रसाद – कविता के सम्मुख, पृ.105

[28] त्रिलोचन – धरती, पृ.78

[29] वही, पृ.6–7

[30] त्रिलोचन – दिगंत, पृ.19

[31] वही, पृ.2

[32] त्रिलोचन – अरघान, पृ.13

[33] गोबिन्द प्रसाद – कविता के सम्मुख, पृ.114

[34] वही, पृ.114

[35] त्रिलोचन – तुम्हें सौंपता हूँ, पृ.74

[36] त्रिलोचन – ताप के ताए हुए दिन, पृ.66

[37] वही, पृ.61

[38] त्रिलोचन – गुलाब और बुलबुल, पृ.69

[39] विजय बहादुर सिंह (सं.), जनकवि, पृ.33

[40] वही, पृ.33

[41] वही, पृ.35

[42] मधुछन्दा – श्रम का सौंदर्य और केदारनाथ अग्रवाल का काव्य, पृ.141

[43] रामविलास शर्मा – नयी कविता में अस्तित्ववाद, पृ.53

[44] केदारनाथ अग्रवाल – आत्मगंध, पृ.130

[45] मुक्तिबोध – नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, पृ.25

[46] नामवर सिंह – कविता के नये प्रतिमान, पृ.118

[47] मुक्तिबोध – चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ.29

[48] वही, पृ.149

[49] वही, पृ.213

[50] वही, पृ.47

[51] वही, पृ.51

[52] मौर्य – मुक्तिबोध की काव्य भाषा, पृ.319

[53] बच्चन सिंह – हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ.432

[54] रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ.204

[55] रामविलास शर्मा – नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ.100

[56] गोबिन्द प्रसाद – कविता के सम्मुख, पृ.41

[57] वही, पृ.41

[58] रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ.207

[59] शमशेर – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.101

[60] वही, पृ.45

[61] वही, पृ.181

[62] वही, पृ.62

[63] वही, पृ.43

[64] वही, पृ.6

[65] वही, पृ.38

[66] बच्चन सिंह – आलोचना के बीज शब्द, पृ.76

[67] वही, पृ.77

[68] नगेन्द्र – काव्य–बिम्ब, पृ.5

[69] चंचल चौहान – प्रतिबद्ध कला के प्रतीक, पृ.23

[70] निर्मला जैन – पाश्चात्य साहित्य, चिंतन, पृ.169

[71] वही, पृ.190

[72] निर्मला जैन – आधुनिक हिंदी–काव्य : रूप और संरचना, पृ.66

[73] रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ.124

[74] मुक्तिबोध – चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ.37

[75] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.28

[76] गोबिन्द प्रसाद – कविता के सम्मुख, पृ.66

[77] कैसिरस – लैंग्वेज एण्ड मिथ, पृ.12

[78] शमशेर – कुछ और कविताएँ, पृ.75

[79] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.93

[80] शमशेर बहादुर सिंह – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.20

[81] वही, पृ.104

[82] वही, पृ.105

[83] नामवर सिंह – कविता के नये प्रतिमान, पृ.122

[84] शमशेर बहादुर सिंह – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.102

[85] वही, पृ.162

[86] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ, (सं. नामवर सिंह), पृ.35

[87] शमशेर बहादुर सिंह – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.45

[88] 'पहल' पत्रिका, अंक–30, 1986, पृ.23

[89] केदारनाथ अग्रवाल – गुल मेंहदी, पृ.19

[90] केदारनाथ अग्रवाल – मार प्यारें की थापें, पृ.50

[91] मुक्तिबोध – चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ.47

[92] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.63

[93] वही, पृ.83

[94] शमशेर– प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.47

[95] केदारनाथ अग्रवाल – गुलमेंहदी – युग की गंगा, पृ.66

[96] त्रिलोचन – अरघान, पृ.43

[97] निर्मला जैन – पाश्चात्य साहित्य चिंतन, पृ.98

[98] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.63

[99] वही, पृ.69

[100] वही, पृ.62

[101] नागार्जुन – रचना, प्रसंग और दृष्टिं (सं. रामनिहाल गुंजन), पृ.33

[102] केदारनाथ अग्रवाल – फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ.98

[103] केदारनाथ अग्रवाल – आधुनिक कवि, पृ.1

[104] सापेक्ष (सं. महावीर अग्रवाल), अंक–34, पृ.302

[105] केदारनाथ अग्रवाल – फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ.64

[106] केदारनाथ अग्रवाल – आत्मगंध, पृ.25

[107] केदारनाथ अग्रवाल – फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ.26

[108] केदारनाथ अग्रवाल – गुलमहेंदी, पृ.122

[109] केदारनाथ अग्रवाल – कहें केदार खरी–खरी, पृ.128

[110] मैनेजर पाण्डेय – अनभै साँचा, पृ.113

[111] वही, पृ.128

[112] अर्थात्त, मई, 1975, पृ.2

[113] श्रीकांत वर्मा – जिरह, पृ.39

[114] आजकल – सितंबर, 1973, पृ.9

[115] त्रिलोचन – फूल नाम है एक, पृ.31

[116] गोबिन्द प्रसाद – कविता के सम्मुख, पृ.114

[117] समकालीन भारतीय साहित्य, अंक–116, नवंबर–दिसंबर, 2004

[118] त्रिलोचन – ताप के ताए हुए दिन, पृ.58

[119] त्रिलोचन – फूल नाम है एक, पृ.31

[120] नामवर सिंह – कविता के नये प्रतिमान, पृ.111

[121] वही, पृ.111

[122] महेश भटनागर – गजानन माधव मुक्तिबोध जीवन और काव्य, पृ.74

[123] रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ.204

[124] गोबिन्द प्रसाद – कविता के सम्मुख, पृ.

[125] शमशेर – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.101

[126] वही, पृ.39

[127] वही, पृ.102

[128] वही, पृ.113

[129] वही, पृ.114

[130] वही, पृ.43

[131] प्रभाकर श्रोत्रिय – कविता की तीसरी आँख, पृ.42

[132] वही, पृ.42

[133] निर्मला जैन – पाश्चात्य साहित्य चिंतन, पृ.100

[134] प्रभाकर श्रोत्रिय – कविता की तीसरी आँख, पृ.44

[135] त्रिलोचन – ताप के ताए हुए दिन, पृ.80

[136] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.46

[137] वही, पृ9

[138] वही, पृ.102

[139] वही, पृ.104

[140] शमशेर – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.113

[141] वही, पृ.72

[142] त्रिलोचन – ताप के ताए हुए दिन, पृ.40

[143] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.136

[144] केदारनाथ अग्रवाल – फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ.26

[145] मुक्तिबोध – चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ.230

[146] वही, पृ.212

[147] प्रभाकर श्रोत्रिय – कविता की तीसरी आँख, पृ.10

[148] नागार्जुन – प्रतिनिधि कविताएँ (सं. नामवर सिंह), पृ.46

[149] वही, पृ.106

[150] मुक्तिबोध – चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ.230

उपसंहार

उपसंहार

लोक शब्द से हमारा तात्पर्य शास्त्र से नहीं हैं, बल्कि आम जनता से है। पहले लोक शब्द से सभ्यता से दूर रहने वाली किसी जाति का बोध होता था। लेकिन प्रचलन के कारण इसका स्वरूप व्यापक हो गया। आज भी ग्रामीण जनता अपनी रोजी–रोटी की तलाश में एक जगह से दूसरी जगह जाती हैं तो उनके संस्कार एवं मान्यताएँ साथ ही रहती है। गरीब लोग चाहें वे शहर में रहते हों या गाँव में रहते हों अपनी पुरातन स्थिति में वर्तमान हैं। वे क्लासिक सभ्यता से दूर अपनी आदिम अर्थात् अपनी पुरातन मान्यताओं के आधार पर अपने जीवन को आधारित रखते हैं। इनके 'लोक' का ना कोई लिखित दस्तावेज होता है ना कोई इनकी स्वतंत्रता को बाँधने वाला बंधन होता है। जो लोग संस्कृत तथा परिष्कृत लोगों से दूर अपनी पुरातन स्थिति में वर्तमान है उन्हें लोक की संज्ञा प्राप्त है।

लोक–जीवन में पूँजीवादी समाज के निर्मित मूल्यों का कोई स्थान नहीं होता है; बल्कि उनका लोक–जीवन स्वतः स्फूर्त होता है, जो सहजता उस समाज के रीति–रिवाजों, गीतों और सामाजिक मानसिकता में निहित है। परन्तु लोक–साहित्य को इतने ही संकुचित दायरें में कैद नहीं किया जा सकता। लोक का अपना बहुत ही व्यापक क्षेत्र है, क्योंकि आधुनिक युग में पायी जाने वाली सभ्य से सभ्य जाति का भी अपना लोक होता है। वह किसी न किसी रूप में आज भी विद्यमान है। जो प्राचीन समय में लोग अपने को आधुनिक समझते हैं वह उसी प्राचीन समाज का अंग है; जो असभ्य समझा जाता था, परन्तु समय परितर्वनशील है। इस सभ्य कहलाने वाली जाति ने समय के साथ–साथ रहन–सहन, खान–पान और तौर–तरीके बदल लिये, परन्तु अपनी पुरातन स्थिति से आज भी किसी न किसी रूप में जुड़े हुए हैं, चाहे वह गौत्र की मान्यता हो या फिर धार्मिक रूप। आज भी ऐसे उच्च वर्ग हैं जिसको क्लासिक क्लचर कहा जाता है। अपनी देवी–देवता के प्रति आस्थावान है जो लोक विशेष पर आधारित है। इसलिए लोक का अर्थ सामान्यतः ग्रामीण जन–जीवन से ही नहीं लिया जाना चाहिए, बल्कि वे सभी लोग हैं जो शहरी या ग्रामीण अपनी पुरातन स्थिति से किसी न किसी रूप

से जुड़ा हुआ है। मजदूर अथवा आम-जन शहर में भी है और ग्राम में भी इसलिए 'लोक' को व्यापक अर्थ में ही देखना तर्क–संगत होगा। लोक का अर्थ ग्रामों और शहरों में फैली हुई समूची जनता है। इसी लोक की चिंता को हिन्दी कवियों ने अपना साध्य बनाया। हिन्दी कविता में लोक–चित्रण आदिकालीन कविता से ही रहा है। हिन्दी कविता सामान्य मानवता की विरोधी कभी नहीं रही है। वह हमेशा जनता की पक्षधरता में खड़ी है। हालाँकि सभी कवियों के बारे में ऐसा सत्य नहीं है। फिर भी अमूमन हिन्दी कविता समाज की अभिव्यक्ति है। वह सामान्य मानवता के समर्थन में हमेशा साथ रही है। विशेषकर जब हम प्रगतिशील कविता के बारे में बात करते हैं तो यह बात और भी सत्य है।

प्रगतिशील कवियों की तो कर्म–भूमि ही लोक का यर्थाथ चित्रण करना है। इन कवियों का प्रमुख प्रयोजन आम–जन के सुख–दुःख का चित्रण करना रहा है। ये कवि देश की आजादी के साथ–साथ किसानों और मजदूरों के अधिकारों और उनकी सुख–सुविधाओं के लिए भी चिंतित थे। जहाँ छायावाद सांस्कृतिक नवजागरण की अभिव्यक्ति था वही प्रगतिवाद राजनीतिक और आर्थिक चेतना लिए हुए था। प्रगतिवादी युग में महत्वपूर्ण प्रश्न था कि साहित्य किसके लिए लिखा जाए। जब कवि या साहित्यकार की चिंता साहित्य को लेकर होने लगी तो जाहिर है कि इन कवियों ने साहित्य को समाज का दर्पण माना। इसलिए प्रगतिवादी कवियों ने साहित्य को कुलीनता के दायरे से निकालकर निम्न वर्ग, किसान–मजदूर से जोड़ दिया और इस तरह प्रगतिशील कवियों के काव्य में किसान–मजदूर को केन्द्रीय स्थान मिला। प्रगतिशील कविता के पूर्व भी किसान–मजदूर अपनी उपस्थिति काव्य में दर्ज कराता रहा है। परन्तु प्रगतिवादी कविता के केन्द्र में यह वर्ग पूर्णतः आ गया। इस वर्ग की नवीन समस्याओं का पहली बार काव्य में व्यापक रूप से उठाया गया और काव्य की संवेदना निम्न श्रेणी की जनता से जुड़ गयी। निम्न वर्ग की समस्याओं को निम्न वर्ग की भाषा में कह देना इन कवियों की सबसे बड़ी देन है।

प्रगतिशील कवियों की संवेदना आधुनिकता से परिपूर्ण है। उसमें एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण, ऐतिहासिक चेतना, समाज का यथार्थ चित्रण, प्रकृति को समाज से जोड़कर देखना बदलते समय में मानव–मूल्यों की बात स्वार्थ के संकुचित दायरे से बाहर निकलना इन कवियों का घोषित उद्देश्य है। जब हम लोक–साहित्य की बात करते हैं तो लोक–साहित्य में ऐतिहासिक चेतना, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव पाया जाता है। लोक–साहित्य में सामूहिक संवेदना तो होती है, परन्तु उसमें अंधविश्वास, धर्म, आस्था, रीति–रिवाज, परम्पराएँ सभी के प्रति लगाव होता है। जबकि प्रगतिशील कवियों ने लोक–जीवन का चित्रण मूलभूत अधिकारों के संदर्भ में किया। लोक–साहित्य में दृष्टि का अभाव पाया जाता है जबकि प्रगतिशील कविता एक दृष्टि को लेकर चलती है, जिससे सामान्य मानवता के अधिकारों की रक्षा हो सके। प्रगतिशील कविता यहीं पर लोक–साहित्य से अपना पार्थक्य स्पष्ट कर लेती है।

प्रगतिशील कवियों की काव्य–प्रक्रिया सामान्य लोक के करीब है। यहाँ तक की इन कवियों की भाषिक संवेदना लोक में ही रची–बसी है। प्रगतिशील कवियों की काव्य–प्रक्रिया काल के अनुसार संवेदना के स्तर पर बदलती जाती है। चाहे नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल या मुक्तिबोध सभी के काव्य में लोक–जन का यर्थाथ चित्रण मिलता है। प्रगतिवादी स्वर अपने यथार्थवादी दर्शन के कारण बहुचर्चित एवं जीवन के प्रति सही मान्यता को प्रदान करने वाला सिद्ध हुआ।

सामान्यतः 'लोक' शब्द की अभिव्यंजना आम जन–जीवन की आशा–आकांक्षाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति को दर्शाता है किन्तु प्रगतिशील कविता में लोक–जीवन का परिवेश व्यापक है। एक मानवतावादी विचारधारात्मक दृष्टि लिए हुए प्रगतिशील कविता केवल जन–जीवन की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है; बल्कि इसमें जीवन का संघर्ष है, भविष्य की चिन्ताओं से मुठभेड़ भी। लोक–जीवन के वृहत्तर परिवेश को आत्मसात किये हुए प्रगतिवादी कविता साम्राज्यवाद बनाम् पूँजीवाद के क्रान्ति का आह्वान है और और जन–जीवन की निकटता एवं मार्मिकता से ओत–प्रोत एक गहन जीवन दृष्टि है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्रगतिशील कविता में सामाजिक यथार्थ का प्रतिबिम्ब एवं सामाजिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया, प्रगतिवादी काव्य की एक ऐसी उपलब्धि है जिसमें काल और समाज का पूर्ण चित्रण साक्षी बनकर प्रगतिशील साहित्य को सर्वाधिक सजग साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित करता है। लोक जीवन के व्यापक आयाम को ग्रहण करके प्रगतिशील कविता विभिन्न सामाजिक–आर्थिक वर्गों एवं नाना स्तरों के चित्रण के साथ–साथ सामाजिक संगठनों और इकाइयों की समस्याओं, संघर्षों का चित्रण करती है, तीव्र औद्योगिकीकरण के खिलाफ प्रकृति प्रेम की आत्मीयतापूर्ण भूमि का सृजन करती है। इसी सन्दर्भ में प्रगतिशील कविता साहित्य में चली आ रही साहित्यिक परम्परा से अपने को एकदम पृथक् कर लेती है। यही प्रगतिशील कवियों का वैशिष्ट्य रहा है और इसी प्रगतिशील हिन्दी कविता के लोक–जीवन के वृहत्तर परिवेश को परत–दर–परत खोलना मेरा शोध का उद्देश्य रहा है। निःसंदेह प्रगतिशील हिन्दी कविता में अभिव्यक्त लोक–जीवन राग और फाग का अद्भुत समन्वय है; जन–जीवन को देखने, महसूस करने एवं अभिव्यक्त करने की एक नवीन दृष्टि हे; सर्वहारा के लिए एक सार्थक भविष्य की अभिलाषा है, तो क्रांति का नशा भी; साथ ही युग की जाग्रत चेतना भी। चेतना के इसी लोक जीवन के परिप्रेक्ष्य को, उसकी संपूर्ण व्यापकता में मैंने प्रगतिशील हिन्दी कवियों के संदर्भ में, विवेचित–विश्लेषित करने का प्रयास किया है।

आधार ग्रंथ

आधार ग्रंथ

1. केदारनाथ अग्रवाल – नींद के बादल, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–1947

2. केदारनाथ अग्रवाल – फूल नहीं रंग बोलते हैं, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण–1970

3. केदारनाथ अग्रवाल – गुल मेंहदी, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–1978

4. केदारनाथ अग्रवाल – कहें केदार खरी–खरी, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–1983

5. केदारनाथ अग्रवाल – बम्बई का रक्त स्नान, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–1983

6. केदारनाथ अग्रवाल – जो शिलाएँ तोड़ते हैं, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण–1984

7. गजानन माधव मुक्तिबोध– चाँद का मुँह टेढ़ा है, प्रकाशन : भारतीय ज्ञानपीठ, 18 लोदी रोड, नई दिल्ली–03, संस्करण–1998

8. शमशेर – कुछ कविताएँ, प्रकाशकः जगत शंखधर, वाराणसी, प्रथम संस्करण–1959

9. शमशेर – कुछ और कविताएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–02, संस्करण–1961

10. शमशेर – चुका भी हूँ नहीं मैं, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली–02, प्रथम संस्करण–1975

11. शमशेर – इतने पास अपने, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–02, संस्करण–1980

12. शमशेर – उदिता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–02, संस्करण–1980

13. शमशेर – बात बोलेगी, सम्भावना प्रकाशन, हापुड़, संस्करण–1981

14. शमशेर – काल तुझसे होड़ है मेरी, वाणी प्रकाशन, नई दिलली–02, संस्करण–1988

15. शोभाकान्त – (सं.), नागार्जुन रचनावली, भाग–1 एवं भाग–2, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–02, संस्करण–2003

16. त्रिलोचन – धरती, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, दूसरा संस्करण–1977

17. त्रिलोचन – शब्द, वाणी प्रकाशन, नई दिलली–02, संस्करण–1980

18. त्रिलोचन – ताप के ताए हुए दिन, संभावना प्रकाशन, हापुड़, संस्करण–1980

19. त्रिलोचन – उस जनपद का कवि हूँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली–02, संस्करण–1981

20. त्रिलोचन – अरघान, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–1983

21. त्रिलोचन – तुम्हें सौंपता हूँ, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–1985

22. त्रिलोचन – सबका अपना आकाश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–02

23. त्रिलोचन – अनकहनी भी कुछ कहनी है, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली–02, संस्करण–1987

24. त्रिलोचन – अमोला, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–02, प्रथम संस्करण–1987

25. त्रिलोचन – दिगन्त, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–02, संस्करण–1987

संदर्भ ग्रंथ

संदर्भ ग्रंथ

अरगड़े, रंजना – **कवियों के कवि शमशेर**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण,

अज्ञेय – **दूसरा सप्तक**, प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1951

अज्ञेय – **तार सप्तक**, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम पेपर बैक, संस्करण, 2000

अदोरात्सकी, वी. – **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद**, राहुल फाउण्डेशन, निशांतगंज, लखनऊ, द्वितीय संस्करण, फरवरी, 2003

अवस्थी, रेखा – **प्रगतिवाद और समांतर साहित्य**, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण (संशोधित), 2000

अवस्थी, ओम् – **रचना प्रक्रिया**, राष्ट्रीय भाषा संस्थान, दिल्ली, संस्करण, 1985

उपाध्याय, कृष्णदेव – **लोक–साहित्य की भूमिका**, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1975

उपाध्याय, विश्वम्भरनाथ – **समकालीन मार्क्सवाद**, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, संस्करण, 1987

एंगेल्स, मार्क्स – **साहित्य और कला**, प्रगति प्रकाशन, मास्को, संस्करण, 1981

एंगेल्स, मार्क्स – **ऑन लिटरेचर एण्ड आर्ट**, प्रगति प्रकाशन, मास्को, संस्करण, 1981

कृष्णदास – **लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या**, साहित्य भवन लि., इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1956

कृष्णदेव उपाध्याय – **लोक संस्कृति की रूपरेखा**, साहित्य भवन प्रा.लि., इलाहाबाद, संस्करण, 1998

कुमार अंजनी – **नयी कविता की भूमिका**, शारदा प्रकाशन, अंसारी रोड़, दरियागंज, दिल्ली, संस्करण,

कुमार, विमल – **छायावाद का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन**, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1978

कुमार, जगदीश – **शमशेर कविता लोक**, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1986

कुमार, अजीत – **कविता के प्रति संसार**, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 1962

गोदरे, विनोद – **छायावादोत्तर हिंदी प्रगति**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1974

गौतम, दत्त लक्ष्मण (सं.) – **मुक्तिबोध : व्यक्ति, अनुभव और अभिव्यक्ति,** नया साहित्य केंद्र, सोनिया बिहार, दिल्ली, संस्करण, 2001

गुप्त, मत्मथनाथ – **प्रगतिवाद की रूपरेखा**, आत्मा राम एण्ड संस, दिल्ली, संस्करण, 1952

गुप्त, विश्वम्भरदयाल – **साहित्य का समाजशास्त्र : अवधारणा सिद्धांत तथा पद्धति**, सीता प्रकाशन, हाथरस, प्रथम संस्करण, 1982

गुप्त, जगदीश – **नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ,** भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 1967

घोष, श्यामसुंदर – **लोक–साहित्य विविध प्रसंग**, साहित्य संगम, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1995

घोष, सुंदर – **लोक–साहित्य के विविध प्रसंग**, साहित्य संगम, इलाहाबाद संस्करण, 1995

चंद्र, बिपिन – **भारत का स्वतंत्रता संघर्ष**, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, तेरहवाँ पुनर्मुद्रण, 1996

चंद्र, बिपिन, मुखर्जी, मृदुला एवं मुखर्जी, आदित्य – **आजादी के बाद का भारत (1947–2000)**, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, 2002

चंद्रा, सतीश – **मध्यकालीन भारत, भाग–1, 2,** जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2001

चारूमित्र द्वारिका प्रसाद – **नयी कविता और मानववाद**, अप्रतिम प्रकाशन, बी–206, सादतपुर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1991

चौहान, कर्ण सिंह – **आलोचना के मान,** स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 2001

चौहान, कर्ण सिंह – **आलोचना के नए प्रतिमान**, स्वराज प्रकाशन, रोहिणी, दिल्ली, संस्करण 2001

चौहान, शिवदान सिंह – **साहित्य की समस्याएँ**, आत्मा राम एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1959

चौहान, चंचल – **मुक्तिबोध के प्रतीक और बिंब**, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1997

चौहान, चंचल – **मुक्तिबोध : प्रतिबद्ध कला के प्रतीक**, पांडुलिपि प्रकाशन, संस्करण, 1976

चक्रधर अशोक – **मुक्तिबोध की कविताई**, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1998

चक्रधर अशोक – **मुक्तिबोध की समीक्षाई**, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1998

चतुर्वेदी, रामस्वरूप – **हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास**, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 1996

चतुर्वेदी, रामस्वरूप – **सर्जन और भाषिक संरचना**, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1980

चतुर्वेदी, जगदीश (सं.) – **आधुनिक हिंदी कविता**, मैकमिलन कंपनी इंडिया, दिल्ली, संस्करण, 1975

जोशी, ज्योति – **आलोचना की छवियाँ**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1996

जेम्स, सी. के. – **सामाजिक यथार्थ के चितेरे कवि नागार्जुन और धूमिल**, सार्थक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1998

जैन, निर्मला – **आधुनिक हिंदी काव्य रूप और संरचना**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1982

जैन, निर्मला (सं.) – **साहित्य का समाजशास्त्रीय**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1986

जैन, निर्मला (सं.) – **अंतस्तल का पूरा विप्लव : अंधेरे में**, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1994

जैन, निर्मला (सं.)– **रामचंद्र शुक्ल : प्रतिनिधि संकलन**, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2003

झा, द्विजेंद्र नारायण – **प्राचीन भारतः आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल**, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, विजय चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2000

तिवारी अजय – **प्रगतिशील कविता के सौंदर्य मूल्य**, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1984

तिवारी अजय – **केदारनाथ अग्रवाल** (संकलन एवं सपादन), परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1986

तिवारी अजय – **नागार्जुन की कविता**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1984

तिवारी, बलभद्र एवं मिश्र भागीरथ – **आधुनिक हिंदी काव्य**, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, संस्करण, 1973

तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद – **मुक्तिबोध**, ज्ञानभारती प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 1986

तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद – **समकालीन कविता**, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 1982

तिवारी, अजय – **समकालीन कविता और कुलीनतावाद**, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1994

तिवारी, अजय (सं.) – **केदारनाथ अग्रवाल**, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1986

दुबे, श्यामाचरण – **परंपरा इतिहास बोध और संस्कृति**, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1991

दुबे, लक्ष्मीकांत – **रामकाव्य के प्रगतिशील आयाम**, सत्येंद्र प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1982

देसाई, बापूराव, **लोक–साहित्यशास्त्र**, विकास प्रकाशक, विश्व बैंक बर्रा–कानपुर, प्रथम संस्करण, 2004

द्विवेदी, हजारी प्रसाद – **हिंदी साहित्य का उद्‌भव एवं विकास**, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1985

द्विवेदी, हजारी प्रसाद – **हिंदी साहित्य का आदिकाल**, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण, 2002

द्विवेदी, वीरेन्द्रनाथ – **आधुनिक हिंदी कविता में लोकतत्व**, विद्या प्रकाशन, गोविंद नगर, कानपुर, प्रथम संस्करण, 1991

नकछेद – **समकालीन कविता में जनवादी चेतना**, संजय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1980

नारायण, बद्री – **लोक संस्कृति और इतिहास**, कथ्यरूप पुस्तिका, इलाहाबाद–6

नागर, नरोत्तम (अनु.) – **दर्शन, साहित्य और आलोचना**, परिकल्पना प्रकाशन, निराला नगर, लखनऊ, पहला पुनर्मुद्रण, फरवरी, 2004

नागर, अमृतलाल – **साहित्य और संस्कृति**, राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, संस्करण, 1986

नागार्जुन एवं धूमिल – **सामाजिक यथार्थ के चितेरे कवि**, सार्थक प्रकाशक, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1998

नवल नंद किशोर – **हिंदी आलोचना का विकास**, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1981

नवल, किशोर – **कविता की मुक्ति**, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1980

नवल, नंदकिशोर – **मुक्तिबोध : ज्ञान और संवेदना**, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1993

नगेन्द्र – **आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1962

नगेन्द्र (सं.) – **हिंदी साहित्य का इतिहास**, मयूर पेपर बैक्स, ए–95, सेक्टर–5, नोएडा, 1998

पंत, सुमित्रानंदन – **ग्राम्या**, लोकभारती प्रकाशन, दसवा संस्करण, 1986

पीयूष, जगदीष – **लोक–साहित्य : सरस प्रसंग**, सुभद्रा प्रकाशन, क्यू–22, नवीन शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1981

पाण्डेय, मैनेजर – **साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका**, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, प्रथम संस्करण, 1989

पाण्डेय, मैनेजर – **साहित्य और इतिहास दृष्टि**, पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली,

पाण्डेय, नारायण, – **साहित्य और लोक–साहित्य**, शांति प्रकाशन, पुराना बैरहना, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1990

पामदत्त, रजनी – **आज का भारत**, मैकमिलन, दिल्ली, संस्करण, 1977

प्रधान, सुधी – **मार्क्सिस्ट कल्चरल मूवमेंट इन इंडिया**, नेशनल बुक एजेंसी, कलकत्ता, संस्करण, 1979

प्रसाद सुरेन्द्र – **हिंदी की प्रगतिवादी कविता**, चित्रलेखा प्रकाशन, 170 अलोपी बाग, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1985

प्रसाद, विश्वनाथ (सं.) – **रामविलास शर्मा**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1985

प्रसाद, राजेंद्र – **तारसप्तक के कवियों की समाज चेतना**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989

प्रसाद, गोबिन्द – **कविता के सम्मुख**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002

प्रसाद, गोबिन्द – **कविता के सम्मुख**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002

प्रसाद, गोबिन्द – **त्रिलोचन के बारे में**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1994

फॉक्स, रेल्फ – **उपन्यास और लोक–जीवन**, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण, 1980

बोरा, रामजमल – **हिन्दी आलोचना की पहचान**, कादम्बरी प्रकाशन, 5451, शिव मार्केट, न्यू चंद्रपाल, जवाहर नगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1994

त्रिवेदी, राम प्रकाश – **प्रगतिवादी कविता**, सत्यम प्रकाशन, रामबाग, कानपुर, प्रथम संस्करण

भारती धर्मवीर – **प्रगतिवाद एक समीक्षा**, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1948

भारती, धर्मवीर – **मानव–मूल्य और साहित्य**, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 1960

भारती, धर्मवीर – **प्रगतिवाद एक समीक्षा**, साहित्य भवन लि., प्रयाग, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1948

भारती, धर्मवीर, **प्रगतिवादी एक समीक्षा**, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, संस्करण, 1999

भागवत, दुर्गा – **भारतीय लोक–साहित्य की रूपरेखा**, भूमिका प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली,

माथुर, कमलेश – **लोक–संस्कृति के सोपान**, 16 मालवीय नगर, सी–स्कीम, जयपुर, प्रथम संस्करण, 1998

माथुर, गिरिजा कुमार – **नयी कविता, सीमाएँ और संभावनाएँ**, अमर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1966

मोहन, नरेन्द्र – **साहित्य और सामाजिक संदर्भ**, आदर्श साहित्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1973

मोहन, नरेन्द्र – **आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य** जालंधर संस्कृत भवन, संस्करण, 1970

मालवीय, रामचंद्र – **समीक्षा और मूल्यांकन**, शब्द पीठ प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 1980

मदान, इंद्रनाथ (सं.) – **कविता और कविता**, प्रकाशन साहित्य सहकार, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1979

मुक्तिबोध, गजानन माधव – **नयी कविता का आत्मसंघर्ष**, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण (संशोधित–1983)

मेहता, आशा – **शमशेर का काव्यलोक**, संजय प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण

मैनारिया, मोतीलाल – **राजस्थानी भाषा और साहित्य**, हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, द्वितीय संस्करण,

मल्ल, विजय शंकर – **हिंदी साहित्य में प्रगतिवाद**, सरस्वती मंदिर, बनारस, संस्करण, 1950

मिश्र, शिव कुमार – **मार्क्सवादी साहित्य चिंतन : इतिहास तथा सिद्धांत**, द मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, संस्करण, 1976

मिश्र, शिव कुमार – **आलोचना की परंपरा और आचार्य रामचंद्र शुक्ल**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1986

मिश्र, शिवकुमार – **यथार्थवाद**, मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली, 1975

मिश्र, शिवकुमार – **साहित्य और सामाजिक संदर्भ**, कला प्रकाशन प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1976

मिश्र, पारसनाथ – **मार्क्सवाद और उपन्यासकार**, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 1972

मिश्र, रामदरश – **हिन्दी कविता, तीन दशक**, ज्ञान भारती प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 1979

मिश्र, उमेशचंद्र – **प्रगतिशील काव्य**, ग्रंथम प्रकाशन, कानपुर, 1962

रणजीत – **हिंदी के प्रगतिशील कवि**, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण, 1977

रणजीत – **प्रगतिशील हिन्दी कविता**, पर्णकुटी, पंचवटी, सीतापुर, उत्तर प्रदेश, संस्करण, 1997

रमेशचंद्र मजुमदार, राय चौधरी, दत्त – **भारत का वृहत् इतिहास, भाग–3**, मैकमिलन प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण, 1990

रहबर, हंसराज – **प्रगतिवादी पुनर्मुल्यांकन**, नवयुग प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 1996

राय, महेशचंद्र – **मार्क्सवाद और साहित्य**, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, संस्करण, 1957

राय, लल्लन – **मुक्तिबोध का साहित्य विवेक और उनकी कविता**, मंथन प्रकाशन, रोहत (हरियाणा), संस्करण, 1982

राघव रांगेय – **प्रगतिशील कविता के मानदंड**, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, संस्करण, 1954

राघव, रांगेय – **प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड**, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, प्रथम संस्करण, 1954

राठौर, पुष्पलता – **मुक्तिबोध के आलोचना सिद्धांत**, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, राजस्थान, संस्करण, 1976

राव, पी. आदेश्वर – **काव्य–बिंब, स्वरूप और संरचना**, कालिन्दी कावेरी प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 1998

रोहिताश्व – **समकालीन कविता का मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में**, प्रभा प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 1976

राजकुमार, सैनी – **साहित्य सृष्टि निराला**, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 1995

राजपाल, हुकुमचंद – **समकालीन कविता में मानव–मूल्य**, शारदा प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1993

वर्मा, निर्मल – **कला का जोखिम**, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2001

वर्मा, धीरेन्द्र (सं.) – **हिंदी साहित्य कोष, भाग–1**, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, द्वितीय संस्करण

वाजपेयी, नंद दुलारे – **नये साहित्य नये प्रश्न**, विद्या मंदिर ब्रह्मानाल, बनारस, संस्करण 1955

वाजपेयी, नंद दुलारे – **आधुनिक साहित्य**, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, सं. 2022 वि.

सक्सेना, रामप्रकाशन – **मध्य भारत की लोकगाथा**, सत्य प्रकाशन, उत्तरी घोण्डा, दिल्ली, संस्करण, 1994

सरकार, सुमित – **आधुनिक भारत (1885–1947)**, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, छटी आवृत्ति, 1999

साही, विजयदेव नारायण – **जायसी**, हिंदुस्तान एकेडेमी, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 1993

सीदोरोव, ये. (सं.) – **बीसवीं शताब्दी का साहित्य, भाग–1**, राटुगा प्रकाशन, मास्को, संस्करण, 1987

सिंह नामवर – **इतिहास और आलोचना**, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1990

सिंह नामवर – **कविता के नए प्रतिमान**, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचावाँ संस्करण, 1968

सिंह नामवर – **छायावाद**, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचावाँ संस्करण, 1981

सिंह नामवर – **आधुनिक साहित्य की प्रवृतियाँ**, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 1997

सिंह, काशीनाथ – **आलोचना की रचना**, किताबघर, नई दिल्ली, संशोधित संस्करण, 1996

सिंह, केदारनाथ – **आधुनिक हिंदी कविता में बिम्ब**, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1971

सिंह, विजय बहादुर – **सं. जनकवि**, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण,

सिंह, हौसिला प्रसाद – **प्रगतिशील हिंदी आलोचना की रचना प्रक्रिया**, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1999

सिंह, रणजीत – **गजानन माधव मुक्तिबोध**, सृजन और शिल्प, जय भारत प्रकाशन, इलाहाबाद,

सिंह, रविन्द्रनाथ – **नयी कविता की भाषा**, हिंदी साहित्य संसद, प्रथम संस्करण, 1976

सिंह, शंभूनाथ – **हिंदी काव्य की सामाजिक भूमिका**, चौखम्भा, वाराणसी, संस्करण, 1966

सिंह, शांता – **चंदबरदाई**, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, संस्करण, 2000

सिंह, दूधनाथ – **निराला : आत्महन्ता आस्था**, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, छठवाँ संस्करण, 2004

सिंह, वीरेन्द्र – **बिम्बों में झांकता कवि : शमशेर**, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण,

सिंह, चंद्रबली – **आलोचना का जनपक्ष**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2003

सत्येन्द्र – **मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन**, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, प्रथम संस्करण, 1960

श्रीवास्तव, परमानंद (सं.) – **समकालीन हिंदी आलोचना**, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1998

श्रीवास्तव, जगदीश नारायण – **समकालीन कविता पर एक बहस**, चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 1978

श्रोत्रिय, प्रभाकर – **शमशेर बहादुर सिंह**, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1997

शर्मा रामशरण – **प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ**, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरी आवृत्ति, 2000

शर्मा, ब्रज किशोर – **भारत का संविधान**, प्रेंटिस हॉल ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, संस्करण, 2005

शर्मा, महेंद्र पाल – **आचार्य रामचंद्र शुक्ल की इतिहास–दृष्टि,** राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण

शर्मा, महेन्द्रपाल – **साहित्य चिंतन**, संजय प्रकाशन, अंसारी रोड़ दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2003

शर्मा, निर्मल (सं.) – **मुक्तिबोध**, त्रयी प्रकाशन, धानमण्डी, रतलाम (म.प्र.), प्रथम संस्करण, 1980

शर्मा, हरि – **लोक चेतना और हिंदी कविता**, निर्मल पब्लिकेशंस, ए–139, कबीर नगर, गली नं.3, शाहदरा, दिल्ली, संस्करण 1997

शर्मा, श्रीराम – **लोक–साहित्य स्वरूप और मूल्यांकन**, निर्मल पब्लिकेशन, कबीर नगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1997

शर्मा, श्रीराम – **लोक–साहित्य का सामाजिक सांस्कृतिक अध्ययन**, निर्मल पब्लिकेशंस, ए–139, गली नं.3, 100 फुटा रोड़, कबीर नगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2000

शर्मा, रामविलास – **रूपतरंग और प्रगतिशील कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि**, वाणी प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1996

शर्मा, रामविलास – **मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य**, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 1984

शर्मा, रामविलास – **परंपरा का मूल्यांकन**, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1981

शर्मा, रामविलास – **प्रगति और परंपरा**, किताबमहल, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, 1953

शर्मा, रामविलास – **प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ**, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, प्रथम संस्करण, 1957

शर्मा, रामविलास – **राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य**, मानव भारती प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 1953

शर्मा, रामविलास – **नयी कविता और अस्तित्ववाद**, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 1993

शर्मा, रामविलास – **लोक–जीवन और साहित्य**, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, प्रथम संस्करण, 1953

शर्मा, रामाशरण – **भारतीय सामंतवाद**, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथी आवृत्ति, 2000

शर्मा, देवेन्द्रनाथ – **पाश्चात्य काव्यशास्त्र**, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, पाँचवाँ संस्करण, 1998

शर्मा, जनेश्वर – **हिंदी काव्य में मार्क्सवाद चेतना**, ग्रंथम कानपुर, प्रथम संस्करण, 1974

शर्मा, नरेन्द्र देव – **मुक्तिबोध का काव्य**, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 1979

शुक्ल, रामचंद्र – **चिंतामणि, दूसरा भाग**, सरस्वती मंदिर, जतनवर, काशी, संस्करण, 2002 वि.

शुक्ल, रामनारायण, – **जनवादी समझ और साहित्य**, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, संस्करण, 1985

शुक्ल, ललित – **नया काव्य : नये मूल्य**, मैकमिलन कंपनी लिमिटेड, दिल्ली, संस्करण, 1975

हरदयाल – **समकालीन अनुभव और कविता की रचना प्रक्रिया**, जायसी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 1981

पत्र–पत्रिकाएँ

पत्र-पत्रिकाएँ

आजकल, अक्टूबर, 2005

आलोचना, जुलाई–सितंबर, 1977

आलोचना, सहस्राब्दी, अंक–22, जुलाई–सितंबर, 2005

कृति, अक्तूबर, 1958

नये पत्ते, जनवरी–फरवरी, 1953

पूर्वग्रह, जनवरी–अप्रैल, 1976, नवम्बर–दिसंर, 1987

प्रतीक, जून, 1951

परिषद् पत्रिका, नागार्जुन अंक, दिसंबर, 1999

बहुवचन, अक्टूबर, 2005

समकालीन भारतीय साहित्य, (प्रेमचंद पर विशेष) जनवरी–फरवरी, 2006, जुलाई–सितंबर, 1977

साक्षात्कार, अप्रैल–मई, 1984, अगस्त–नवम्बर, 1986

हंस, अगस्त, 2006

हंस, अक्टूबर, 2006